# पाश्चात्य साहित्यालोचन

# पाश्चात्य साहित्यालोचन

के

सिद्धान्त

श्री लीलाधर गुप्त

हिंदुस्तानी एकेडेमी
उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण : १९५२ : २०००
मूल्य ६)

मुद्रक—महादेव प्रसाद, आज़ाद प्रेस, प्रयाग

अपने परम मित्र और आदरणीय सहयोगी
तथा साहित्यानुरागी

प्रोफ़ेसर सतीशचन्द्र देव एम्० ए०

को

समर्पित

# वक्तव्य

अन्य क्षेत्रों की भाँति आलोचना के क्षेत्र में भी इस विषय के पश्चिमी साहित्यों से हिंदी ने बहुत कुछ ग्रहण किया है और अब भी कर रही है, पर अभी तक पाश्चात्य आलोचना के सिद्धान्तों का कोई प्रामाणिक ग्रंथ प्रकाश में नहीं आया। इसी अभाव की पूर्त्ति के लिए एकेडेमी ने इस ग्रंथ को प्रकाशित किया है।

पुस्तक के विद्वान् लेखक बहुत दिनों से यह विषय प्रयाग विश्वविद्यालय की उच्चतम कक्षाओं में पढ़ाते रहे हैं, अतः आप इस पर लिखने के सर्वथा अधिकारी हैं। पाश्चात्य सिद्धांतों की विवेचना के साथ-साथ तुलनात्मक ढंग से भारतीय सिद्धांतों के दे देने के कारण पुस्तक और भी उपादेय हो गई है।

प्रस्तुत विषय पर पुस्तक लिखवाने के लिए कोर्ट आव् वार्ड्स, फ़तेहपुर, ने एकेडेमी को १२००) दिए थे, जो पारिश्रमिक के रूप में लेखक को भेंट किए गए हैं। हम दाता के प्रति अत्यंत कृतज्ञ हैं।

आशा है पुस्तक एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति करेगी।

हिंदुस्तानी एकेडेमी
उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद
जूलाई, १९५२

धीरेंद्र वर्मा
मंत्री तथा कोषाध्यक्ष

# भूमिका

व्यक्तियों की रुचि भिन्न होती है, प्रवृत्ति भिन्न होती है, उचित और अनुचित का ठीक सब को ज्ञान नहीं रहता है। इसलिये अध्ययन और शिक्षा की आवश्यकता होती है। इस शिक्षा की अपेक्षा सब को रहती है। कुछ विरले लोकोत्तर प्रतिभा रखने वाले होते हैं जिनकी नैसर्गिक शक्ति उन्हें ऊँचे से ऊँचे शिखर तक पहुँचा देती है। परन्तु जैसे और शास्त्रों में—गणित में, इतिहास में, राजनीति में, विज्ञान में—अध्ययन और अभ्यास आवश्यक है, उसी प्रकार काव्य-शास्त्र में भी। संसार के सभी देशों में जहाँ भी साहित्य की रचना हुई है, वहाँ ऐसी पुस्तकें लिखी गई हैं जिनमें यह बताया गया है कि रचना कैसे होती है और क्यों होनी चाहिये, उत्तम रचना किसे कहते हैं, रचना को दोषों से कैसे बचाया जा सकता है, इत्यादि, इत्यादि। साहित्य-मीमांसा पर ग्रीस, इटली, जर्मनी, फ्रांस, इङ्गलैंड में अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं, और भारत में तो इस विषय में महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की संख्या बहुत है। हमारे पुराने शिष्य और मित्र श्री लीलाधरजी गुप्त ने बहुत वर्षों के परिश्रम और अध्यवसाय से प्रस्तुत ग्रन्थ लिखा है। विश्वविद्यालय में पश्चिमीय साहित्यशास्त्र, का बहुत दिन से गुप्तजी बड़ी योग्यता से अध्यापन कर रहे हैं। इस ग्रन्थ में इनका उस अनुभव और गूढ़ अध्ययन का परिचय मिलता है।

साहित्य में क्या गुण हैं, क्या दोष हैं—इसी की समीक्षा आलोचना है। रस, अलङ्कार, वक्रोक्ति, ध्वनि, कल्पना, रीति, इत्यादि अनेक वादों को लेकर बहुत शास्त्रार्थ हो चुका है। गुप्तजी ने आलोचना का यथार्थ क्षेत्र निर्धारित किया है और उसका इस प्रकार विभाजन किया है :—( १ ) रचनात्मक आलोचना; ( २ ) व्याख्यात्मक आलोचना; और ( ३ ) निर्णयात्मक आलोचना। आइ० ए० रिचर्ड्स के सिद्धान्त से गुप्तजी सहमत हैं। इस सिद्धान्त को उन्होंने सूत्ररूप में यों लिखा है :

( १ ) कलाकृति में व्यक्तित्व हो।

( २ ) कलाकृति का अनुभव मूल्यवान् हो। अनुभव के एकीकृत तत्त्वों में जितनी विभिन्नता हो, कृति उतनी ही मूल्यवान् होगी।

( ३ ) ध्यान-योग की अवस्था में कलाकृति का रूप कलाकार और माध्यम के सम्मिश्रण द्वारा बिना किसी प्रकार की रुकावट की सफलता से निकला हो। कलाकृति से हमें अपनी निर्मायक प्रवृत्ति की तुष्टि प्रतीत हो।

( ४ ) कलाकृति में व्यापकता हो। उसमें सामाजिक झंकार हो और सब संस्कृत सहृदयों को उसकी प्रेरणा हो।

( ५ ) कलाकार को रचना-कौशल पर पूरा अधिकार हो। वह रूपात्मक तत्त्वों को विषयात्मक तत्त्वों से ऐसा उपयुक्त करे कि दोनों का पार्थक्य नष्ट हो जाय।

आज कल तथाकथित कलाकार और समालोचक शृङ्खलाओं से अपने को मुक्त करना चाहते हैं। मैंने स्वयं कई वर्ष पूर्व लिखा था—"लेखक पर किसी प्रकार का कृत्रिम नियंत्रण अनुचित और हानिकारक है। उच्चकोटि की कला मानव के हृदय का बाह्य रूप है और किसी के हृदय पर किसका अधिकार है? कला मनुष्य की भावना से उत्पन्न होती है। भावना को वश में कौन ला सकता है? कविता में चित्त का उत्साह, उमंग, वेदना, आनन्द, विषाद, सन्निहित रहता है, स्वप्नों की झलक मिलती है, भावों की विलक्षणता है, विचारों की विशालता है—इनको किसी 'वाद' में जकड़ देना भयावह है। क्षुद्र नदी की धारा तो रोकी जा सकती है, सागर पर आधिपत्य कैसा!" फिर भी, शब्दों का ज्ञान, कोमल स्वरों का ज्ञान, पुराने ग्रन्थों का ज्ञान, इतिहास का ज्ञान, समसामयिक प्रगतियों का ज्ञान, तो साहित्यकार के लिये आवश्यक है। इसी प्रकार समालोचक के पास भी साहित्य के परखने के लिए अपनी कसौटी होनी चाहिये।

श्री गुप्तजी की पुस्तक का मैं हृदय से स्वागत करता हूँ।

३०-६-५२ अमरनाथ झा

# प्रवचन

लगभग बाईस वर्ष हुए होंगे जब प्रयाग विश्वविद्यालय में आलोचना का विषय पहले ही पहल बी० ए० ऑनर्स और एम्० ए० के पाठ्यक्रम में सम्मिलित हुआ था। तब अंग्रेज़ी-विभाग के तत्कालीन प्रधान पं० अमरनाथ झा ने इस विषय पर दोनों कक्षाओं को भाषण देने के लिये मुझे ही नियत किया था। यद्यपि मैंने दर्शन कभी किसी भी परीक्षा के लिये नहीं पढ़ा था, फिर भी अपनी रुचि की तुष्टि के लिये जब मुझे अवकाश मिलता था, अव्यवस्थित रूप से यह विषय पढ़ता रहता था। अंग्रेज़ी-साहित्य के अध्ययन में मुझे आलोचना अधिक आकर्षित करती थी। आलोचना के अध्ययन में मुझे अपनी दर्शनशास्त्र-संबंधी रुचि की तुष्टि भी हो जाती थी। इसी कारण जब प्रधान ने मुझे आलोचना पर भाषण देने के लिये कहा, तो मुझे असाधारण सुख की अनुभूति हुई। मैंने समझ लिया कि अब मुझे साहित्य, कला, और सौन्दर्य शास्त्रों के अध्ययन का अवकाश मिला है।

मेरे भाषणों का आधार मुख्यतः पाश्चात्य, विशेषतः अंग्रेज़ी साहित्यालोचना का इतिहास था। परन्तु इन भाषणों के प्रवेशनार्थ मैंने पहले साल एक भाषण पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्तों पर दिया था। पीछे से इस भाषण में मैंने परिवर्तन की बड़ी गुञ्जाइश पाई। दूसरे साल वही एक भाषण तीन भाषणों का विस्तार पा गया। धीरे-धीरे इस विषय के भाषणों की संख्या बढ़ती गई। संख्या-वृद्धि में एम्० ए० की परीक्षा के लिये निर्धारित पाठ्यक्रम में आलोचना-सिद्धान्तों के समावेश ने भी बड़ी सहायता दी। कुछ वर्षों में मेरा पहला भाषण इस पुस्तक का रूप पा गया। इस प्रकार, मेरी यह पुस्तक आलोचना के इस सिद्धान्त की पुष्टि करती है कि कृति का रूप कृतिकार के सामने पहले से ही उपस्थित नहीं होता। पहले वह बीज के ही रूप में होता है और फिर धीरे-धीरे वह निर्माणात्मक प्रेरणा के प्राबल्य से आंतरिक और बाह्य क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं के द्वारा अपने पूर्ण विस्तार को पहुँचता है।

मेरे पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त-प्रतिपादन में संस्कृत और हिन्दी की आलोचना का कोई उल्लेख न था। परन्तु जब मुझे हिन्दुस्तानी एकेडेमी की ओर से पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्तों पर एक पुस्तक लिखने का आमंत्रण मिला तो मुझे यह सूझा कि यदि प्रत्येक सिद्धान्त के संबंध में मैं संस्कृत और हिन्दी के आलोचनात्मक विचार और उनका तुलनात्मक मूल्यांकन भी प्रस्तुत करूं तो पुस्तक की उपयोगिता और भी बढ़ जायगी। इसी उद्देश्य से मैंने प्राच्य आलोचनात्मक विचार भी दिये हैं। ये विचार प्रायः वे ही हैं जो इस अध्ययन में मुझे अपने कुछ साहित्यिक मित्रों की सहायता से मिल सके।

पाश्चात्य और प्राच्य आलोचनाओं की तुलना से मुझे यह प्रतीत हुआ है कि प्राच्य आलोचना जीवन की आलोचना से इतनी संबंधित नहीं है जितनी पाश्चात्य आलोचना। प्राच्य आलोचना अधिकतया साहित्य से ही संबंधित है और इस क्षेत्र में भी विशेषतया वाग्मितात्मक है। जब कोई पाश्चात्य आलोचना का पाठक संस्कृत के अलंकारशास्त्रों का अध्ययन करता है तब उसकी दृष्टि के सम्मुख सहसा एरिस्टॉटल की 'रैटरिक', सिसरो की 'डे ऑरेटोरे', क्विण्टीलियन की 'इन्स्टीट्यूट्स ऑफ़ ऑरेटरी', विल्सन की 'दि आर्ट ऑफ़ रैटरिक', और हैनरी पीचम का 'गार्डन ऑफ़ एलोक्वेन्स' आ जाते हैं। इन सब के उद्देश्य अनौपनिषदिक और अभ्यासात्मक तो हैं, किन्तु अधिक वैज्ञानिक और आलोचनात्मक नहीं। यही दशा संस्कृत के अलंकारशास्त्रों की है। पाश्चात्य साहित्यालोचना प्रारम्भ से ही जीवन की आलोचना से संबंधित रही है। प्लैटो, लॉञ्जायनस, पोप, कोलरिज और आर्नल्ड की आलोचनाएँ इस मत को पुष्ट करती हैं। हाँ, रस और ध्वनि के सिद्धान्तों के प्रतिपादन में प्राच्य आलोचना अपनी पराकाष्ठा को पहुँच जाती है। अभिनवगुप्त ने ध्वनि सिद्धान्त की जो व्याख्या की है उस पर कीथ ने यह लिखा है :—

"अब रस के महत्त्व का पूर्ण विवेक हो गया है, और उस रीति का, जिससे कविता या नाटक पाठक या समाज पर अपना प्रभाव डालते हैं, पूरा बोध हो गया है। रस का विवेक अनुमान की किसी पद्धति से नहीं हो सकता; उसके सम्भाव्य का केवल यही कारण है कि मनुष्य पूर्वकाल में रति इत्यादि भावों को अनुभव कर चुका है जिनके अवशेष संस्कारों के रूप में उसकी आत्मा में सुरक्षित है। जब पाठक या समाज कविता या रंगमंच पर व्यक्त भावों और उनके परिणामों से प्रभावित होता है, तो वह उन्हें न तो बाह्य ही समझता है, और न उन्हें कृति के नायक के योग्य ही समझता है और न उन्हें व्यक्तिगत अपना ही समझता है; वह उनका ग्रहण सर्वगत रूप में करता है और इसी रूप में वह उनमें भाग लेता है, और चाहे कृति के नायक के भाव दुःखद भी हों, वह उनके प्रभाव में एक अद्भुत सुख की अनुभूति करता है। रस-धारण का रूप कभी-कभी अस्पष्ट और दुर्बोध हो जाता है; परंतु कविता के आनन्द की तात्त्विक विशेषता व्यक्त करने का प्रयास अवश्य साहसपूर्ण है और किसी भाँति असमर्थ नहीं है।"[१]

---

[१]The importance of sentiment is now fully appreciated, and the mode in which poetry or a drama affects the reader or spectator can now be better understood. The appreciation of sentiment cannot come by any process of influence; it is possible only because a man has in the past had experiences, e.g., of love, which have left residues in the shape of impressions in his soul. When he comes under the influence of the factors which excite these emotions and their consequences, expressed in poetry or on the stage, he does not regard them as external, as proper to the hero of the work, nor as personal to himself; he appreciates them as universal, and he shares in them in this manner, enjoying a strange

रस का यही सिद्धान्त एरिस्टॉटल की 'पोइटिक्स' में करुणा ( ट्रैजेडी ) की परिभाषा के अंतिम शब्द में सांकेतिक है। परिभाषा यह है :—

"करुण, तब, किसी ऐसे कार्य का अनुकरण है जो गम्भीर, समस्त, और किसी विस्तार का हो—ऐसी अलंकृत भाषा में जो भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न रीतियों से चमत्कृत हो—वर्णनात्मक रीति से नहीं वरन् कार्यात्मक रीति से—और जो ( अनुकरण ) करुण और भय को जाग्रत करता हुआ इन भावों का संशोधन और विशिष्टीकरण करे।"[२]

इस परिभाषा में करेक्शन ऐंड रिफ़ाइनमेंट ( संशोधन और विशिष्टीकरण ) के लिए एरिस्टॉटल का शब्द कैथार्सिस है। इस शब्द के अर्थ-निर्णय में प्रत्येक शताब्दी में बड़ा वादविवाद रहा है। सोलहवीं शताब्दी में कैथार्सिस के तीन अर्थ प्रचलित थे। पहला अर्थ *निष्ठुरता* का था; करुण दुःख और प्रचण्डता के दृश्य दिखाकर दर्शक की करुणा और भय की प्रबलता को सह्य कर देता है। दूसरा अर्थ रेचन का था; जब सामाजिक नायक की उन कमज़ोरियों को देखता है जिनसे उसका पतन हुआ है तो उसे अपनी कमज़ोरियों का ध्यान हो जाता है और वह अपने आवेगों के दुःखद भाग से मुक्त होने का निश्चय करता है, और इस प्रकार अंतर्वेगीय संस्कृति के लिये वह उद्यत हो जाता है। तीसरा अर्थ *होमियोपैथिक* था; करुण सामाजिक की करुणा और भय की स्वाभाविक मनोवृत्तियों का अभ्यास के द्वारा प्रवर्धन करके उन्हीं मनोवृत्तियों का संशोधन करता है। इस पिछले अर्थ की पुष्टि मनोविश्लेषण भी करता है। कैथार्सिस का अर्थ *अंतर्वेगों का शोधन* अब निश्चित ही है। करुण में घटनाएँ दुःखद होती हैं क्योंकि उनकी प्रेरणा करुणा और भय के प्रति होती है। परन्तु सफल कला में वे ही सुखद हो जाती हैं क्योंकि वे कलात्मक आवेग की तुष्टि करती हैं। दुःखद घटनाएँ समस्त करुण में अपनी-अपनी ठीक जगह स्थित होने के कारण कल्पनात्मक मनन के विषय हो जाती हैं और जब कोई आवेग कल्पनात्मक मनन का विषय हो जाता है तो वह आवेग नहीं रह जाता; उसकी दुःखद संवेदना बिल्कुल चली जाती है। उसका साधारणीकरण हो जाता है। वह सर्वगत हो जाती है, व्यक्तिगत नहीं रहती। इसी विशेषता के आ जाने से वह एस्थैटिक सुख देने लगती है। साथ ही साथ करुण और भय की मनोवृत्तियों को

---

pleasure, even when the emotions of the hero in the work are painful. The form given to the conception is sometimes obscure and difficult; but the attempt to express the essential character of the pleasure of poetry is daring and by no means ineffective.

[२]Tragedy, then, is an imitation of some action that is serious, entire, and of some magnitude—by language embellished and rendered pleasurable, but by different means in different parts—in the way, not of narration but of action,—effecting through pity and terror the correction and refinement of such passions.

निर्गमद्वार मिल जाने से उनका शोध भी हो जाता है। कैथार्सिस से एरिस्टॉटल का मतलब यही था और यही मतलब भरत मुनि का रस से भी प्रतीत होता है। यह बात भी ध्यान देने की है कि दोनों ने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन नाटक के संबंध में ही किया है। भरत का 'नाट्यशास्त्र' एरिस्टॉटल की 'पोइटिक्स' के पीछे का ही लिखा हुआ दीख पड़ता है। इस बात का निश्चय करना कि भरत पर एरिस्टॉटल का प्रभाव पड़ा था या वह स्वतंत्र रूप से इस सिद्धान्त पर पहुँचा, इतिहास के विशेषज्ञों का काम है। हम यहाँ यही कह सकते हैं कि दोनों ही अपनी-अपनी आलोचनात्मक प्रतिभा के बल से कलात्मक युग का सार समझने में सफल हुए।

इस पुस्तक के लिखने में मेरा ध्यान पूर्णतया आलोचनात्मक सिद्धान्तों की ओर ही रहा है। आलोचना के इतिहास या आलोचकों के अलग-अलग आलोचनात्मक मार्गों से मेरा उतना ही प्रयोजन रहा है जितना सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिए पर्याप्त था। मैंने यूनान, रोम, मध्यकाल और पुनरुत्थान के इटली, फ्रान्स, जर्मनी, रूस, और अमेरिका की आलोचना के प्रमाण दिये हैं; परन्तु अंग्रेज़ी आलोचना के प्रमाण अधिक संख्या में दिये हैं। कारण स्पष्ट है। मैं अंग्रेज़ी आलोचना से अधिक अभिज्ञ हूँ और हमारे देश का अंग्रेज़ी भाषा से अधिक संबंध भी रहा है और रहेगा भी। फिर, अंग्रेज़ी भाषा इतनी समृद्धिशालिनी है कि किसी भी भाषा का कोई महत्त्वपूर्ण ग्रंथ इसमें प्रकाशन पाये बिना नहीं रहता है।

निर्गमद्वार मिल जाने से उनका शोध भी हो जाता है। कैथार्सिस से एरिस्टॉटल का मतलब यही था और यही मतलब भरत मुनि का रस से भी प्रतीत होता है। यह बात भी ध्यान देने की है कि दोनों ने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन नाटक के संबंध में ही किया है। भरत का 'नाट्यशास्त्र' एरिस्टॉटल की 'पोइटिक्स' के पीछे का ही लिखा हुआ दीख पड़ता है। इस बात का निश्चय करना कि भरत पर एरिस्टॉटल का प्रभाव पड़ा था या वह स्वतंत्र रूप से इस सिद्धान्त पर पहुँचा, इतिहास के विशेषज्ञों का काम है। हम यहाँ यही कह सकते हैं कि दोनों ही अपनी-अपनी आलोचनात्मक प्रतिभा के बल से कलात्मक गुण का सार समझने में सफल हुए।

इस पुस्तक के लिखने में मेरा ध्यान पूर्णतया आलोचनात्मक सिद्धान्तों की ओर ही रहा है। आलोचना के इतिहास या आलोचकों के अलग-अलग आलोचनात्मक मार्गों से मेरा उतना ही प्रयोजन रहा है जितना सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिए पर्याप्त था। मैंने यूनान, रोम, मध्यकाल और पुनरुत्थान के इटली, फ्रान्स, जर्मनी, रूस, और अमेरिका की आलोचना के प्रमाण दिये हैं; परन्तु अंग्रेज़ी आलोचना के प्रमाण अधिक संख्या में दिये हैं। कारण स्पष्ट है। मैं अंग्रेज़ी आलोचना से अधिक अभिज्ञ हूँ और हमारे देश का अंग्रेज़ी भाषा से अधिक संबंध भी रहा है और रहेगा भी। फिर, अंग्रेज़ी भाषा इतनी समृद्धिशालिनी है कि किसी भी भाषा का कोई महत्त्वपूर्ण ग्रंथ इसमें प्रकाशन पाये बिना नहीं रहता है।

थी। परन्तु मैंने इन्हें अंग्रेज़ी में इसलिये नहीं छपाया था कि छपवाने के पश्चात् मेरे विद्यार्थी मेरे भाषणों को विशेष ध्यान से न सुनते। डा० अमरनाथ झा के इस प्रोत्साहन के लिये मैं उनका अनुगृहीत हूँ। अब तक पाश्चात्य आलोचना-सिद्धान्तों का कोई भी ग्रन्थ कदाचित् हिन्दी में नहीं आ सका। मुझे इसके लिये जो सत्प्रेरणा अपने मित्र डा० धीरेन्द्र वर्मा से मिली उसी का यह प्रथम फल है। हिन्दुस्तानी एकेडेमी से उनके द्वारा इस पुस्तक को लिखने के प्रस्ताव बिना शायद ही मैं यह पुस्तक हिन्दी में लिखता। इसलिये यदि इस पुस्तक के द्वारा हिन्दी पाठकों को संतोष और सुख मिलता है तो वस्तुतः उसका बहुत बड़ा श्रेय, मेरे विचार से, श्री वर्मा जी को है। पुस्तक लिखने में मुझे अपने मित्रों से जो सहायता मिली है उसके लिये मैं उनका कृतज्ञ हूँ। प्रो० सतीशचन्द्र देव ने पहले तीन प्रकरणों को अंग्रेज़ी में पढ़कर अपने विचारों से मुझे लाभ पहुँचाया। इसके लिये मैं उनका आभारी हूँ। मैं डा० माताप्रसाद गुप्त का भी, जिनका कार्य पाठालोचन में प्रशंसनीय है, आभारी हूँ। उन्हीं की सहायता से मैंने अपने पाठालोचन के अंश को अंतिम रूप दिया। विशेष रूप से मुझे चार महानुभावों से सहायता मिली है। डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने, जिनका नित्योपस्थित ज्ञान सराहनीय है, बड़ी सहृदयता से अपना अमूल्य समय आलोचनात्मक वादविवाद के लिये मुझे दिया। डा० ब्रजेश्वर वर्मा और डा० रामसिंह तोमर ने बहुत से आलोचनात्मक विषयों पर अपने विचार व्यक्त करने की ही मेरे ऊपर कृपा नहीं की वरन् उन्होंने बड़ी उदारता से मुझे ऐसी-ऐसी हिन्दी की पुस्तकें पढ़ने को दीं जिनकी सहायता के बिना इस पुस्तक का यह रूप न निकल पाता। इसके अतिरिक्त इन दोनों महानुभावों ने इस पुस्तक को बहुत से स्थलों में पढ़कर जहाँ-तहाँ अधिक उपयुक्त शब्दों की सूझ भी दी। एतदर्थ मैं इनका बड़ा ऋणी हूँ। मैं डा० बाबूराम सक्सेना और महामहोपाध्याय डा० उमेश मिश्र का भी आभार स्वीकार करता हूँ। मिश्रजी ने मुझे संस्कृत आलोचना की कई अच्छी पुस्तकें दीं और दोनों महानुभावों ने कुछ विषयों पर परामर्श के लिये मुझे अपना अमूल्य समय भी दिया। मैं श्री धर्मवीर भारती का भी आभारी हूँ। उन्होंने सारी पुस्तक को पाठक की हैसियत से पढ़ा और बहुत से शब्दों, वाक्यों, और मतों को संशोधित करने का संकेत किया। अंत में मैं श्री रामचंद्र टंडन का आभारी हूँ जिन्होंने आदर्श सहानुभूति से मुद्रण के कार्य को ही अग्रसर नहीं किया वरन् साहित्यिक और आलोचनात्मक विचारों से भी मुझे लाभ पहुँचाया।

आशा है, यह पुस्तक हिन्दी संसार को अपने विषय से संतोष दे सकेगी।

प्रयाग विश्वविद्यालय
२६ जून, १९५२ ई०

लीलाधर गुप्त

# विषय-सूची

पहला प्रकरण

## वहिष्कृत आलोचनाएँ



दूसरा प्रकरण

## रचनात्मक आलोचना



तीसरा प्रकरण

## व्याख्यात्मक आलोचना



चौथा प्रकरण

## निर्णयात्मक आलोचना

# विषय-सूची

पहला प्रकरण

## वहिष्कृत आलोचनाएँ



दूसरा प्रकरण

## रचनात्मक आलोचना



तीसरा प्रकरण

## व्याख्यात्मक आलोचना



चौथा प्रकरण

## निर्णयात्मक आलोचना

पहला प्रकरण

# बहिष्कृत आलोचनाएँ

गूढ़ विषयों का प्रतिपादन कभी-कभी निषेधात्मक रीति से किया जाता है। ब्रह्म का ज्ञान कराने के लिये यह बतलाया जाता है कि यह वस्तु ब्रह्म नहीं है, वह वस्तु ब्रह्म नहीं है। यद्यपि साहित्यालोचन का विषय इतना गूढ़ नहीं है जितना कि ब्रह्म अथवा आत्मा का, तो भी जब कोई खोज करने वाला साहित्यालोचन के अर्थ का निर्णय करता है तो रुकावट का अनुभव करता है। कारण यह है कि न तो साहित्य के अर्थ का ही कोई स्थैर्य है और न आलोचना के अर्थ का ही।

साहित्य कभी-कभी तो विषय-प्रधान माना गया है और कभी कभी शैली-प्रधान। कभी-कभी यह माना गया है कि किसी भाषा में जितने भी ग्रन्थ हैं वे सब उस भाषा के साहित्य हैं और कभी-कभी यह माना गया है कि किसी भाषा के केवल वे ग्रन्थ ही साहित्य हैं जो भाव-व्यञ्जना और रूप-सौष्ठव के कारण हृदयस्पर्शी होते हैं। न्यूमैन समझता है कि साहित्य मनुष्य के विचारों, उसकी भावनाओं, और कल्पनाओं का व्यक्तीकरण है, तो श्लेजल का मत है कि साहित्य किसी जाति के मानसिक जीवन का सर्वाङ्गी सार है। एमर्सन का कथन है कि साहित्य वह प्रयास है जिसके द्वारा मनुष्य अपनी दुर्दशाकृत क्षति की पूर्ति करता है तो यूङ्ग का कथन है कि साहित्य अचेतन मन से आई हुई प्रतिमाओं का चेतन आदर्शों के लिये प्रयोग करना है। भारतीय विचार के अनुसार साहित्य वह वस्तु है जिसमें एक से अधिक वस्तु मिली हुई हों। साहित्य शब्द 'सहित' में 'ष्यञ्' प्रत्यय के जोड़ने से बना है। आचार्य भामह अपने 'काव्यालंकार' में कहते हैं, 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' अर्थात् शब्द और अर्थ का सहभाव काव्य अथवा साहित्य है। परन्तु इस परिभाषा में और सब प्रकार के लेख भी आते हैं। इसी से राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमांसा' में इस सहभाव को तुल्यकक्ष कह कर काव्य को दूसरे प्रकार के लेखों से अलग किया है—"शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या।" इसी परिभाषा से प्रभावित होकर कुछ आलोचक शब्द की रमणीयता पर जोर देते हैं और कुछ आलोचक अर्थ की रमणीयता पर। 'रसगंगाधर' में रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहा है। बहुत से आलोचक अर्थ की रमणीयता में शब्द की रमणीयता भी समझ

लेते हैं। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने रसात्मक वाक्य को ही काव्य कहा है। 'काव्यप्रकाश' में काव्य का यह वर्णन है--"जो संसार के सभी प्रयोजनों में मुख्य है, जो प्राप्त होते ही तुरन्त अपने रस का स्वाद चखाकर ऐसे अपूर्व आनन्द का अनुभव कराता है कि शेष ज्ञेय वस्तुओं के ज्ञान उसके आगे तिरोहित हो जाते हैं, जो प्रभु अर्थात स्वामी के द्वारा प्रकट किये गये शब्द-प्रधान वेदादि शास्त्रों से विलक्षण तथा मित्रों द्वारा कहे गये अर्थ-तात्पर्यादि-प्रधान पुराण, इतिहास आदि ग्रन्थों से भी भिन्न है, प्रत्युत शब्दों और अर्थों को गौण बना कर रसादि के प्रकट करनेवाले उपायों की ओर प्रवण करने के कारण जो उक्त प्रभु-सम्मत और सुहृत्सम्मत वाक्यावलियों से भिन्न है, ऐसे रचना विशेष को काव्य कहते हैं।" इन पाश्चात्य और प्राच्य परिभाषाओं से जान पड़ता है कि साहित्य के अर्थ के निर्णय करने में कितनी विभिन्नता है।

जिन नियमों से आलोचना संचालित रही है, उनकी विभिन्नता तो साहित्य के अर्थ की विभिन्नता से कहीं अधिक है। कभी-कभी आलोचक आलोच्य कृति में यह देखता है कि वह कितनी शिक्षाप्रद है और कभी-कभी वह यह देखता है कि आलोच्य कृति कितनी आनन्दप्रद और मनोहर है। कुछ आलोचक पुस्तक की सुन्दर भाषा से ही मुग्ध हो जाते हैं और कुछ उसकी वृत्तात्मकता से मुग्ध होते हैं। बहुत से आलोचक आलोच्य कृति के अंगविन्यास की ओर ही ध्यान देते हैं और उस कृति में कहां तक ऐक्य है इसी से उसके साहित्यिक गुण की परीक्षा करते हैं। तत्त्वविद्या के एक आधुनिक आचार्य, जे० ए० स्मिथ कहते हैं कि आलोचक किसी कृति में केवल यह देखे कि उस कृति ने किस बात में विशेष व्यक्तित्व पाया है, यदि उसमें कुछ भी व्यक्तित्व है तो। आदर्शवादी आलोचक साहित्यिक कृति को इस कसौटी पर चढ़ाते हैं कि उसमें अलौकिक अथवा पार्थिव ऐकान्तिक सौन्दर्य की कितनी झलक है। एबरक्रोम्बी कृति की श्रेष्ठता इस मानदण्ड से निर्णय करता है कि वह कलाकार की अंतर्प्रेरणा को अपने माध्यम द्वारा कहाँ तक व्यक्त कर सकी है। एलेग्ज़ेण्डर का मानदण्ड यह है कि कोई कृति कहाँ तक कलाकार की उस स्फूर्ति की द्योतक है, जिससे वह अपने माध्यम में अपने को मिलाकर, उसके द्वारा ऐसी बातों का अनुभव कराता है जिनका उस माध्यम के वास्तविक गुणों से कोई संबंध नहीं है, जैसे चित्रकार भीत पर रंगों द्वारा दरवाजे का ऐसा चित्र बनाने में समर्थ होता है कि देखने वाला उसे सच्चा दरवाज़ा समझ कर उसमें से निकलने के लिये तैयार हो जाता है। एस० सी० नैस कलाकार, कलाकृति, और कलाग्राही इन तीनों की एक ऐन्द्रजालिक परिधि मानता है। कलाकार कलाकृति के द्वारा कलाग्राही को अपने व्यक्त भावों अथवा अंतर्वेगों से प्रभावित करता है। उसके मतानुसार किसी कृति की श्रेष्ठता उसकी निवेदन-शक्ति पर निर्भर होती है, कितनी पूर्णता से वह कलाग्राही को प्रभावित करती है। आत्मघटन (एम्पैथी) सिद्धान्त के व्याख्याता थियोडोर लिप्स का कथन है कि सुन्दर कला के सामने ऐसी अंतः-

प्रेरित शारीरिक गतिशीलता का अनुभव होता है जिससे हम अपना अस्तित्व कलावस्तु के अस्तित्व जैसा कर लेते हैं। यह गतिशीलता स्वयंप्रवर्तक होती है, इच्छाजनित अथवा बुद्धि-संचालित नहीं, और उसकी सिद्धि शरीर के बाहर नहीं होती बल्कि अन्दर ही अन्दर होती है। इस प्रकार थियोडोर लिप्स उस कलाकृति को ही सफल कहेगा जिससे हमारी अव्यावहारिक आत्मा कला:वस्तु से ऐक्य प्राप्त करने के लिये गतिशील हो जाती है। प्राच्य आलोचना में, भरत उस काव्य को श्रेष्ठ मानता है जिसमें भाव, विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारी भावों द्वारा रस की निष्पत्ति हो। उसके मतानुसार काव्य की प्रेरणा मनुष्य के भावों और अंतर्वेगों को होती है, उसकी बुद्धि को नहीं। इसी प्रेरणा पर काव्य की सफलता निर्भर है। भामह, उद्भट, दण्डी, और रुद्रट का आलोचनात्मक मानदण्ड आलंकारिकता है। वामन का कहना है कि रीति ही काव्य की आत्मा है और रीति विशिष्ट पदरचना है। वक्रोक्तिजीवितकार साहित्य की समीक्षा वक्रोक्ति के मानदण्ड से करता है। ध्वनिकार और मम्मट, ध्वनि या व्यञ्जना को काव्य की आत्मा मानते हैं। इनके मत से वही काव्य उत्तम है जिसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारक हो। एक और मानदण्ड जो बिल्कुल कलामीमांसाविषयक ( एस्थैटिक ) मूल्य का है और जिस पर बहुत से प्राच्य आलोचक जोर देते हैं, वह सहृदय को चमत्कार अथवा अलौकिक आनन्द के अनुभव होने का है। जो काव्य जितना ऐसा आनन्द दे वह उतना ही अच्छा। इन पाश्चात्य और प्राच्य आलोचनात्मक मानदण्डों से स्पष्ट है कि साहित्यसमीक्षा के नियम निर्धारण करना कितना कठिन है।

जब साहित्य के अर्थ को स्थिर करने में इतनी कठिनाई है और आलोचनात्मक नियमों की विभिन्नता के कारण आलोचना के अर्थ के निर्धारण करने में और भी अधिक कठिनाई है, तो यह बात अच्छी तरह समझी जा सकती है कि साहित्यालोचन का अर्थ स्थिर करना कितनी कठिनाई का कार्य है।

हम पहले ऐसी आलोचनाओं का वहिष्कार करेंगे जो किसी मिथ्या-भावना से साहित्यालोचन कही जाती हैं, परन्तु जो वस्तुतः साहित्यालोचन नहीं हैं।

१

पहले हम वैज्ञानिक आलोचना का वहिष्कार करते हैं।

आलोचना के वर्गीकरण में पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग विवेकपूर्ण नहीं है। इस कारण कभी-कभी असावधान पाठक संभ्रांत हो जाता है।

वर्गीकरण की दो विधियाँ हैं। पहिली विधि में आलोचना के विषय-वस्तु की ओर संकेत होता है और दूसरी विधि में उस पद्धति की ओर संकेत होता है जिसके अनुसार आलोचना की जाती है। अतः जब किसी इतिहास की पुस्तक की आलोचना की जाती है तो परिणाम होता है ऐतिहासिक आलोचना। जब किसी मनोविज्ञान की पुस्तक की आलोचना की जाती है तो परिणाम होता है मनोवैज्ञा-

लेते हैं। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने रसात्मक वाक्य को ही काव्य कहा है। 'काव्यप्रकाश' में काव्य का यह वर्णन है—"जो संसार के सभी प्रयोजनों में मुख्य है, जो प्राप्त होते ही तुरन्त अपने रस का स्वाद चखाकर ऐसे अपूर्व आनन्द का अनुभव कराता है कि शेष ज्ञेय वस्तुओं के ज्ञान उसके आगे तिरोहित हो जाते हैं, जो प्रभु अर्थात स्वामी के द्वारा प्रकट किये गये शब्द-प्रधान वेदादि शास्त्रों से विलक्षण तथा मित्रों द्वारा कहे गये अर्थ-तात्पर्यादि-प्रधान पुराण, इतिहास आदि ग्रन्थों से भी भिन्न है, प्रत्युत शब्दों और अर्थों को गौण बना कर रसादि के प्रकट करनेवाले उपायों की ओर प्रवण करने के कारण जो उक्त प्रभु-सम्मत और सुहृत्सम्मत वाक्यावलियों से भिन्न है, ऐसे रचना विशेष को काव्य कहते हैं।" इन पाश्चात्य और प्राच्य परिभाषाओं से जान पड़ता है कि साहित्य के अर्थ के निर्णय करने में कितनी विभिन्नता है।

जिन नियमों से आलोचना संचालित रही है, उनकी विभिन्नता तो साहित्य के अर्थ की विभिन्नता से कहीं अधिक है। कभी-कभी आलोचक आलोच्य कृति में यह देखता है कि वह कितनी शिक्षाप्रद है और कभी-कभी वह यह देखता है कि आलोच्य कृति कितनी आनन्दप्रद और मनोहर है। कुछ आलोचक पुस्तक की सुन्दर भाषा से ही मुग्ध हो जाते हैं और कुछ उसकी वृत्तात्मकता से मुग्ध होते हैं। बहुत से आलोचक आलोच्य कृति के अंगविन्यास की ओर ही ध्यान देते हैं और उस कृति में कहां तक ऐक्य है इसी से उसके साहित्यिक गुण की परीक्षा करते हैं। तत्त्वविद्या के एक आधुनिक आचार्य, जे० ए० स्मिथ कहते हैं कि आलोचक किसी कृति में केवल यह देखे कि उस कृति ने किस बात में विशेष व्यक्तित्व पाया है, यदि उसमें कुछ भी व्यक्तित्व है तो। आदर्शवादी आलोचक साहित्यिक कृति को इस कसौटी पर चढ़ाते हैं कि उसमें अलौकिक अथवा पार्थिव ऐकान्तिक सौन्दर्य की कितनी झलक है। एबरक्रोम्बी कृति की श्रेष्ठता इस मानदण्ड से निर्णय करता है कि वह कलाकार की अंतर्प्रेरणा को अपने माध्यम द्वारा कहाँ तक व्यक्त कर सकी है। एलेग्जेण्डर का मानदण्ड यह है कि कोई कृति कहाँ तक कलाकार की उस स्फूर्ति की द्योतक है, जिससे वह अपने माध्यम में अपने को मिलाकर, उसके द्वारा ऐसी बातों का अनुभव कराता है जिनका उस माध्यम के वास्तविक गुणों से कोई संबंध नहीं है, जैसे चित्रकार भीत पर रंगों द्वारा दरवाज़े का ऐसा चित्र बनाने में समर्थ होता है कि देखने वाला उसे सच्चा दरवाज़ा समझ कर उसमें से निकलने के लिये तैयार हो जाता है। एस० सी० नैम्र कलाकार, कलाकृति, और कलाग्राही इन तीनों की एक त्रिकालिक परिधि मानता है। कलाकार कलाकृति के द्वारा कलाग्राही को अपने व्यक्त भावों अथवा अंतर्वेगों से प्रभावित करता है। उसके मतानुसार किसी कृति की श्रेष्ठता उसकी निवेदन-शक्ति पर निर्भर होती है, कितनी पूर्णता से वह कलाग्राही को प्रभावित करती है। आत्मघटन (एम्पैथी) सिद्धान्त के समर्थक थियोडोर लिप्स का कथन है कि सुन्दर कला के सामने ऐसी अंतः-

प्रेरित शारीरिक गतिशीलता का अनुभव होता है जिससे हम अपना अस्तित्व कलावस्तु के अस्तित्व जैसा कर लेते हैं। यह गतिशीलता स्वयंप्रवर्तक होती है, इच्छाजनित अथवा बुद्धि-संचालित नहीं, और उसकी सिद्धि शरीर के बाहर नहीं होती बल्कि अन्दर ही अन्दर होती है। इस प्रकार थियोडोर लिप्स उस कलाकृति को ही सफल कहेगा जिससे हमारी अव्यावहारिक आत्मा कलावस्तु से ऐक्य प्राप्त करने के लिये गतिशील हो जाती है। प्राच्य आलोचना में, भरत उस काव्य को श्रेष्ठ मानता है जिसमें भाव, विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारी भावों द्वारा रस की निष्पत्ति हो। उसके मतानुसार काव्य की प्रेरणा मनुष्य के भावों और अंतर्वेगों को होती है, उसकी बुद्धि को नहीं। इसी प्रेरणा पर काव्य की सफलता निर्भर है। भामह, उद्भट, दण्डी, और रुद्रट का आलोचनात्मक मानदण्ड आलंकारिकता है। वामन का कहना है कि रीति ही काव्य की आत्मा है और रीति विशिष्ट पदरचना है। वक्रोक्तिजीवितकार साहित्य की समीक्षा वक्रोक्ति के मानदण्ड से करता है। ध्वनिकार और मम्मट, ध्वनि या व्यञ्जना को काव्य की आत्मा मानते हैं। इनके मत से वही काव्य उत्तम है जिसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारक हो। एक और मानदण्ड जो बिल्कुल कलामीमांसाविषयक ( एस्थैटिक ) मूल्य का है और जिस पर बहुत से प्राच्य आलोचक जोर देते हैं, वह सहृदय को चमत्कार अथवा अलौकिक आनन्द के अनुभव होने का है। जो काव्य जितना ऐसा आनन्द दे वह उतना ही अच्छा। इन पाश्चात्य और प्राच्य आलोचनात्मक मानदण्डों से स्पष्ट है कि साहित्यसमीक्षा के नियम निर्धारण करना कितना कठिन है।

जब साहित्य के अर्थ को स्थिर करने में इतनी कठिनाई है और आलोचनात्मक नियमों की विभिन्नता के कारण आलोचना के अर्थ के निर्धारण करने में और भी अधिक कठिनाई है, तो यह बात अच्छी तरह समझी जा सकती है कि साहित्यालोचन का अर्थ स्थिर करना कितनी कठिनाई का कार्य है।

हम पहले ऐसी आलोचनाओं का वहिष्कार करेंगे जो किसी मिथ्या-भावना से साहित्यालोचन कही जाती हैं, परन्तु जो वस्तुतः साहित्यालोचन नहीं हैं।

१

पहले हम वैज्ञानिक आलोचना का वहिष्कार करते हैं।

आलोचना के वर्गीकरण में पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग विवेकपूर्ण नहीं है। इस कारण कभी-कभी असावधान पाठक संभ्रांत हो जाता है।

वर्गीकरण की दो विधियाँ हैं। पहिली विधि में आलोचना के विषय-वस्तु की ओर संकेत होता है और दूसरी विधि में उस पद्धति की ओर संकेत होता है जिसके अनुसार आलोचना की जाती है। अतः जब किसी इतिहास की पुस्तक की आलोचना की जाती है तो परिणाम होता है ऐतिहासिक आलोचना। जब किसी मनोविज्ञान की पुस्तक की आलोचना की जाती है तो परिणाम होता है मनोवैज्ञा-

सिक आलोचना। जब किसी विज्ञान की पुस्तक की आलोचना की जाती है तो परिणाम होता है वैज्ञानिक आलोचना। और जब किसी पुस्तक की आलोचना में ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग किया जाता है तो भी परिणाम होता है ऐतिहासिक आलोचना। जब किसी पुस्तक की आलोचना में मनोवैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया जाता है तो भी परिणाम होता है मनोवैज्ञानिक आलोचना। जब किसी पुस्तक की आलोचना में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया जाता है तो भी परिणाम होता है वैज्ञानिक आलोचना। स्पष्ट है कि नामकरण की दोनों विधियों का ज्ञान 'ऐतिहासिक' 'मनोवैज्ञानिक' और 'वैज्ञानिक' इन पारिभाषिक शब्दों से नहीं होता। यहाँ पर वैज्ञानिक आलोचना से हमारा अभिप्राय विज्ञान की पुस्तकों की आलोचना से है।

विज्ञान जिज्ञासा-प्रवृत्ति का फल है। यह जिज्ञासा अव्यावहारिक होती है और इसका निर्देश स्वयं वस्तुओं की ओर होता है। ऐसी जिज्ञासा की पूर्ति से ही ज्ञान की प्राप्ति संभव होती है।

यूनानी तत्त्ववेत्ता कहा करते थे कि विज्ञान की उत्पत्ति आश्चर्य से हुई। किन्तु यह ठीक नहीं है। जिस क्रम से ज्ञान की वृद्धि हुई उस क्रम में आश्चर्य का अभाव क्रम में हुआ है। विज्ञान की उत्पत्ति का कारण मन की बेचैनी है। जब मनुष्य ने अपने को चारों ओर पदार्थों से घिरा हुआ पाया तो उन पदार्थों में उसने [illegible] का अनुभव किया। इस घबराहट को दूर करने की कोशिश के [illegible] पदार्थों को एक-दूसरे से इस प्रकार सम्बद्ध किया कि वे एक [illegible]। इस प्रवणता ने, मानसिक जीवन में, पदार्थों [illegible], अनुशीलन संभव किया और विज्ञान के निर्माण [illegible]।

सत्य भी कला है। दोनों निष्काम और कथनीय हैं। जैसे कला अपने भिन्न-भिन्न तत्त्वों का एकीकरण है उसी प्रकार सत्य भी इन्द्रिय-प्राप्त तत्त्वों का एकीकरण है। अब सब विज्ञानों का एकीकरण भी सम्भव है या नहीं इस बात को तत्त्वविद्या के लिये छोड़ देते हैं। शायद जगत अनेकत्व हो, एकत्व नहीं। जैसे कला में संगति होती है वैसे ही सत्य में भी संगति होती है। सत्य में ज. संगति होती है वह तत्त्वों का समवर्गीय होना और उनका और उनसे निकाले हुए नियमों का तथानुरूप होना है। सत्य कला के सदृश अवश्य है। परन्तु वह ललितकला नहीं है। ललितकला में मानसिक और भौतिक तत्त्वों का सम्मिश्रण और सामंजस्य होता है। सत्य अथवा विज्ञान में मन पदार्थ के यथार्थ रूप को देखता हुआ पदार्थ को ज्यों का त्यों छोड़ता है इस प्रकार विज्ञान पूर्णतया मानसिक निर्माण है और मानसिक निर्माण होते हुए कृत्रिम है।

विज्ञान और ललित कला के इस परस्पर संबंध और भेद पर बड़े बड़े आलोचकों के विचार प्रकाश डालते हैं। आई० ए० रिचर्ड ज़ अपनी साहित्या-लोचन के सिद्धान्त नामक पुस्तक में लिखते हैं कि प्रत्येक कथन में वस्तुओं की ओर निर्देश किया जाता है। जब निर्दिष्ट वस्तुएं सच्ची होती हैं और उन में निर्दिष्ट संबंध भी सच्चा होता है तो उस कथन को वैज्ञानिक कहते हैं। ऐसे कथन जब तर्कपूर्ण सम्बद्ध होते हैं तो वे विज्ञान की रचना के कारण होते हैं। यदि किसी कथन में निर्दिष्ट वस्तुओं का सच्चा या झूठा होना महत्त्वपूर्ण न हो और न उन निर्दिष्ट वस्तुओं के बीच निर्दिष्ट संबन्ध महत्त्वपूर्ण हो वरन कथन हमारे भावों ( फीलिंग्ज़ ) और अंतर्वेगों ( इमोशन्स ) को जागृत करे तो ऐसे कथन को हम साहित्यिक कहेंगे। हमारे मानसिक अनुभव के दो स्रोत हैं। एक तो बाह्य जगत् और दूसरा शारीरिक अवस्थाएं। विज्ञान का संबंध बाह्य जगत् से है और साहित्य का शारीरिक अवस्थाओं से। विज्ञान में निर्देशों का वास्तविक आधार होता है। साहित्य में यदि निर्देशों का वास्तविक आधार हो तो उन का मूल्य उन की वास्तविकता से नहीं बल्कि उनकी भावों और अंतर्वेगों को जागृत करने की क्षमता से आँका जाता है। कलाकार के निर्देश बहुधा अवास्तविक होते हैं। किन्तु उसके निर्देश चाहे वास्तविक हों चाहे अवास्तविक, उनका आंतरिक संबंध अंतर्वेगीय होता है। कलाकार का तर्क अंतर्वेगीय होता है। अंतर्वेग मन की एक भावात्मक वृत्ति है। वह भाव के पूर्ण विस्तार में बीच का स्थान पाती है। पहिला स्थान मूल-प्रवृत्ति का और तीसरा भावगति ( मूड ) का है। अंतर्वेग और भावगति के क्षेत्रों में भाव रचनात्मक होजाता है और कल्पना को जागृत कर देता है। इसीलिये जैसे किसी वैज्ञानिक कृति को समझने के लिये हमें न्यायात्मक बुद्धि की आवश्यकता होती है उसी तरह किसी साहित्यिक कृति को समझने के लिये हमें कल्पनात्मक बुद्धि की आवश्यकता होती है। विज्ञान और साहित्य का यही अंतर डे क्विन्सी के दिमाग में था जब उसने साहित्य का स्पष्ट अर्थ समझाने का प्रयास किया था। अपने

निक आलोचना। जब किसी विज्ञान की पुस्तक की आलोचना की जाती है तो परिणाम होता है वैज्ञानिक आलोचना। और जब किसी पुस्तक की आलोचना में ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग किया जाता है तो भी परिणाम होता है ऐतिहासिक आलोचना। जब किसी पुस्तक की आलोचना में मनोवैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया जाता है तो भी परिणाम होता है मनोवैज्ञानिक आलोचना। जब किसी पुस्तक की आलोचना में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया जाता है तो भी परिणाम होता है वैज्ञानिक आलोचना। स्पष्ट है कि वर्गीकरण की दोनों विधियों का ज्ञान 'ऐतिहासिक' 'मनोवैज्ञानिक' और 'वैज्ञानिक' इन पारिभाषिक शब्दों से नहीं होता। यहाँ पर वैज्ञानिक आलोचना से हमारा अभिप्राय विज्ञान की पुस्तकों की आलोचना से है।

विज्ञान जिज्ञासा-प्रवृत्ति का फल है। यह जिज्ञासा अव्यावहारिक होती है और इसका निर्देश स्वयं वस्तुओं की ओर होता है। ऐसी जिज्ञासा की पूर्ति से ही सत्य की प्राप्ति संभव होती है।

यूनानी तत्ववेत्ता कहा करते थे कि विज्ञान की उत्पत्ति आश्चर्य से हुई। किन्तु यह ठीक नहीं है। जिस क्रम से ज्ञान की वृद्धि हुई उस क्रम में आश्चर्य का स्थान बाद में हुआ है। विज्ञान की उत्पत्ति का कारण मन की बेचैनी है। जब मनुष्य ने अपने को चारों ओर पदार्थों से घिरा हुआ पाया तो उन पदार्थों में उसने असम्बद्धता का अनुभव किया। इस घबराहट को दूर करने की कोशिश के फलस्वरूप उसने पदार्थों को एक-दूसरे से इस प्रकार सम्बद्ध किया कि वे एक दूसरे को सुदृढ़ करने लगे। इस प्रवणता ने, मानसिक जीवन में, पदार्थों का [illegible] के हेतु, अवलोकन संभव किया और विज्ञान के निर्माण की नींव डाली।

विज्ञान का उद्देश्य पदार्थों को सुव्यवस्थित करना और उनमें एकता दिखाना है। कला का उद्देश्य भी पदार्थों में एकता दिखाना है। विज्ञान और कला दोनों ही क्रियात्मक उद्देश्य के विचलन हैं। जब मन अपने ही में से आये हुए तत्त्वों का अपने उपादान में प्रवेश करने का प्रयास करता है तो क्रियात्मक प्रवृत्ति [illegible] होकर मन को उपादान में ध्यानपरायण कर देती है और कला [illegible] संभव करती है। विज्ञान में वही क्रियात्मक प्रवृत्ति पदार्थों में [illegible] करने के उद्देश्य से विकृत होती है। अन्तर केवल इतना है कि [illegible] आकार होते हैं और विज्ञान में उपादान इन्द्रिय-[illegible] होते हैं। फिर, कला में कलाकार अपने आधार में ऐसे तत्त्वों का [illegible] देता है जो उस आधार के स्वभाव के बाहर होते हैं, अर्थात् [illegible] आधार और [illegible] को [illegible] है; इसके विपरीत विज्ञान [illegible] है जिसके साथ वैज्ञानिक किसी प्रकार की छेड़-छाड़ [illegible] दूसरी तरह से यों कह सकते हैं कि कला में तो मन [illegible] और विज्ञान में मन केवल साधन-रूप होता है।

की क्षमता होनी चाहिये। भारतीय मत भी इसी पक्ष का है। उद्भट का कहना है कि साहित्य विषय के दो प्रभेद हैं विचारितसुस्थ और अविचारित रमणीय। विचारितसुस्थ दल में सभी शास्त्र आते हैं और अविचारित रमणीय दल में काव्य आता है। ऐसा ही अवन्तिसुन्दरी का मत है,

वस्तु स्वभावोऽत्र कवेरतन्त्रो
गुणा गुणावुक्तिवशेन काव्ये।

अर्थात कवि वस्तु-स्वभाव के अधीन नहीं होता, काव्य में वस्तुओं के दोष या गुण कवि की उक्ति पर ही निर्भर होते हैं। साहित्य वास्तविक सत्य से विमुख होने में जरा भी नहीं हिचकता क्योंकि उसका लक्ष्य अधिक विस्तृत और उच्चतर सत्य है। निष्कर्ष यह है कि कला में वास्तविकता का महत्व नहीं, वास्तविकता का महत्व इतिहास और विज्ञान में है। विज्ञान इतिहासजन्य है। जब इतिहास में विश्लेषण, वर्गीकरण, और नियमों की उपलब्धि होने लगती है तो इतिहास विज्ञान हो जाता है। कला और विज्ञान का अंतर इन शब्दों में दर्शा सकते हैं। गढ़े हुए अथवा परिवर्तित अथवा परिवर्द्धित विषय द्वारा, सूचक (सजैस्टिव) शब्दों में, किसी आदर्श सत्य की अभिव्यञ्जना करना तो साहित्य का सार है; और यथार्थ के तत्वों द्वारा, निश्चयार्थक शब्दों में, ज्ञान की किसी स्वचालित व्यवस्था का निर्माण करना विज्ञान का सार है।

वैज्ञानिक कृतियों की आलोचना वैज्ञानिक आलोचना है और ऐसी आलोचना को हम साहित्यालोचन कदापि नहीं कह सकते। विज्ञान में सबसे अधिक महत्व की बात यह है कि अनुभव के प्रदत्त (डेटा) वास्तविक तथ्य होते हैं। वे यथार्थ के अनुरूप होते हैं। उनका निरीक्षण काम्य बुद्धि से नहीं वरन् निःसंग बुद्धि से होना है। अतः वैज्ञानिक आलोचक का प्रमुख धर्म यही है कि वह देखे कि वैज्ञानिक के प्रदत्त राग, द्वेष और पक्षपात रहित हैं; अपने प्रदत्तों तक पहुँचने तक उसने वैयक्तिक अथवा शास्त्रीय मतों का सहारा तो नहीं लिया। फिर उसे यह देखना है कि वैज्ञानिक के कथनों में तर्कपूर्ण संबंध है या नहीं और वे कथन एक दूसरे का समर्थन करते हैं या नहीं। अन्त में उसे यह देखना है कि उन सब संघटित कथनों की पूर्ण वैज्ञानिक व्यवस्था में अन्तिम नियम को निर्दिष्ट करने की क्षमता है या नहीं। साहित्य के आलोचक को इन सब बातों से कोई मतलब नहीं है। कलाकार वैज्ञानिक विश्लेषण से परे एक उच्चतर संश्लेषण की प्राप्ति का प्रयास करता है। पहले वह अपने मन को वासना रहित करता है। फिर वस्तु का सर्वांग आलिंगन करता है। इस क्रिया में उसकी काल्पनिक दृष्टि इतनी प्रबल हो जाती है कि उसे सत्य का सीधा दर्शन हो जाता है। कलाकार वस्तुमय होकर वस्तु का सत्य जानता है। और जिस सत्य का उसे प्रकाश होता है वह वस्तु का सारभूत सत्य होता है, वह उस वस्तु के अस्तित्व के नियम की सिद्धि होती है। जैसे कीट्स ने कहा था, कलाकार किसी पदार्थ के सत्य को उसके सौंदर्य में देखता है। इस विचार से यह स्पष्ट है कि साहित्य की सफल आलोचना के

साहित्य सिद्धान्त नामक लेख में वह बताता है कि साहित्य शब्द संभ्रम का अविरत स्रोत है। यह शब्द दो भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है और इसका एक अर्थ दूसरे अर्थ को गड़बड़ा देता है। प्रचलित अर्थ में तो साहित्य किसी भाषा की सभी ज्ञानात्मक पुस्तकों का द्योतक है परन्तु दार्शनिक भाव से साहित्य उन्हीं पुस्तकों का द्योतक माना जाता है जो शक्ति का संचार करती हैं, जो अंतर्वेगीय अंतर्द्वन्द्व को सुलझाती हैं, और जो आंतरिक ऐक्य की स्थापना करती हैं। दार्शनिक अर्थ में हम नाटक, उपन्यास, कविता, निबन्ध, और आख्यायिका को साहित्य कह सकते हैं; व्याकरण, शब्द-सागर, इतिहास, अर्थशास्त्र, और विज्ञान को साहित्य नहीं कह सकते। प्रभावोत्पादक साहित्य ही शुद्ध साहित्य है, ज्ञानात्मक साहित्य नहीं। प्रभावोत्पादक साहित्य में विषय प्रभाव के अधीनस्थ हो जाता है। कभी-कभी तो विषय प्रभाव में बिल्कुल विलीन हो जाता है। यह हमारे अनुभव की बात है कि निरर्थक शब्दों के प्रवाह से कवि ऐसी छांदिक गति पैदा कर देता है जिसके प्रभाव से सुविकारिता, अंतर्वेगीय प्रफुल्लता और श्रद्धा-भावों की जागृति संभव होती है। इस प्रसंग में संगीत उदाहरणीय है। संगीतज्ञ अर्थ रहित ध्वनियों से ऐसे मर्मस्पर्शी अंतर्वेगों को उत्तेजित कर देता है जैसे कोई दूसरा कलाकार नहीं कर सकता। विज्ञान तो वास्तविकता के पूरे नियंत्रण में होता है, और साहित्य में वास्तविकता से स्वातंत्र्य की क्षमता रहती है। इस बात पर अरिस्टौटिल ने भी जोर दिया था। वह अपनी 'पोइटिक्स' में कवि को इतिहासकार से पृथक करता हुआ कहता है कि इतिहासकार का विषय अव्यापक सत्य है और कवि का व्यापक। एल्कीबिआडीज ने किसी विशेष परिस्थिति में क्या किया यह इतिहास है और अमुक व्यक्ति किसी विशेष परिस्थिति में क्या करेगा यह काव्य है। अतः कवि अपनी वस्तु आप रचता है और इसी गुण के कारण अरिस्टौटिल कवि के यूनानी अर्थ, रचयिता (पोइट) का समर्थन करता है। अर्थात कवि वस्तु की रचना करता है, अतः वह रचयिता है। कभी-कभी कवि जीवन वस्तु को भी अपना लेता है जब कि जीवन वस्तु में कल्पनात्मकता होती है। परन्तु उसे सदा उपयुक्त असंभवता को अनुपयुक्त संभवता से अधिक श्रेष्ठ मानना चाहिये। वर्ड्सवर्थ और कोलरिज की बातों में भी यही पता चलता है कि काव्य में वास्तविकता का कोई महत्व नहीं है। वास्तविक और अवास्तविक दोनों ही प्रकार की वस्तु काव्य में आ सकती है। परन्तु जब वास्तविक वस्तु काव्य में आये तो उस पर कल्पना का इतना गहरा रंग चढ़ा दिया जाय कि वास्तविक वस्तु अवास्तविक दीख पड़े और जब अवास्तविक वस्तु काव्य में आये तो उस के तत्त्वों को सांवेगिक तर्क से इस प्रकार संगत कर दिया जाय कि अवास्तविक वस्तु वास्तविक दीख पड़े। इसी से कोलरिज ने कहा था कि काव्यग्राही में अनास्था स्थगित करने की क्षमता होनी चाहिये। आई० ए० रिचर्ड्स ने इसी उक्ति का संशोधन करते हुए कहा कि काव्यग्राही में अनास्था ही नहीं किन्तु आस्था को भी स्थगित करने

है और सांसारिक जीवन से पृथक् नहीं होने पाता। परन्तु काव्य के लिये किसी विशेष ज्ञान की सामग्री अनावश्यक है। काव्य का आनंद तो मनुष्य केवल मानव-गुण-संपन्न होने भर से ही पाता है और किसी विशेष दार्शनिक व्यवस्था से संकुचित होकर तो कवि अपनी प्रतिभा को अवरुद्ध ही करता है। शेक्सपिअर ने कब किसी दार्शनिक व्यवस्था का सहारा लिया था और क्या वह दुनिया के कवियों में अद्वितीय नहीं माना जाता? कहने का सार यह है कि साहित्य का आलोचक ऐसे कवि को जिसने ज्ञान विपयक सामग्री का उपयोग किया है और ऐसे कवि को भी जिसने ऐसी सामग्री का उपयोग नहीं किया है, दोनों ही को कलामीमांसा (एस्थेटिक) के मानदण्डों से जाँचेगा; परन्तु उसे उस कलाकार को भी कलामीमांसा के मानदण्डों से जाँचना होगा जिसका विपय तो ज्ञान-संबंधी है, परन्तु जिसने उस विपय के प्रतिपादन को ओजपूर्ण और अलंकारयुक्त बनाया है।

इतिहास की आलोचना भी साहित्यालोचन नहीं है।

इतिहास की आलोचना तीन अवस्थाओं में होकर गुजरी है। पहले वह लाक्षणिक अथवा रूपकात्मक थी, फिर नैतिक हुई, और फिर धीरे-धीरे तार्किक हुई। इतिहास को जीवन के अलौकिक सिद्धान्तों से और उसे नैतिक और ईश्वर-शास्त्रविपयक विचारों से मुक्त करने में और फलत: उसे वैज्ञानिक रूप देने में तीन ओर से सहायता मिली। भौतिक विज्ञानों से इतिहासकारों को नियम और व्यवस्था की बुद्धि आई, तत्त्वज्ञान से उन्हें ऐक्य की सूझ हुई, और प्रजातंत्रवाद से उन्हें स्वमत्तासक्त (डॉग्मैटिक) आदेशों के असहन की सीख मिली। धीरे-धीरे अनुसंधान की तुलनात्मक पद्धति ने इतिहास के वैज्ञानिक अध्ययन को उत्तेजना दी। भापा-विज्ञान और उत्क्रान्तिवाद ने भी वहुत सी ऐतिहासिक घटनाओं में तार्किक सम्बद्धता दिखाई। दो आधुनिक सिद्धान्त और, सामान्य का सिद्धान्त (द डॉक्ट्रिन ऑफ एव्रेजैज) और निर्णायक उदाहरणों का सिद्धान्त (द डॉक्ट्रिन ऑफ क्रूशल इन्स्टैन्सैज), भी इतिहास को वैज्ञानिक वनाने में भारी महत्त्व के साबित हुए। सामान्य के सिद्धान्त ने तो इतिहास के निश्चल (स्टैटिक) तत्त्वों को स्पष्ट किया, और भौतिक परिस्थितियों का जो प्रभाव मनुष्य के जीवन पर पड़ता है उसे उदाहरणीकृत किया; और निर्णायक उदाहरणों के सिद्धान्त ने मौलिन किगनौन की खोपड़ी के अकेले उदाहरण द्वारा इतिहासपूर्वकालीन पुरातत्त्वविद्या (प्रीहिस्टॉरिक आरकिऑलॉजी), एक नये विज्ञान की स्थापना में मदद दी और वह स्थिति साक्षात् की जव मनुष्य पापाण-काल में मैमथ और ऊनी गैंडों का समकालीन था।

इतिहास में हेतुवादी प्रक्रिया का स्पष्टीकरण दैनिक पत्रलेखन-कला के विकास से किया जा सकता है। पत्र पहले समाचार देता था, फिर समाचारों का संग्रह और सम्पादन धीरे-धीरे पूर्वनिश्चित विचारों के नेतृत्व में

लिये आलोचक सौंदर्य के रूप से और सौंदर्य शास्त्र के सिद्धान्तों से पूर्णतया अभिज्ञ हो।

उपर्युक्त विवेचन से प्रतीत होता है कि विज्ञान और साहित्य अलग-अलग किये जा सकते हैं। वास्तव में ऐसा सर्वदा संभव नहीं है। ऐसे कवि हैं जिन्होंने दार्शनिक व्यवस्थाओं का अपनी कविताओं में प्रयोग किया है। ल्यूक्रेशस ने अपनी 'डे रेरम नेचरा' में एपीक्यूरस के आणविक सिद्धान्त को ग्रहण किया है। इस कविता में कवि ने यह सिद्ध किया है कि देवताओं का भय मिथ्या है। संसार की रचना और गति बिना उनके हस्तक्षेप के सुबोध है। डान्टे की 'डिवायना कोमेडिया' तो सेन्ट टामस की कैथोलिक नीति का कहीं-कहीं तो केवल शब्दांतरकरण है। ईसाई मत में मनुष्य के पतन का जो वृत्तान्त है वह और टोलेमी की ज्योतिष-विद्या-विषयक व्यवस्था ही मिल्टन के 'पेरेडाइज लॉस्ट' के आधार हैं; हां कभी-कभी कापरनीकस की ज्योतिष का प्रभाव भी दृष्टि गोचर होता है। दूसरी ओर ऐसे वैज्ञानिक हुये हैं जिन्होंने अपनी कृतियों को साहित्यिक मनोहारित्व प्रदान किया है। बेकन ने अपनी 'नोवम ऑरगेनम' में वैज्ञानिक खोज की आगमनात्मक पद्धति का विवरण दिया है। लेखन शैली लोकोक्ति पूर्ण है और उन भ्रान्तियों का जिनसे आगमन दूषित हो जाता है, बड़ा सजीव चित्रण है। डार्विन की 'ऑरीजिन ऑफ स्पीशीज' उसके धैर्य और सूक्ष्म निरीक्षण का साक्षी तो है ही परन्तु जिस निर्भीक और साहसी कल्पना से उसने विकासवादी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है उससे कोई पढ़नेवाला अप्रभावित नहीं रह सकता। एच० जी० वेल्स की 'आउटलाइन ऑफ हिस्ट्री' उसकी प्रतिभा के चमत्कार से दीप्त है। उसकी राजनीतिक धारणा है कि मानव जाति एक है और वह समय जल्द आ रहा है जब संपूर्ण मानव जाति का एक राष्ट्र होगा और जीवन की सारी असुविधाएँ दूर हो जायेंगी। संस्कृत और हिन्दी में भी ऐसे बहुत से ग्रन्थ हैं जिनके विषय, ज्योतिष दर्शन, व्याकरण, वैद्यक, इतिहास और पौराणिक कथाएँ हैं। उदाहरण 'वैद्य जीवन,' 'गीता,' 'भागवत,' 'भट्टिकाव्य,' 'रुक्मिणी-मंगल,' 'भ्रमर गीत' 'पृथ्वीराज रासो,' और 'रास पंचाध्यायी' हैं। इन सब ग्रन्थों का उद्देश्य तो ज्ञान का संचार ही है परन्तु ग्रन्थकारों ने अपनी वर्णन शैली से इन्हें ऐसा रोचक बना दिया है कि पढ़ने वाले उस आनन्द का अनुभव करने लगते हैं जो रसपरिपाक से उत्पन्न होता है।

चाहे कवि अपनी कविता में किसी ज्ञान विषयक सामग्री का प्रयोग करे और चाहे कोई ज्ञान विषयक लेखक अपने लेख को कलामय रूप-सौष्ठव से सुसज्जित करे यह स्पष्ट है कि सत्य की अनुभूति उसी प्रकार संभव है जैसे कि सौंदर्य अथवा कल्याण की। इसमें संदेह नहीं सत्य की अनुभूति कवि को ज्यादा होती है और वैज्ञानिक या इतिहासकार को कुछ कम। टी० एस० इलियट का कथन है कि वह कवि उच्चतर कोटि का है जो अपनी कविता में किसी दार्शनिक व्यवस्था का प्रयोग करता है। दार्शनिक व्यवस्था के उपयोग से कवि सचेत रहता

है और सांसारिक जीवन से पृथक् नहीं होने पाता। परन्तु काव्य के लिये किसी विशेष ज्ञान की सामग्री अनावश्यक है। काव्य का आनंद तो मनुष्य केवल मानव-गुण-संपन्न होने भर से ही पाता है और किसी विशेष दार्शनिक व्यवस्था से संकुचित होकर तो कवि अपनी प्रतिभा को अवरुद्ध ही करता है। शेक्सपिअर ने कब किसी दार्शनिक व्यवस्था का सहारा लिया था और क्या वह दुनिया के कवियों में अद्वितीय नहीं माना जाता? कहने का सार यह है कि साहित्य का आलोचक ऐसे कवि को जिसने ज्ञान विषयक सामग्री का उपयोग किया है और ऐसे कवि को भी जिसने ऐसी सामग्री का उपयोग नहीं किया है, दोनों ही को कलामीमांसा (एस्थेटिक) के मानदण्डों से जाँचेगा; परन्तु उसे उस कलाकार को भी कलामीमांसा के मानदण्डों से जाँचना होगा जिसका विषय तो ज्ञान-संबंधी है, परन्तु जिसने उस विषय के प्रतिपादन को ओजपूर्ण और अलंकारयुक्त बनाया है।

इतिहास की आलोचना भी साहित्यालोचन नहीं है।

इतिहास की आलोचना तीन अवस्थाओं में होकर गुजरी है। पहले वह लाक्षणिक अथवा रूपकात्मक थी, फिर नैतिक हुई, और फिर धीरे-धीरे तार्किक हुई। इतिहास को जीवन के अलौकिक सिद्धान्तों से और उसे नैतिक और ईश्वर-शास्त्रविषयक विचारों से मुक्त करने में और फलतः उसे वैज्ञानिक रूप देने में तीन ओर से सहायता मिली। भौतिक विज्ञानों से इतिहासकारों को नियम और व्यवस्था की बुद्धि आई, तत्त्वज्ञान से उन्हें ऐक्य की सूझ हुई, और प्रजातंत्रवाद से उन्हें स्वमत्तासक्त (डॉग्मैटिक) आदेशों के असहन की सीख मिली। धीरे-धीरे अनुसंधान की तुलनात्मक पद्धति ने इतिहास के वैज्ञानिक अध्ययन को उत्तेजना दी। भाषा-विज्ञान और उत्क्रान्तिवाद ने भी बहुत सी ऐतिहासिक घटनाओं में तार्किक सम्बद्धता दिखाई। दो आधुनिक सिद्धान्त और, सामान्य का सिद्धान्त (द डॉक्ट्रिन ऑफ एव्रेजैज़) और निर्णायक उदाहरणों का सिद्धान्त (द डॉक्ट्रिन ऑफ क्रूशल इन्स्टैन्सैज), भी इतिहास को वैज्ञानिक बनाने में भारी महत्त्व के साबित हुए। सामान्य के सिद्धान्त ने तो इतिहास के निश्चल (स्टैटिक) तत्त्वों को स्पष्ट किया, और भौतिक परिस्थितियों का जो प्रभाव मनुष्य के जीवन पर पड़ता है उसे उदाहरणीकृत किया; और निर्णायक उदाहरणों के सिद्धान्त ने मौलिन क्गिनौन की खोपड़ी के अकेले उदाहरण द्वारा इतिहासपूर्वकालीन पुरातत्त्वविद्या (प्रीहिस्टॉरिक आरकिऑलॉजी), एक नये विज्ञान की स्थापना में मदद दी और वह स्थिति साक्षात् की जब मनुष्य पाषाण-काल में मैमथ और ऊनी गैंडों का समकालीन था।

इतिहास में हेतुवादी प्रक्रिया का स्पष्टीकरण दैनिक पत्रलेखन-कला के विकास से किया जा सकता है। पत्र पहले समाचार देता था, फिर समाचारों का संग्रह और सम्पादन धीरे-धीरे पूर्वनिश्चित विचारों के नेतृत्व में

फा०—२

होने लगा। अब प्रत्येक पत्र की एक नियत नीति हो गई है। इसी प्रकार ऐतिहासिक घटनाओं का संग्रह और उन का सम्पादन भी इतिहासकारों ने पहिले नैतिक और फिर वैज्ञानिक विचारों के नेतृत्व में किया। शुरू से ही इतिहास के विषय में दो मत रहे हैं। पहला मत तो यह है कि इतिहास एक कला है, जिसके अंतिम हेतु उसके बाहर हैं। संसार की छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी घटनाओं के पीछे दैविक प्रेरणाएँ निहित हैं। यह प्लेटो का मत है। दूसरा मत यह है कि इतिहास एक सुसंगठित शरीर की भाँति है, जिसके विकास के नियम उसके भीतर ही हैं और जो अपनी साधारण गति ही में अपनी संपूर्णता प्राप्त कर लेता है। यह अरिस्टोटल का मत है। आधुनिक काल में प्रकृतिवाद की वृद्धि के कारण इतिहास का दूसरा मत ही ग्रहणीय है। इस मत का इतिहासकार प्रत्येक अवसर पर बौद्धिक और प्राकृतिक हेतुओं की खोज में रहता है। वह छोटी से छोटी वस्तु को महत्त्वपूर्ण समझता है। उसका क्षेत्र कोई विशेष जाति अथवा देश नहीं होता। वह अपने को सारी मानवजाति और सारे संसार का व्याख्याता मानता है। वह समझता है कि संसार में कोई ऐसी बात नहीं जिसका असर सारे इतिहास पर न पड़ता हो और इसी कारण वह विशेष तथ्य की उपेक्षा करता हुआ व्यापक नियमों का आदर करता है और प्रधान हेतु को गौण हेतु से पहिचानता है। वह जानता है कि जीवन के सब पाठ इतिहास में निहित हैं और उन्हीं को प्रकट कर दिखाना उसका कर्तव्य है। इस प्रकार लिखा हुआ इतिहास ही वैज्ञानिक इतिहास है।

हुआ इतिहास बहुत कुछ निर्दोष है और मैकॉले का इंगलैण्ड का इतिहास इतना निर्दोष नहीं है।

वास्तव में वैज्ञानिक इतिहास इतिहास नहीं है। विज्ञान आध्यात्मिक विषय है और प्रत्यय और नियम पर आधारित है। इतिहास में प्रत्यय और नियम को कोई स्थान नहीं। इतिहास निगमन और आगमन दोनों से इधर की ओर है। कला की तरह उसका आधिपत्य 'यह' और 'यहाँ' पर है। इतिहास मूर्त और वैयक्तिक है, जैसे प्रत्यय अमूर्त और व्यापक है। इसी से इतिहास कला ही के व्यापक प्रत्यय में सम्मिलित है। कभी-कभी यह कुतार्किक बात सुनने में आती है कि इतिहास का उद्देश्य भी व्यक्ति के प्रत्यय की स्थापना करना है, उस व्यक्ति का केवल वर्णन नहीं। परन्तु प्रत्यय व्यापक होता है, क्योंकि वह बहुत से व्यक्तियों के सामान्य गुणों से स्थापित होता है। इतिहास व्यक्तियों से परे जाता ही नहीं। भला अशोक अथवा नैपोलियन का, पुनरुत्थान (अंग्रेजी, रिनेसैन्स) अथवा धार्मिक संशोधन (अंग्रेजी, रिफ़ौर्मेशन) का, फ्रेञ्च क्रान्ति अथवा भारतीय स्वतन्त्रता का क्या प्रत्यय? इतिहासकार इनकी वैयक्तिकताओं का वर्णन ही दे सकता है। नाप-तोल और व्यापकता किसी विषय को वैज्ञानिक व्यवस्था देते हैं और ये दोनों इतिहास में असंगत हैं। वास्तव में इतिहास कला और विज्ञान के मध्य में है। इतिहास को हम विज्ञान कह सकते हैं, क्योंकि उस पर विज्ञान की तरह वास्तविकता का नियंत्रण है; और उसको हम कला भी कह सकते हैं, क्योंकि वह व्यक्तियों और व्यक्तीकरण से निर्दिष्ट है। जब इतिहास वास्तविकता का परित्याग करके मनगढ़न्त और काल्पनिक तथ्यों से किसी व्यक्ति अथवा घटना का चित्रण करता है तो वह कला हो जाता है। सच्चा इतिहास तो किसी व्यक्ति अथवा घटना का विश्वसनीय और यथाभूत चित्रण ही कर सकता है।

सच्चे इतिहास के आलोचक का कर्तव्य यही है कि वह यह बात देखे कि साहित्यकार कहाँ तक अपने विषय को वास्तविक तथ्यों से चित्रित करके उसे मूर्तता और व्यक्तित्व प्रदान कर सका है। साहित्यालोचक इस बात से उदासीन होता है कि तथ्य वास्तविक है या मनगढ़न्त और काल्पनिक। अन्यथा सच्चे इतिहास का आलोचक साहित्य के आलोचक के सदृश ही होता है।

२

द्वितीयतः हम पाठालोचन (टेक्सचुअल क्रिटिसिज्म) का वहिष्कार करते हैं।

पाठालोचन शब्दाकारशास्त्र-संबंधी विषय है। उसका प्रयोग बहुधा ऐसे ग्रन्थों के लिये किया जाता है जो मुद्रणयंत्र के आविष्कार से पहले लिखे गये थे। इनके अतिरिक्त उसका प्रयोग ऐसे ग्रन्थों के लिये भी किया जाता है जो उस काल से पहले लिखे गये थे जब प्रकाशन के आधुनिक नियमों की स्थापना हुई।

अंग्रेज़ी में प्रधानतः चॉसर, स्पेंसर, और शेक्सपिअर की ध्यानपूर्वक पाठालोचना हुई है।

पहले कई सौ वर्ष तक कैक्सटन, टाइन, स्टो, स्पेट, और यूरी इत्यादि सम्पादकों ने चॉसर का पाठ अनालोचनात्मक वृत्ति से स्वीकार किया। इसके पश्चात् अठारहवीं शताब्दी के पिछले भाग में टरह्विट ने अंग्रेज़ी साहित्य-प्रेमियों को चॉसर का आलोचनात्मक संस्करण दिया। टरह्विट ने इस कार्य को बड़े परि-श्रम से किया। पहले उसने चॉसर के पाठ की जितनी प्रतियाँ और प्रतिलिपियाँ मिल सकती थीं इकट्ठा की। फिर उसने चॉसर का और चॉसर के समकालीन और पूर्ववर्ती लेखकों का सचेष्ट अध्ययन किया, और इंगलैण्ड के लेखकों का ही नहीं वरन् फ्रान्स और दूसरे देशों के लेखकों का भी। उसके परिश्रम का अंदाज़ा लगाने के लिये यह याद रखने की बात है कि यह सब अध्ययन हस्तलिखित प्रतियों में हुआ। अन्त में उसने बड़ी सावधानी से चॉसर के पद्यों का संवेदनशील और सुशिक्षित श्रवणेन्द्रिय द्वारा अध्ययन किया। टरह्विट के परिश्रम के परिणाम-स्वरूप ही साधारण पाठक चॉसर को उसके असली रूप में देख सका और जहाँ तक 'कैन्टरबरी टेल्स' की बात है टरह्विट के संस्करण में उस काव्य की पाठक को ठीक प्रतिमा मिली। टरह्विट का सबसे बड़ा अनुसंधान यह था कि अंतिम 'ई' (e) का उच्चारण होता है और वृत्त में उसकी गणना होती है। टरह्विट की विद्वत्ता का लाभ अंग्रेज़ी आलोचकों ने जल्द नहीं उठाया। परन्तु धीरे-धीरे निकॉलस, राइट, मॉरिस, स्कीट, फर्नीवॉल क्रमशः उत्तेजित हुए, और चॉसर सोसाइटी की स्थापना हुई। इस सोसाइटी ने एक ऐसा मान निश्चित किया जिससे चॉसर का पाठ पूर्व-स्थित दशा में लाया गया और जिसने उसे पाठक के लिये समझे जाने और सराहने के लिये सुगम बनाया।

'फ़ेअरी क्वीन' का तृतीय फ़ोलियो १६७६ ई० में प्रकाशित हुआ। इसके अनन्तर १७१५ ई० में ह्यूज़ का प्रथम आलोचनात्मक संस्करण निकला। स्पेंसर की कृतियों के और बहुत से संस्करण निकल चुके हैं जिनमें से डाक्टर मोरर्ट का संस्करण, ग्लोब संस्करण, और ई० डी० सेलिंकोर्ट का संस्करण उल्लेखनीय हैं।

शेक्सपिअर की कृतियों में से 'वीनस एण्ड एडोनिस' और 'ल्यूक्रेसी' उसकी आज्ञा से प्रकाशित हुईं। इनके बहुत से संस्करण कवि के जीवन-काल ही में निकले। इन दोनों कविताओं के अतिरिक्त कोई दूसरी कृति कवि की स्वीकृति अथवा आज्ञा से प्रकाशित नहीं हुई। टॉमस थॉर्प ने १६०६ ई० में शेक्सपिअर के 'सॉनैट्स' को छाप डाला। परन्तु यह संस्करण टॉमस थॉर्प का अनधिकृत साहस था। शेक्सपिअर को इसका पता भी न था, छपाई के पर्यवेक्षण की तो बात ही क्या। उपर्युक्त दोनों कविताएँ और 'सॉनेट्स' पहले-पहल १७६० ई० में मैलोन ने अपने आलोचनात्मक संस्करण में शामिल किए थे। 'रोमियो

एण्ड जूलियेट', 'हैनरी द फ़िफ्थ', 'द मैरी वाइव्ज़ ऑफ़ विन्डसर', और 'हैमलेट' का नाटकमंडली ने स्मृति से पुनर्निमाण किया। और इन पुनर्निर्मित नाटकों को अभिनेताओं ने मुद्रकों और प्रकाशकों के हाथ बेच डाला। पीटर एलेक्ज़ेंडर का कहना है कि 'द टेमिंग ऑफ श्रू' और 'हैनरी द सिक्स्थ' के पिछले दोनों भाग भी इसी प्रकार छपे थे। ये संस्करण अपूर्ण और क्षत-विक्षत थे। इनका प्रचलन रोकने के लिये वे ही नाटक नये संस्करणों में प्रकाशित हुये जो शेक्सपिअर की हस्तलिखित प्रतियों से या नाट्यशाला की प्रतियों से तैयार किये गये थे। ऐसे क्षत-विक्षत नाटकों की बिक्री रोकने के लिये ही 'रिचर्ड द सैकिन्ड,' 'रिचर्ड द थर्ड,' 'लव्ज़ लेबर ज़ लॉस्ट,' 'द मर्चेन्ट ऑफ वेनिस,' 'मिड समर नाइट्स ड्रीम,' 'मच एडो अबाउट नथिंग', 'फर्स्ट हैनरी 'द फोर्थ,' और 'सैकण्ड हैनरी द फोर्थ' निकले। वे सब क्वार्टो में छापे गये। जिन क्वार्टों में क्षत-विक्षत पाठ थे वे 'बैड क्वार्टो' कहलाये और जिनमें यथाभूत पाठ थे वे 'गुड क्वार्टो' कहलाये। 'टाइटस एण्ड्रोनीकस,' 'किंग लीअर,' 'पेरीक्लीज़,' 'ट्रॉयलस एण्ड क्रेसिडा', और 'ऑथेलो' ये पाँच अधिक नाटक क्वार्टो रूप में निकले। इनके पीछे १६२३ ई० का 'फ़र्स्ट फ़ोलियो' प्रकाशित हुआ। 'पेरीक्लीज़' को छोड़ कर जो नाटक क्वार्टो में निकल चुके थे उन सब को 'फ़र्स्ट फ़ोलियो' ने छापा। जो नये नाटक 'फ़र्स्ट फ़ोलियो' ने छापे उनके नाम ये हैं: 'द टैम्पैस्ट,' 'द टू जेंटिलमैन ऑफ़ वेरोना,' 'मैज़र फॉर मैज़र,' 'द कौमेडी ऑफ़ ऐरर्स,' 'ऐज़ यू लाइक इट,' 'ऑल इज़ वेल दैट एण्ड्ज़ वेल,' 'ट्वेल्फ़थ नाइट,' 'द विण्टर्स टेल,' 'द थर्ड पार्ट ऑफ़ हैनरी द सिक्स्थ,' 'हैनरी द एट्थ' 'किंग जॉन,' 'कोरायोलैनस,' 'टाइमन ऑफ़ एथेन्स,' 'जूलियस सीज़र,' 'मैकबैथ,' 'एण्टनी एण्ड क्लियोपैट्रा,' और 'सिम्बैलीन'। फ़र्स्ट फ़ोलियो' १६३२ में फिर से छापा गया। १६६३-६४ में जब 'फ़र्स्ट फ़ोलियो' तिबारा छापा गया तो उसमें 'पेरीक्लीज़' भी छापा गया और इसके अतिरिक्त छः और नये नाटक छापे गये। उनके नाम ये हैं: 'द लण्डन प्रॉडीगल' 'द हिस्ट्री ऑफ टोमस लॉर्ड क्रॉम्वैल,' 'सर जौन ओल्डकासिल,' 'द प्यौरीटन विडो,' 'ए योर्कशायर ट्रैजैडी,' और 'द ट्रैजैडी ऑफ़ लौक्रीन,'। ये छः नाटक प्रायः शेक्सपिअर के नहीं माने जाते यद्यपि कुछ भद्दे प्रकाशक इन नाटकों को शेक्सपिअर का कह कर छाप दिया करते थे। चौथी बार फ़र्स्ट फ़ोलियो १६८५ में छापा गया और इसमें तीसरे संस्करण के बढ़ाये हुये नाटक भी थे। प्रत्येक नया संस्करण अपने पूर्ववर्ती संस्करण से छापा गया था, जिसने पहिले की कुछ अशुद्धियों को संशोधित किया और अपनी ओर से नई अशुद्धियाँ बढ़ा दी। चौथे फ़ोलियो की कुछ विशेषताएँ हैं। इसने अक्षर-विन्यास में आधुनिकता ला दी और वाक्य के आरम्भिक बड़े अक्षरों की संख्या बढ़ा दी। अब तक शेक्सपिअर के नाटकों का पाठ मुद्रकों के हाथ में था। उसकी कृतियों का आलोचनात्मक संस्करण निकालने का पहला गम्भीर प्रयास १७०६ में रो का

हिन्दी में 'रामचरितमानस' सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और लोकप्रिय ग्रंथ है। इसमें उच्च आध्यात्मिक ज्ञान के साथ-साथ कला का अत्यन्त रोचक समन्वय है। इसमें प्रधान रसों की शिष्टतापूर्ण सफल अभिव्यंजना है और रचनाकौशल, भाषाप्रयोग तथा प्रबन्धपटुता में 'मानस' तुलसी की प्रतिभा का उत्कृष्ट उदाहरण है। हिन्दी में ऐसे बहुत कम ग्रंथ हैं जिनमें अनेक साहित्यिक तथा आध्यात्मिक गुणों का एक साथ ही ऐसा उत्कृष्ट समन्वय हो सका हो जैसा 'रामचरितमानस' में हुआ है। इन गुणों के कारण 'मानस' भारत की ही नहीं, अखिल विश्व की उन गिनीचुनी पवित्र पुस्तकों की कोटि में आ जाता है जिन्होंने मानव जाति को सदैव कल्याणमय मार्ग की ओर अग्रसर किया है। अतः स्वाभाविक रूप से इस ग्रंथ के मूल पाठ का निर्धारण बड़ा ही महत्त्व रखता है।

अत्यधिक लोकप्रिय होने के कारण 'रामचरितमानस' की हस्तलिखित प्रतियाँ और उनके आधार पर संपादित संस्करण उत्तरी भारत में इतने अधिक हैं कि उन सब का लेखा लगाना किसी एक व्यक्ति के वश की बात नहीं है। इनमें जो पाठांतर मिलते हैं वे भी कम नहीं हैं; अतः 'मानस' प्रेमियों के मस्तिष्क में उसके मूल पाठ तक पहुँचने की समस्या सदैव ही गूँजती रही है। सं० १९६६ में स्व० पं० शंभुनारायण चौबे ने 'मानस-पाठभेद' शीर्षक एक लेख में बड़े ही परिश्रम से 'मानस' की कई प्रतियों के पाठांतर दिए, किन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है, 'मानस' की पाठसमस्या का सबसे अधिक वैज्ञानिक और संतोपजनक सुलझाव डा० माताप्रसाद गुप्त द्वारा प्रस्तुत हुआ है।

'मानस' के पाठनिर्धारण में गुप्त जी ने छोटी-बड़ी लगभग बीस प्रतियों का उपयोग किया है। पुष्पिकाओं की परीक्षा के अनंतर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि लिपिकाल की दृष्टि से उनमें केवल चार प्रतियाँ वास्तव में प्राचीन कही जा सकती हैं, शेष सभी प्रकट या अप्रकट रूप से प्रायः आधुनिक हैं। इन चार प्रतियों में एक सं० १६६१ में लिखी गई थी और इस समय श्रावणकुंज अयोध्या में है। दूसरी सं० १७०४ में लिखी गई थी और काशिराज के पुस्तकालय में है, तीसरी और चौथी क्रमशः सं० १७२१, सं० १७६२ में लिखी गई थीं, और इस समय भारत-कलाभवन, काशी, में हैं। इन प्रतियों के अतिरिक्त निम्नलिखित मुख्य-मुख्य प्रतियाँ और हैं, जिनका उपयोग गुप्त जी ने अपने अध्ययन में किया है— एक छक्कनलाल की प्रति कही गई है, जो स्वर्गीय महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी के वंशजों के पास है; दूसरी मिर्ज़ापुर की प्रति, तीसरी कोदवराम की प्रति जो 'बीजक' के नाम से गोस्वामी जी की एक शिष्य-परंपरा में बहुत दिनों तक सुरक्षित रही, और जिसे कोदवराम जी ने पहले-पहल सं० १९५३ में वेंकटेश्वर प्रेस बंबई से प्रकाशित करवाया था, और चौथी राजापुर की प्रति कही गई है जो वहाँ के पं० मुन्नीलाल उपाध्याय के वंशजों से उन्हें प्राप्त हुई थी। इनके अतिरिक्त कई प्रतियाँ और भी उन्हें मिली थीं, जिनका उल्लेख यहाँ आवश्यक नहीं है।

संवत् १६६१ वाली प्रति की पुष्पिका में सं० १६६१ की तिथि दी हुई है, जिसे डा० गुप्त ने गणना तथा निरीक्षण के आधार पर जाली ठहराया है। डा० गुप्त ने कई प्रतियों की पुष्पिकाओं का निरीक्षण करके यह दिखाया है कि प्रतियों का महत्त्व बढ़ाने के अभिप्राय से लिपिकाल बदल कर उन्हें तुलसी के जीवन-काल तक खींच ले जाने का इस प्रकार का प्रयत्न बहुत हुआ है।

डा० गुप्त ने पाठांतरों का अध्ययन कर उक्त प्रतियों को चार मुख्य शाखाओं में विभाजित किया है, और उनकी विशेषताओं के आधार पर प्रत्येक की ठीक स्थिति का पता लगाकर उनकी प्रतिलिपि-शृंखला और वंश-परंपरा निर्धारित की है। इस प्रकार के वैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर उन्होंने कुछ ऐसे सिद्धांत स्थिर किए हैं, जिनके अनुसार निर्मित पाठ को हम निरपवाद रूप में तुलसीदास द्वारा प्रदत्त मूल पाठ अथवा उसका निकटतम पाठ मान सकते हैं।

मलिक मुहम्मद जायसी के 'पदमावत' में भी कुछ ऐसी असाधारण विशेषताएं हैं, जिनसे उसने लोकरुचि को विशेष रूप में आकर्षित किया है। इस ग्रंथ के भी अनेक संस्करण हिंदी और उर्दू में निकल चुके हैं, जिनमें अब तक ग्रियर्सन तथा पं० रामचंद्र शुक्ल के संस्करण ही विशेष प्रामाणिक माने जाते रहे हैं। किंतु उनके संपादन में कुछ ऐसी सैद्धांतिक भूलें थीं जिनके कारण पाठ-संबंधी अनेक भ्रांतियों का निराकरण नहीं हो सका था। इनमें मूल में सम्मिलित अनेक अंश ऐसे हैं जो वास्तव में प्रक्षिप्त हैं, और जायसी की क़लम से कभी नहीं लिखे गए। शुक्ल जी के संस्करण में ऐसे तैंतालीस छंद हैं जो वास्तव में प्रक्षिप्त हैं। इनमें से एक वह भी है जो ग्रंथ के अंत में सारी कहानी का गूढ़ार्थ प्रस्तुत करता है, और जिसमें चित्तौर को तन, राजा को मन, सिंहल को हृदय, पद्मिनी को बुद्धि आदि, बताया गया है। इस छंद को लेकर अब तक आलोचकों में बड़ा वितंडावाद चलता रहा है। पुस्तकों के अध्याय के अध्याय केवल इसी के लिये लिखे गए हैं। किंतु डा० गुप्त ने 'पदमावत' की पाठ-संबंधी अनेक भ्रांतियों के साथ ही साथ इस भ्रांति का भी निराकरण कर दिया है। उनके अनुसार यह छंद जिन दो-एक प्रतियों में मिलता हैं, पाठ की दृष्टि से उनकी स्थिति निम्नतम कोटि की है, और अन्य दृष्टियों से भी यह छंद निश्चित रूप से प्रक्षिप्त हैं।

'पदमावत' के पाठ-संशोधन में अनेक उलझनों का सामना करना पड़ता है। उसकी अधिकतर प्रतियाँ फ़ारसी लिपि में मिलती हैं, जिनमें लिपि-दोष के कारण अनेक भ्रांतियाँ समय-समय पर घुसती गई हैं। उर्दू में 'किलकिला' का 'गिलगिला' 'गिरहिं' का 'करहिं', 'फेरि' का 'बहुरि', 'जाइ' का 'बाइ', 'रही' का 'अही' बड़ी आसानी से हो सकता है, फलतः 'पदमावत' में इस प्रकार की सहस्रों विकृतियाँ मिलती हैं। दूसरी कठिनाई यह है कि प्रतियों में संशोधन अत्यधिक हुए हैं: कहीं मिटाकर, कहीं क़लम फेर कर, और कहीं हाशिए पर लिख कर। अधिकतर प्रतियाँ संशोधनों से भरी पड़ी हैं। इससे मालूम होता है कि 'पदमावत'

के प्रतिलिपिकारों के सामने प्रायः उसके एक से अधिक आदर्श रहते थे। इन कठिनाइयों के रहते हुये भी डा० गुप्त ने उसके प्रामाणिक संपादन में अभूत-पूर्व सफलता प्राप्त की है। वे मूलतम प्रति के कितने अधिक निकट पहुँच सके हैं, इसका पता केवल एक ही बात से भली-भाँति लग जाता है। 'पद्मावत' की प्राप्त प्रतियों में केवल तीन को छोड़ कर सभी फ़ारसी या अरबी लिपि में हैं। इन तीन प्रतियों से भी, जो नागरी लिपि में है, लगभग डेढ़ सौ उदाहरण देकर उन्होंने यह सिद्ध किया है कि इनके भी आदर्श फ़ारसी या अरबी लिपि में थे। किंतु अरबी या फ़ारसी की सभी प्रतियों में ऐसे अनेक संकेत विद्यमान हैं जिनके आधार पर उन्होंने सिद्ध किया है कि 'पद्मावत' की जितनी भी प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं—चाहे वे नागरी की हों या फ़ारसी-अरबी लिपि की—सब का मूल आदर्श अर्थात् कवि की प्रति नागरी लिपि में थी। यह एक ऐसा सत्य है जो इतः पूर्व 'पदमावत' के संपादकों में से किसी को नहीं ज्ञात था। यह निर्णय उन्होंने एक दो के आधार पर नहीं, लगभग सत्तर प्रमाणों के आधार पर किया है, जिनमें से केवल दो उदाहरण नीचे दिए जाते हैं:—

'पद्मावत' की एक पंक्ति का निर्धारित पाठ है:—

जनु भुइँचाल जगत महिं परा। कुरुँम पीठ टूटिहि हियँ डरा।

उसकी समस्त प्रतियों में 'कुरुँम' के स्थान पर 'कुरुँभ' है। ऐसी विकृति केवल नागरी मूल रहने से ही हो सकती है, क्योंकि उर्दू-फ़ारसी के 'म' और 'भ' में बड़ा अंतर होता है, और इसके विपरीत नागरी में उनमें परस्पर अत्यधिक साम्य होता है।

'पद्मावत' की एक अन्य पंक्ति का निर्धारित पाठ है:—

रातिहुँ देवस इहै मन मोरे। लागौं कंत 'छार' जेउं तोरे'।

'छार' के स्थान पर समस्त प्रतियों में पाठ 'थार' या 'ठार' है, जो निरर्थक है। पहले देवनागरी में 'छार' ही रहा होगा, फिर 'छ' का 'थ' (जो रूपसाम्य के कारण बहुत ही संभव है) और फिर उर्दू 'थ' का 'ठ' हुआ होगा।

'पद्मावत' का यह संपादन गुप्त जी ने सत्रह प्रतियों के आधार पर किया है, जिनमें से कई विदेशों से प्राप्त की गई हैं और पाठ की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

पाठालोचक के बहुत से काम हैं।

पाठालोचक किसी कृति का रचनाकाल स्थिर करता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये वह अंतर्साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य का उपयोग करता है। अंतर्साक्ष्य में समकालीन घटनाओं का संकेत रहता है और उस तिथि को नियत करता है जिसके पीछे ही कृति की रचना हुई होगी। उदाहरण के लिये 'मैक्बैथ' को लीजिये। उसमें जेम्स

प्रथम के राज्याभिषेक संबंधी बहुत से संकेत हैं। यह राज्याभिषेक १६०३ ई० में हुआ था। स्पष्ट है कि नाटक १६०३ ई० के पश्चात् ही लिखा गया होगा। बहिःसाक्ष्य में उन पुस्तकों की ओर संकेत होता है जिनमें कृति का उल्लेख होता है और जिनका रचनाकाल हम जानते हैं। यह साक्ष्य ऐसी तिथि स्थिर करती है जिससे पहले कृति किसी न किसी रूप में अवश्य वर्तमान थी। उदाहरण के लिये फिर 'मैक्बैथ' को लीजिये। डाक्टर साइमन फ़ोरमैन ने अपनी दिनचर्या में लिखा है कि उन्होंने इस नाटक को ग्लोब थियेटर में १६१० ईस्वी की २० अप्रैल को रंगमंच पर देखा। इस संकेत से हम कह सकते हैं कि नाटक १६१० ई० से पहले वर्तमान था। 'द प्योरीटन' जिसका रचनाकाल १६०७ ई० है बैंकों के भूत का उल्लेख करता है। यह संकेत 'मैक्बैथ' के रचनाकाल को और नीचे खसका देता है। दो और साक्ष्य हैं: पहला, विचारों की पक्वता का; और दूसरा, शैली की प्रौढ़ता का। ये दोनों साक्ष्य पहले दोनों साक्ष्यों को परिपुष्ट करते हैं। उदाहरण के लिये शेक्सपिअर को लीजिये। शेक्सपिअर के पूर्ववर्ती नाटककारों के पद लग गणों के बने होते थे। गैस्कोइन ने इसका बड़ा विरोध किया था, फिर भी इसी गण का प्रयोग चलता गया। शेक्सपिअर ने भी इसी प्रथा का अनुगमन शुरू में किया। पर जैसे जैसे उसकी पदयोजना संबंधी प्रतिभा का विकास हुआ वह लग की जगह गल, गग, लल, सगण, और भगण गणों का प्रयोग करने लगा। एक ही गण का निरंतर प्रयोग पद्य में अरुचि पैदा करता है। शेक्सपिअर ने इस प्रकार लग को जहाँ तहाँ बदलकर अपने पद्य को धीरे-धीरे रुचिकर बनाया। पहले-पहले शेक्सपिअर अर्थ-घटित पद लिखता था। धीरे-धीरे वह प्रवाहक पद लिखने लगा। अपनी पिछली कृतियों में तो प्रवाह बढ़ाने के लिये वह पद के अन्त में सहायक क्रिया, सर्वनाम, और संबन्ध-सूचक शब्दों का भी प्रयोग करने लगा। शेक्सपिअर के प्रारम्भिक नाटकों में ऐसा भी देखा गया है कि या तो पात्र विस्तारपूर्वक कथन करते हैं या वे जल्दी-जल्दी बोलते हैं और प्रत्येक पात्र का कथन एक पूरे पद का होता है। यह व्यवहार शीघ्र छूट गया और पर्याप्त विस्तार के कथन व्यवहृत होने लगे। एक और रोचक परिवर्तन उसकी पदयोजना में आया। वह था पद का ही जहाँ-तहाँ बदल देना। पंचगणात्मक पद की जगह षड्गणात्मक पद का प्रयोग बढ़ता गया और कहीं-कहीं तो एक पद दो पात्रों में बँटने लगा। यदि पहला पात्र अपने कथन का अंतिम भाग द्विगणात्मक पद में समाप्त करता है तो आगामी पात्र अपना कथन त्रिगणात्मक पद से आरम्भ करता है। शेक्सपिअर की पदयोजना का यह विकास उसकी कृतियों के क्रमिक-प्रवाह को निर्धारित करने में बड़ा सहायक साबित हुआ है। शेक्सपिअर की निर्मातृ-प्रतिभा का विकास भी इस सम्बन्ध में उतना ही सहायक सिद्ध हुआ है। मिडिल्टन मरे ने अपनी 'शेक्सपिअर' नामक पुस्तक में यह सिद्ध किया है कि कवि के विचारों और अन्तर्वेगों में पहिले विभाजन था। इसके अनन्तर विचारों और अन्तर्वेगों का एकीकरण कल्पना की अनात्मचेतन स्वयं-प्रवृति से हुआ। उदाहरणार्थ, 'हैनरी द सिक्स्थ', 'रिचार्ड द थर्ड', और 'द

टू जैन्टिलमैन ऑफ़ वैरोना' असहज रूपकों और वाग्मितापूर्ण कथनों से भरे पड़े हैं; स्वजन्य जीवों और घटनाओं से अपनी अन्तरात्मा का सायुज्य करने में कवि असमर्थ था, वह उनका साक्षी सा बना रहता था, उनमें विलीन नहीं हो पाता था। पीटर एलेक्ज़ेण्डर शेक्सपिअर के इस रचनाकाल को रोमन शैली से प्रभावित मानता है। इस काल में कवि ने नाटकीय घटनाएँ रोमन अथवा ब्रिटेन के अर्द्ध पौराणिक इतिहास से लीं, और अपने पात्रों की रचना इन्हीं घटनाओं के आधार पर की। जैसे-जैसे उसकी प्रतिभा का विकास हुआ वैसे-वैसे असहज-रूपक सहज होते गये और वाग्मितापूर्ण कथन स्वाभाविक होते गये। धीरे-धीरे काव्य और नाटक का ऐसा सामञ्जस्य हुआ कि सजीव पात्रों और विश्वास्य घटनाओं की सृष्टि हुई और समस्त कृत्रिमता लुप्त हो गई। इसी तरह नाटकीय द्वन्द्व-निरूपण धीरे-धीरे आध्यात्मिक गहराई पाता गया। नाटक में परिस्थिति और पात्र में द्वन्द्व होता है। जब पात्र परिस्थिति पर विजय पा लेता है तो हास्य (कोमेडी) की सृष्टि होती है और जब परिस्थिति पात्र को परास्त कर देती है तो करुण (ट्रैजेडी) की सृष्टि होती है। यह द्वन्द्व शेक्सपिअर के 'हास्य' में पहले तो कायिक स्तर पर है, फिर शनैः शनैः नैतिक और आध्यात्मिक स्तर पर आ जाता है। शेक्सपिअर के पिछले हास्यों में नायिका द्वन्द्व को आशा, श्रद्धा, और प्रेम से अपने सुख में परिणत कर लेती है। ऐतिहासिक नाटकों में शेक्सपिअर पहले मानव-संघर्ष का प्रदर्शन करता था। धीरे-धीरे उसे ऐतिहासिक घटनाओं में संवेगों की संभवनीयता का आभास हुआ और मानवीय समस्याओं में सार्वभौमिक समस्याएँ और सांसारिक योजनाओं में विश्व-योजनाएँ प्रतिबिंबित देखने लगा। इसी तरह करुण द्वन्द्व में परिस्थिति के अपार बल से परास्त नायक को व्यथित देखकर धीरे-धीरे उसकी अन्तरात्मा ऐसी प्रभावित हुई कि वह जीवन और भाग्य के गूढ़तम रहस्यों तक पहुँच गया।

भारत में अंतरंग परीक्षा तो प्रायः ग्रंथके मर्म, रहस्य, मथितार्थ, और प्रमेय ढूँढ़ निकालने तक सीमित रही है। ग्रन्थ का काल-निर्णय बहिरंग परीक्षा से किया जाता है। इस उद्देश्य से यह देखा जाता है कि ग्रन्थ की भाषा की ऐतिहासिक दशा कैसी है। उसमें किन-किन मतों, घटनाओं, और व्यक्तियों का उल्लेख है। उसमें व्यक्त विचार स्वतन्त्र हैं, अथवा बाहर से लिये गये हैं; और यदि बाहर से लिये गये हैं तो कहाँ से। उसमें लेखक की शैली प्रौढ़ है अथवा अप्रौढ़। इस प्रकार 'भगवद्गीता' के आर्ष प्रयोगों पर ध्यान जाने से कुछ आधुनिक पंडितों का अनुमान है कि 'गीता' की रचना ईसा से कई सौ वर्ष पहिले हुई होगी। क्योंकि 'गीता' में नास्तिक मत का उल्लेख है, कुछ पंडित समझते हैं कि 'गीता' बौद्ध धर्म के पीछे लिखी गई होगी। युद्ध क्षेत्र में सारी 'गीता' सुनाना असंभव सी बात है; श्रीकृष्ण ने थोड़े से श्लोकों का भावार्थ अर्जुन से कह दिया होगा, और वे ही श्लोक पीछे से विस्तार पा गये होंगे। 'गीता' में 'ब्रह्मसूत्र' का भी उल्लेख है; इसलिये 'गीता' 'ब्रह्मसूत्र' के बाद बनी होगी। परन्तु क्योंकि 'ब्रह्मसूत्र' में कई जगह

'गीता' का आधार लिया गया है 'गीता' 'ब्रह्मसूत्र' के पहिले ही का ग्रन्थ होगा पीछे का नहीं। ऐसे विचार गीता' का रचना-काल स्थिर करने में सहायक होते हैं।

तुलसीदास की रचनाओं का काल-क्रम विद्वानों ने अपने-अपने विचारों के अनुसार भिन्न-भिन्न दिया है। तुलसीदास की रचनाओं में आठ तो प्रबन्ध-ग्रन्थ हैं और पाँच संग्रह-ग्रंथ हैं। इनमें से चार प्रबन्ध-ग्रन्थों का काल स्वयं तुलसीदास ने दे दिया है। 'रामाज्ञा प्रश्न' में सं० १६२१, 'रामचरितमानस' में सं०१६३१, 'सतसई', में सं० १६४१ और 'पार्वतीमंगल' में सं० १६४३ दिए हुए हैं। डा० माताप्रसाद गुप्त ने अपने डी० लिट्० के निबंध 'तुलसीदास' में छंद-योजना, वक्ता-श्रोता-परंपरा तथा कथावस्तु के मूलभूत आधारों की दृष्टि से 'राम-चरितमानस', का विश्लेषण करके यह सिद्ध किया है कि ग्रंथ का जो स्वरूप अब हमारे सामने है वह कम से कम तीन विभिन्न प्रयासों का परिणाम है। ग्रन्थ भर में कुछ अंश ऐसे हैं जो कथा-क्रम में परस्पर घनिष्ठ संबंध रखते हैं और अन्य अंशों से इतने भिन्न जान पड़ते हैं कि उनमें विभाजक रेखाएँ सर-लता से खींची जा सकती हैं। डा० गुप्त का विचार है कि प्रथम प्रयास में बालकांड का उत्तरार्द्ध और अयोध्याकांड संपूर्ण लिखा गया था। द्वितीय प्रयास में पहले बालकांड की प्रथम पैंतीस चौपाइयों को छोड़कर लगभग शेप सभी चौपाइयों की रचना हुई, फिर अरण्य कांड और किष्किंधाकांड की रचना होकर क्रमशः सुंदरकांड, लंकाकांड, और उत्तरकांड के अधिकांश लिखे गए होंगे। तीसरे और अंतिम प्रयास में बालकांड की पहली पैंतीस चौपाइयाँ जोड़ कर सारे ग्रन्थ को अन्तिम रूप देने के लिये पहले के आकार में कुछ घटा-बढ़ी की गई होगी।

शेप ऐसे ग्रंथों का जिनमें कवि ने किसी तिथि का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है रचना-काल निर्धारित करने के लिए उन्होंने अपने उपर्युक्त निबंध-ग्रंथ में विभिन्न युक्तियों का आश्रय लिया है। कुछ रचनाओं के निर्माण-काल का अनुमान उन्होंने ज्योतिप-संबंधी उल्लेखों अथवा तत्कालीन ऐतिहासिक वृत्तों के विवरणों से लगाया है। उदाहरण के लिए 'दोहावली' में रुद्रबीसी का उल्लेख है, जो गणना से सं० १६५६ से सं० १६७६ तक के बीच पड़ती है। 'कवितावली' में इसी प्रकार रुद्रबीसी के अतिरिक्त मीन के शनि का उल्लेख है, जो ज्योतिप के अनुसार सं० १६६६ तथा सं० १६७१ के बीच में घटित होता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न रचनाओं की प्राचीनतम हस्तलिखित प्रतियों में दी हुई तिथियों, विपय-निर्वाह और शैली के अध्ययन के सहारे तथा अन्य अनेक दृष्टियों से प्रत्येक रचना का विश्लेपण करके उन्होंने कालक्रम तथा अवस्था-क्रम के अनुसार कवि की रचनाओं को निम्नलिखत चार समूहों में विभाजित किया है। (जैसा हम ऊपर देख चुके हैं 'रामाज्ञाप्रश्न,' 'रामचरितमानस' 'सतसई'

तथा 'पार्वतीमंगल' के अतिरिक्त सभी ग्रन्थों की तिथियाँ इस प्रकार केवल अनुमानसिद्ध हैं ) :—

अ. प्रारंभिक (सं० १६११—२५)

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| (१) रामलला नहछू | सं० १६११ | अवस्था | लगभग | २२ वर्ष |
| (२) वैराग्यसंदीपनी | सं० १६१४ | ” | ” | २५ ” |
| (३) रामाज्ञाप्रश्न | सं० १६२१ | ” | ” | ३२ ” |

आ. मध्यकालीन (सं० १६२६—४५)

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| (१) जानकीमंगल | सं० १६२७ | ” | ” | ३८ ” |
| (२) रामचरितमानस | सं० १६३१ | ” | ” | ४२ ” |
| (३) सतसई | सं० १६४१ | ” | ” | ५२ ” |
| (४) पार्वतीमंगल | सं० १६४३ | ” | ” | ५४ ” |

इ उत्तरकालीन (सं० १६४६—६०)

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| (१) गीतावली | सं० १६५३ | ” | ” | ६४ ” |
| (२) विनयपत्रिका | सं० १६५३ | ” | ” | ६४ ” |
| (३) कृष्णगीतावली | सं० १६५८ | ” | ” | ६९ ” |

ई. अंतिम और अपूर्ण (सं० १६६१—८०)

(१) बरवा
(२) दोहावली
(३) कवितावली (हनुमान बाहुक सहित)

पाठालोचक किसी कृति के आधारों का पता लगाता है। यह बड़ा मनोरंजक विषय है कि शेक्सपिअर के 'टेमिग ऑफ द श्रो' का 'द टेमिंग ऑफ़ ए श्रो' से क्या सम्बन्ध है। क्या पिछला नाटक पहले नाटक के आधार पर लिखित है अथवा वह एक पुराना नाटक है जिसे शेक्सपिअर ने अपने हास्य के लिये आधार रूप में ग्रहण किया। यह अध्ययन बड़ा मनोरंजक है कि 'मैक्बैथ' में शेक्सपिअर कहाँ तक मौलिक है, कहां तक वह केवल इतिहास का प्रयोग करता है, और कहां तक वह पौराणिक इतिहास, हालि-शेड, और स्कॉटलैण्ड के मौलिक इतिहासकारों का ऋणी है। यह भी बड़ा रोचक होगा कि शेक्सपिअर के 'हैम्लेट' का [illegible], [illegible], 'किड्स हैम्लेट', और जर्मन के अपरिष्कृत नाटक 'डर बेस्ट्राफ्टे ब्रुडरमॉर्ड' से संबंध स्थापित किया जाय और पिछले नाटक के आलो-[illegible] में हैम्लेट के चरित्र की इस असंगत बात का स्पष्टीकरण किया जाय कि वह स्वभाव से निराशावादी होता हुआ क्यों पोलोनिअस के [illegible] दर्शन करता है। पाठालोचक यह भी निश्चित करता है कि [illegible] कौन है; और यदि उसके निर्माता बहुत से लेखक हैं तो यह

निश्चित करना है कि प्रत्येक लेखक का उस संयुक्त निर्माण में क्या भाग है। हमें हेन्सलो का साक्ष्य प्राप्त है और आधुनिक अनुसन्धान भी इस बात को पुष्ट करता है कि एलीज़ैबेथ के समय में एक ही नाटक के रचयिता तीन या चार हुआ करते थे। संयुक्त रचना स्वाभाविक सी बात थी। कारण ये थे कि नये नाटकों की बड़ी माँग थी; प्रत्येक नाट्यशाला अपना स्वतंत्र नाटककोष रखती थी; कम्पनिओं में बड़ी होड़ रहती थी; और दर्शकों की संख्या सीमित थी। यह बात अब सर्वमान्य है कि शेक्सपिअर ने अपना जीवन पुराने नाटकों के पुनर्निर्माण से प्रारंभ किया और समकालीन नाटककारों के सहयोगी के रूप में समाप्त किया। फिर भी बहुत दिनों तक संदेह के रहते हुए भी 'फर्स्ट फ़ोलियो' शेक्शपिअर की प्रामाणिक ग्रंथावली मानी जाती थी। जे० एम० रौबर्टसन का ही पहला प्रगल्भ कार्य था जब उसने इस प्रामाणिक ग्रंथावली का विश्लेषण किया और क्षेपकों का निर्देश किया। शेक्सपिअर के पाठ में बहुत से ऐसे अंश हैं कि जिन को देख कर आलोचक लोग कह देते थे कि इसमें या तो शेक्सपिअर ने अपने पूर्ववर्ती नाटककारों का अनुकरण किया है या वे कवि की अपरिपक्व प्रतिभा के कारण निम्न श्रेणी के प्रतीत होते हैं। परन्तु रौबर्टसन ने अपनी बौद्धिक सूक्ष्मता से यह दिखाया कि इन अंशों पर दूसरे लेखकों की लेखन-शैली की पूरी छाप है। और यदि हम शेक्सपिअर का विश्लेषण न करें तो हम उसे अपमानित करने के अपराधी होंगे। रौबर्टसन एक सूक्ष्मदर्शी पाठालोचक है। एक शैली को दूसरी शैली से पहचान लेने में बड़ा दक्ष है। शेक्सपिअर की कृतियों का और उसके समकालीन तथा पूर्ववर्ती लेखकों का उसे बड़ा सही और विस्तृत ज्ञान है। तनिक से सादृश्य के संकेत पर ही अन्य नाटककारों के समरूप उदाहरणों का उसे स्मरण हो जाता है। बस, पद्यात्मक असामान्यता, वाक्सरणि, और विचार-संबंधी विशेषताओं के आधार पर रौबर्टसन यह निर्णय करता है कि 'टाइटस एण्ड्रोनीकस' पील, ग्रीन, किड, और मार्लो का मिश्रित काम है। शेक्सपिअर तो केवल पुनर्निरीक्षण का उत्तरदायी है। 'टाइमन' में जो भाग शेक्सपिअर लिखित नहीं मालूम होता है वह चैपमैन लिखित है। उसका निर्णय राबर्टसन यों करता है कि 'टाइमन' में संसार पर दोषारोपण करने वाली अन्योक्तियाँ, कृत्रिम रूपक, और वाक्यरचना-संबंधी पद-शून्यताओं की भरमार है; और ये सब ऐब चैपमैन के हैं। 'ट्रौयलस और क्रेसिडा' में भी जहाँ यूलीसिस के लम्बे-लम्बे कथन आते हैं वहाँ चैपमैन का ही हाथ मालूम होता है क्योंकि चैपमैन अपने नाटकों में कार्यगति को भूलकर प्रबंध-व्याख्याओं में विलीन हो जाता है। शेक्सपिअर के चौदह हास्यों में रौबर्टसन 'ए मिड समर नाइटस ड्रीम' को ही उसका पूरा लिखा हुआ मानता है यद्यपि डोवर विल्सन इसमें भी तीन भिन्न व्यक्तियों की रचनाओं का समन्वय समझता है। पुरानी कृतियों में मिश्रित रचना तो है ही, इसके अतिरिक्त उनमें अनधिकृत क्षेपक भी हैं। शेक्सपिअर स्वयं इस बात का संकेत करता है जब हैम्लेट

फर्स्ट प्लेअर को 'द मरडर ऑफ़ गॉनजेगो' में अपने हाथ की लिखी हुई बारह या सोलह पंक्तियाँ मिला देने का आदेश देता है। इसी तरह 'डॉक्टर फॉस्टस' में बर्ड और रोली के क्षेपकों का समावेश है; और 'मैक्बैथ' में कनिंघम के मतानुसार, मिडिल्टन और शायद रोली या जार्ज विल्किन्स के क्षेपक हैं। स्वजनित रचना को क्षेपकों से अलग करना भी पाठालोचक का ही काम है।

आलोचनात्मक वार्तालाप में एक ख्यातिप्राप्त आलोचक ने लेखक से कहा कि यदि हिन्दी से संस्कृत का इतिवृत्त निकाल दिया जाय तो हिन्दी का प्रबंध-काव्य करीब-करीब अस्तित्वहीन हो जाय। यद्यपि इस कथन में अत्युक्ति है, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्राचीन काल से अब तक हिन्दी संस्कृत की ऋणी रही है। इतिवृत्त बाहर से लेने की प्रथा संस्कृत से ही चली आ रही है। कालिदास-कृत 'शकुन्तला' और हर्ष-कृत 'नैषध' की कथावस्तु 'महाभारत' से आई है, हिन्दी में 'भ्रमरगीत', 'सूर-सागर' और 'रास-पंचाध्यायी' का वस्तु-निर्वाचन 'भागवत' से हुआ है; 'रत्नाकर' कृत 'गंगावतरण' और 'हरिश्चन्द्र' वाल्मीकीय 'रामायण' पर आधारित है और मैथिलीशरण कृत 'जयद्रथ-वध' 'महाभारत' पर अवलम्बित है। तुलसीदास स्वयं स्वीकार करते हैं कि उनकी 'रामचरितमानस' पुराने ज्ञान का निष्कर्ष है। उन्होंने वाल्मीकीय 'रामायण' 'अध्यात्म-रामायण', 'श्रीमद्भागवत', 'प्रसन्नराघव' और 'हनुमन्नाटक' का विशेप सहारा लिया। इनके अतिरिक्त अनेक संस्कृत ग्रंथों के स्फुट श्लोकों के छाया-नुवाद भी उनकी रचना में मिलते हैं। 'रामचरितमानस' की लोकप्रियता के कारण इसके संस्करण बहुतायत से हुए, और सम्पादकगण अपनी रुचि के अनुसार ग्रंथ में क्षेपक लेते गये। इन क्षेपकों का आलोचनात्मक अध्ययन बड़ा रोचक है। अयोध्याकांड के तापस-विषयक क्षेपक को सुलझाना बड़ी कठिन समस्या का सामना करना है। यह क्षेपक शैली में तुलसीदास का सा मालूम होता है और समस्त प्रामाणिक प्रतियों में मिलता भी है। परन्तु इससे कथा-प्रवाह में रुकावट पड़ती है, और एक रचना-कौशल-संबंधी नियम को भी यह भंग करता है। अयोध्या कांड में आम तौर से छंद पच्चीसवें दोहे के बाद आता है, और इस स्थल पर छंद छब्बीसवें दोहे के बाद है। अतः अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि यह प्रसंग स्वतः कवि द्वारा ग्रंथ की समाप्ति के अनन्तर मिलाया गया था।

पाठालोचक का मुख्य काम पाठ का ऐसा संशोधन करना है कि फिर से मूल पाठ स्थापित हो जाय। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए आलोचक हस्तलिखित प्रतियों के साक्ष्य का सहारा लेता है। इस साक्ष्य को आलोचक पाठक के सामने इस तरह उपस्थित करता है कि वह उन प्रमाणों को जिन पर पाठ आधारित

है भलीभाँति समझ जाय और सम्पादक की निर्णयात्मक पटुता का उसे पूरा भरोसा हो जाय।

उन्नीसवीं शताब्दी तक सम्पादक सबसे अच्छी हस्तलिखित प्रति की खोज में रहता था। जब उसे ऐसी प्रति मिल जाती थी, तो उसके आधार पर वह पाठ का मनमाना संशोधन कर डालता था। इस प्रक्रिया में सबसे अच्छी प्रति की शुद्धियों अथवा अशुद्धियों की कोई परीक्षा नहीं की जाती थी; और यद्यपि बहुत से टोल सीधे पड़ जाते थे, बहुत से बेतुके भी जाते थे। सन् १८४२ ई० में कार्ल लैकमैन ने 'न्यू टेस्टामेन्ट' के संस्करण में पाठपरीक्षा की सुनिश्चित पद्धति प्रतिपादित की। इस पद्धति के अनुसार पहले पाठ की प्रतियों का पुनर्निरीक्षण किया जाता है, फिर पाठ की शुद्धि की जाती है।

पहले सम्पादक जितनी भी हस्तलिखित प्रतियाँ पा सकता है इकट्ठा करता है। उनकी तिथियों का अन्वेषण करता है। प्रतियों के पाठ की कड़ी जाँच करता है। सूक्ष्म से सूक्ष्म मिटे हुए शब्दों, शून्य स्थानों, खरोंचे या दुबारा लिखे हुए अक्षरों को ध्यान से देखता है।

इस प्रकार पाठान्तरों की परीक्षा करता हुआ प्रतियों का संतुलन करता है। हस्तलिखित प्रतियाँ संतुलन के पश्चात् कुछ एक कक्षा में, कुछ दूसरी कक्षा में, कुछ तीसरी कक्षा में, और अन्य प्रतियाँ अन्य कक्षाओं में बँट जाती हैं। हर एक कक्षा की संतुलित प्रति हस्तलिखित असली प्रति की नक़ल मानी जाती है। इन संतुलित प्रतियों का फिर वर्गीकरण होता है; और ऐसे वर्गीकरणों द्वारा मूल प्रति से उत्पन्न कल्पित वंशों का अनुमान लगाते हुए, संपादक कवि की प्रति के पाठ तक पहुँचने का प्रयास करता है।

'कैन्टरबेरी टेल्स' की मूल प्रति इसी प्रकार निर्णीत हुई। यह पुस्तक सत्तर से अधिक हस्तलिखित प्रतियों में वर्तमान है, जिनमें से बहुत सी अपूर्ण हैं। इन सत्तर में से केवल सात प्रतियाँ मुद्रित हुई हैं, और इन सातों में से भी तीन प्रतियाँ बेकार सी हैं। चार अच्छी प्रतियाँ एल्समेअर, कैम्ब्रिज, हेङ्गवर्ट, और हार्लियन प्रतियाँ हैं। इन चारों में से कैम्ब्रिज, हेङ्गवर्ट, और हार्लियन प्रतियाँ भी बहुत संतोषजनक नहीं हैं, परन्तु उनमें जहाँ-तहाँ पाठ श्रेष्ठतम हैं, जिनकी सहायता से चौथी प्रति, एल्समेअर प्रति, का पाठ ठीक किया गया है। एल्समेअर प्रति ही सर्वोत्तम प्रति है। इस प्रति में शब्दों की वर्णरचना शुद्ध है, यही प्रति अत्यंत होशियारी से संपादित है; और इन दोनों गुणों के कारण यही प्रति आजकल के सब संस्करणों के पाठ का आधार है। पुनर्निरीक्षण से प्राप्त मूलप्रतियों के 'कैन्टरबेरी टेल्स' से भी अधिक सुन्दर उदाहरण लैकमैन संपादित 'न्यू टैस्टामेन्ट' रोबिन्सन संपादित टैसीटस की 'जरमैनिका' और पैरी संपादित 'फेबिल्स' हैं।

मूल प्रति को पाकर उसका असली रूप निश्चित करने के उद्देश्य से संपादक फिर उसकी परीक्षा करता है। वह प्रमाण से बताता है कि मूल प्रति के वंशज

किस प्रकार विकृत हो गये, कहाँ पाठ परिवर्द्धित है और कहाँ पाठ संक्षिप्त है; मूल प्रति स्वयम् कैसे अक्षरों में लिखी हुई थी, अक्षर छोटे थे या बड़े; मूल प्रति का विषय अर्थानुसार विभाजित हुआ था या सारा विषय अखण्ड लिखा हुआ था; क्या मूल प्रति के हाशियों पर अथवा पंक्तियों के बीच में पाठार्थ पर टीका-टिप्पणियाँ तो नहीं लिखी हुई थीं? इस जाँच के बाद संपादक यह देखता है कि पाठ कहाँ मौलिक और कहाँ अमौलिक है।

मौलिक पाठ के निर्णय में 'कठिनतर पाठ' का सिद्धान्त बड़ा सहायक होता है। नक़ल करने वाला सादृश्य के आधार पर कठिन शब्द को आसान शब्द में बदल देता है। ऐसे मौक़े पर संपादक को बिना खटके कठिनतर पाठ ग्रहण करना साधारणतः उपयुक्त माना गया है। उदाहरण के तौर पर 'बुक ऑफ़ कॉमन प्रेअर्स' के प्रचलित पाठ "टिल डेथ अस डू पार्ट" को लीजिये। यहाँ डू पार्ट का पाठ नकल करने वाले ने विकृत कर दिया है। असली पाठ डिपार्ट है। नक़ल करने वाला डिपार्ट के प्राचीन अर्थ को नहीं समझता था। पहले पार्ट के अर्थ में डिपार्ट का प्रयोग होता था।

कुछ अन्य उदाहरण डा० माताप्रसाद गुप्त द्वारा संपादित 'जायसी-ग्रंथावली' से लीजिए। 'पद्मावत' के पैंतालीसवें दोहे की एक पंक्ति है:

गिरि पहार पब्वै गहि पेलहिं। बिरिख उपारि झारि मुख मेलहिं।

'पब्वै' प्राकृत का शब्द है, जिसका अर्थ 'पर्वत' होता है। शब्द के इस प्राचीन रूप से अपरिचित होने के कारण लिपिकारों ने, यहाँ तक कि संपादकों ने भी, इसका पाठ विकृत कर दिया है। कुछ प्रतियों में 'पब्वै' के स्थान पर 'परबत' कुछ में 'परबै' और किसी-किसी में बिलकुल ही न समझने के कारण 'हस्ती' पाठ मिलते हैं। इसी प्रकार उसके अठत्तरवें दोहे की एक पंक्ति का निर्धारित पाठ है:

कहेसि पंखि खाधुक मानवा। निठुर ते कहिअ जे पर मँसुखवा।

इनमें 'मानवा' ( मानव ) और 'मँसुखवा' ( मांस खाने वाले ) के ठीक अर्थों से अपरिचित होने के कारण लोगों ने इन शब्दों की बड़ी कपालक्रिया की है। कुछ प्रतियों में इनके पाठ क्रमशः 'खाधुक मन लावा' 'मँसुखावा', कुछ में 'खाधुक मावा', 'मावा' कुछ में 'का दुक्ख जनाया', 'खावा', और कुछ अन्य में 'खाधुक मनआवा', 'मावा' मिलते हैं; दो एक में तो 'खाधुक मन लावा', 'खाधुक अस मो मन मनावा' तक मिलते हैं। पुनः इसी प्रकार उसके एक सौ सत्तावनवें दोहे की एक पंक्ति में 'मद्दनारंभ' ( मंथनारंभ ) के स्थान पर 'मथन आरंभ', 'मदन अरंभ', 'मद्दों अरंभ', 'मद्दनारंध', 'मद्दलारंभ' आदि अनेक भ्रमात्मक पाठ मिलते हैं। इन विकृतियों का कारण यही है कि प्रतिलिपिकार अपरिचित शब्द को बदलने की चेष्टा करता है।

इस पुनर्निरीक्षण द्वारा प्राप्त पाठ को भी मूल पाठ नहीं माना जायगा, और अब सम्पादक को यह देखना होगा कि पाठ कहाँ सत्य है और कहाँ असत्य; और जहाँ असत्य है, वहाँ वह उसे ठीक करे। यही संशोधन-क्रिया है।

डब्ल्यू० डब्ल्यू० ग्रेग ने अपने 'प्रिन्सिपिल्स ऑफ़ एमेन्डेशन' नामक व्याख्यान के शुरू में कहा है कि संशोधन का केवल एक सिद्धान्त है, और वह यह है कि उसका कोई सिद्धान्त नहीं है। संशोधन वहुधा आकस्मिक सूझ है। 'मैक्बैथ' में 'फ़र्स्ट फ़ोलियो' का यह पाठ है :

> आई डेयर डू आल दैट मे विकम ए मैन
> हू डेयर्स नो मोर इज़ नन।[1]

रो ने दूसरी पंक्ति में नो (no) की जगह डू (do) पढ़ा और एक अक्षर वदलने से शेक्सपिअर के भाव को व्यक्त कर दिया। 'एन्टनी और क्लोपैट्रा' में फ़ोलियो का पाठ यह है :

> फ़ार हिज़ वाउण्टी,
> देयर वाज़ नो विण्टर इन्'ट; ऐन एन्टोनी इट वाज़
> दैट ग्र्यू दि मोर वाई रीपिंग।[2]

थियोवोल्ड ने 'ऐन एण्टोनी इट वाज़' (an Anthony it was) की जगह 'ऐन आटम ट्वाज़ (an autumn t'was) पढ़ा, और एक निरर्थक पाठ को सार्थक वना दिया। इसी प्रकार 'हैमलेट' में 'फ़ोलियो' पाठ था :

> फ़ॉर इफ़ दि सन ब्रीड मैगॉट्स इन ए डेड डॉग, वीइंग ए गुड किसिंग केरियन,— हैव यू ए डॉटर ?[3]

वार्वर्टन ने गुड (good) की जगह गॉड (God) पढ़ा। इस संशोधन पर जॉनसन ने वार्वर्टन की आलोचन-शक्ति की वड़ी प्रशंसा की। जॉनसन वॉसवेल की आलोचनात्मक प्रेरणा से भी वहुत आश्चर्यचकित हुआ। जॉनसन ने वॉसवेल से सर मैकेन्ज़ी की कृतियों की पहली पुस्तक में एक जगह ग़लती पाने के लिये कहा। गद्यांश वह था जहां कहा गया है कि शैतान जवाव देता है 'इविन इन एंजिल्स'

---

१. I dare do all that may become a man,
Who dares no more is none.

२. Far his bounty,
There was no winter in't, an Anthony it was
That grew the more by reaping.

३. For if the sun breed maggots in a dead dog, being a good kissing carrion,—Have you a daughter?

( even in engines ) । बॉसवेल ने झट से इविन ( even ) की जगह एवर ( ever ) और एंजिन्स ( engines ) की जगह एनिग्माज़ ( enigmas ) किया। जॉनसन ने विस्मय में कहा, 'महाशय, आप श्रेष्ठ आलोचक हैं। यदि आप किसी पुराने ग्रंथ में ऐसी पाठ-शुद्धि करते, तो आपके लिये यह एक बड़ी बात होती।'

यद्यपि पाठ-शुद्धि किन्हीं स्पष्ट नियमों का पालन नहीं करती तो भी उसे बिल्कुल बिना अटकल का टोल नहीं कह सकते। कभी-कभी ध्वनि-सादृश्य ही से सम्पादक को संकेत मिल जाता है। उदाहरणार्थ, 'मैक्बैथ' के 'फ़ोलियो' पाठ वेवार्ड (wayward) ने थियोबोल्ड को वीयर्ड (weird) का संकेत दिया। वीयर्ड ( weird ) एलीज़ैबैथ के काल में वेवार्ड (wayward) के समान दो अंशों का माना जाता था, और दोनों शब्दों का उच्चारण एक सा ही था। उन सम्पादकों को जो 'फ़ोलियो' के वेवार्ड ( wayward ) पाठ का पोषण करते हैं कनिंघम यह उत्तर देता है कि शेक्सपिअर की जादूगरनियाँ वैसी ही थीं जैसी वे हॉलिन्शैड और विन्ट्न में वर्णित हैं, थ्री वीयर्ड सिस्टर्स ( three weird sisters )। इस तरह की दूसरी प्रसिद्ध पाठशुद्धि बुलेन की है, जहाँ एक अक्षर का भी परिवर्तन नहीं करना पड़ा। 'फ़ॉस्टस' के सबसे पहले संस्करण का ऑनकेमियान (oncaimion ) पाठ बाद के संस्करणों में ऐकोनोमी ( oeconomy ) प्रकट होता है। इस स्थल पर मनन करने से बुलेन को यह सूझा कि पाठ में कोई अशुद्धि नहीं है। यह वास्तव में अरिस्टॉटल का वाक्यांश 'ऑन कि मि ऑन' (on ki mi on अर्थात्, सत् और असत्) है जिसे उसने अपनी एक कृति के नाम के लिए प्रयोग किया था। यही वाक्यांश अज्ञानवश साथ-साथ लिख गया।

कभी-कभी कवि की पदयोजना सम्पादक को पाठ-शुद्धि में सहायक होती है। 'रिचर्ड द सैकिन्ड' में एक स्थल पर ऐसा पाठ है :

द सेटिंग सन एण्ड म्युज़िक ऐट द क्लोज़,
ऐज़ द लास्ट टेस्ट ऑफ़ स्वीट्स इज़ स्वीटेस्ट लास्ट,
रिट इन रिमैम्ब्रेन्स मोर दैन थिंग्स लांग पास्ट।[1]

स्टॉथर्डमन ने दूसरी पंक्ति में अंत के अर्द्ध-विराम को हटा कर 'स्वीटेस्ट' (sweetest ) के बाद रख दिया और उस पंक्ति का प्रवाह तीसरी पंक्ति में कर दिया, जिससे लास्ट ( last ) रिट ( writ ) का क्रियाविशेषण हो गया। इस प्रकार शेक्सपिअर का लय और उसका भाव दोनों ठीक हो जाते हैं। 'फ़ोलियो' के अनुसार लास्ट (last) को स्वीटेस्ट (sweetest) से संबन्धित करने में पुनरुक्ति

---

[1] The setting sun and music at the close,
As the last taste of sweets is sweetest last,
Writ in remembrance more than things long past.

दोष आ जाता है, क्योंकि लास्ट ( last ) का भाव स्वीटेस्ट ( sweetest ) में उपस्थित है। कुछ संपादक 'फोलियो' पाठ की रक्षा इस अनुमान पर करते हैं कि शेक्सपिअर इस समय पद्योजना में अर्थघटित था और प्रवाहित पंक्तियाँ नहीं लिखता था। यह अनुमान निराधार है।

कभी-कभी प्रसंग से पाठ-शुद्धि की सूचना मिलती है, जैसे कि थियोबोल्ड ने 'मैक्बैथ' में शोल ( shoal ) के स्थान में स्कूल ( school ) से पाठ-शुद्धि की है। फिर भी केवल प्रेरणा ही ठीक पाठ शुद्धि के लिए काफी नहीं है। जिस शब्द या जिन शब्दों से पाठ-शुद्धि की जाय वे विकृत पाठ को भलीभाँति स्पष्ट कर दें। जॉनसन के 'सिजानस' का १६१६ के 'फोलियो' से आगे यह पाठ था :

हिज स्माइल इज मोर दैन ए'र पोयेट्स फेन्ड
ऑफ़ ब्लिस, एण्ड शेड्स, नेक्टार।[1]

रौवर्टसन का विचार है कि यथास्थित पाठ के अनुसार अर्थ और वृत्त दोनों असम्भव हैं और शेड्ज, नेक्टार ( shades, nectar ) की जगह हेबीज नेक्टार (Hebe's nacter) पढ़ने की योजना करता है। उन दिनों की अंग्रेजी की लिपि में 'H' और 'b' का 'sh' और 'd' पढ़ा जाना बड़ा आसान था। पाठालोचक को किसी विशेष काल की प्रचलित लिपि-शैलियाँ परखने में बड़ी होशियारी होनी आवश्यक है। 'हैनरी द फिफ्थ' में जहाँ मिसिज क्विकली फाल्सटाफ की मृत्यु का वर्णन करती है वहाँ पाठ है, 'एण्ड ए टेब्ल ऑफ ग्रीन फील्डस' (And a table of green fields) इस पाठ के लिये थियोबोल्ड की पाठ-शुद्धि, 'एण्ड ए बैवल्ड आफ ग्रीन फील्डस' (and a babbled of green fields) सर्वमान्य है। शेक्सपिअर ने कई जगह वह के लिये अ (a) का प्रयोग किया है और उस समय की लिपि शैली में 'babld' आसानी से टेब्ल 'table' पढ़ा जा सकता था।

डोवर विल्सन संपादकीय काम बड़ी ईमानदारी से करता है। संशोधन करने से पहले पाठ की पुरानी सब प्रतियों का निरीक्षण अच्छी तरह कर लेता है। हैमलेट के स्वगतवचन में 'फोलियो' का पाठ 'टू, टू सौलिड फ्लेश' (too, too solid flesh ) है और हैमलेट के पहले दोनों 'क्वार्टो' में सौलिड (solid) के स्थान में सैलीड (sallied) पाठ है। क्योंकि दूसरे 'क्वार्टो' में एक जगह सलीज् (sullies) के बजाय सैलीज (sallies) का पाठ मुद्रित है, यह अनुमान होता है कि दोनों क्वार्टो में सलीड ( sullied ) के बजाय सैलीड ( sallied ) छप गया है। बस शुद्ध पाठ सलीड (sullied) बैठता है और सलीड (sullied)

[1]. His smile is more than e'er poets feigned
Of bliss, and shades, nectar.

का 'फ़र्स्ट फ़ोलियो' के संपादकों ने सौलिड (solid) कर दिया। नीचे वाले उदाहरण में पोलोनिअस के एक कथन में 'फ़ोलियो का पाठ यह है :

हैज़र्ड सो नीअर अस ऐज़ डथ आवर्ली ग्रो
आउट ऑफ हिज़ ल्यूनसीज़।[1]

ल्यूनेसीज़ (lunacies) की जगह डोवर विल्सन ब्रोल्स (browls) पढ़ने का प्रस्ताव करता है क्योंकि 'क्वार्टो' में पाठ ब्राउज़ (browes) है। एक और दूसरे उदाहरण में 'फ़ोलियो' पाठ यह है :

आर ऑफ़ अ मोस्ट सिलैक्ट एण्ड जैनेरस चीफ़ इन दैट।[2]

आफ़ ए (of a) पाठ की पुष्टि दोनों क्वार्टो करते हैं। परन्तु डोवर विल्सन का ख़याल है कि यहाँ असली पाठ ऑफ़िन (often) था और अक्षर जोड़ने वाले ने इसे आफ़ ए (of a) कर दिया। रूप-सादृश्य और वृत्त-विचार से ऑफ़िन (often) का पाठ बिल्कुल ठीक पड़ता है। संपादन-कार्य में डोवर विल्सन की निष्पक्षता सराहनीय है। संपादक को ऐसे विचारों से पथभ्रष्ट न होना चाहिये कि अमुक पाठ सुगम होगा अथवा श्रवणप्रिय होगा अथवा भाव में सुन्दर होगा। जहाँ पर पाठ अशुद्ध है वहाँ पर सम्पादक का कार्य सुधार नहीं बल्कि वास्तविक पाठ का प्रत्यानयन है। 'मैक्बैथ' के प्रथम अंक में रोस के कथन में यह पाठ है :

ऐज़ थिक ऐज़ टेल
कैन पोस्ट विद् पोस्ट एण्ड एव्रीवन डिड बीयर
दाइ प्रेजेज़ इन हिज़ किंगडम्स ग्रेट डिफ़ेन्स।[3]

यहाँ कैन (can) का संशोधन रो केम (came) करता है। यह माननीय है। परन्तु उसका टेल (tale) के स्थान में हेल (hail) पढ़ना माननीय नहीं, क्योंकि टेल (tale) से उतना ही संतोषजनक अर्थ निकलता है जितना हेल (hail) से। 'ट्रॉयलस एण्ड क्रेसिडा' में 'फ़ोलियो' पाठ के अनुसार क्रेसिडा कहती है :

सी, सी, योर साइलेन्स
कमिंग इन डम्बनेस।[4]

---

१. Hazard so near us as doth hourly grow
Out of his lunacies.

२. Are of a most select and generous chief in that.

३. As thick as tale
Can post with post, and every one did bear
Thy praises in his kingdom's great defence.

४. See, see your silence,
Coming in dumbness...

पोप यहाँ कमिङ्ग (comming.) के स्थान में कनिङ्ग (cunning) पढ़ता हैं। यह व्यर्थ है। कमिङ्ग (comming) शेक्सपिअर के समय में 'कपटी' और 'ढीठ' के अर्थ में प्रयोग किया जाता था। 'ट्वेल्फ्थ नाइट' में कैप्टिन का कथन है :

फॉर हूज़ डीयर लव
दे से शी हैथ एब्ज्योर्ड द साइट
एण्ड कम्पनी आफ़ मेन।[1]

यहां न तो लव (love) के लिये वॉकर का संशोधन लॉस (loss) ग्राह्य है और न हैन्मर का साइट एण्ड कम्पनी (sight and company) के लिये संशोधन कम्पनी एण्ड साइट (company and sight) ग्राह्य है। कारण यह है कि यथास्थित पाठ सुबोध है।

परन्तु हस्तलिखित पाठ का सुबोध होना भी इस बात का निश्चय नहीं कि पाठ ग्रन्थकार सम्मत है। आर० डब्ल्यू० चैपमैन इसके परिपोषण में जॉनसन के 'जरनी टू द वैस्ट्रन आइलेन्ड्ज़' से दो उदाहरण प्रस्तुत करता है। पहला गद्यांश इस प्रकार छपा है :

टु डिसार्म पार्ट आफ़ द हाइलैण्ड्स, कुड गिव नो रीज़नेबिल अकेज़न ऑफ़ कम्प्लेण्ट। एव्री गवर्नमेण्ट मस्ट बी एलाउड द पावर ऑफ़ टेकिंग अवे द ट्रीज़न दैट इज़ लिफ़्टेड अगेंस्ट इट।[2]

यहाँ पर ट्रीज़न (treason) पाठ सुबोध है, परन्तु यह जॉनसन का प्रयुक्त शब्द प्रतीत नहीं होता। चैपमैन की राय में जॉनसन का शब्द वैपन (weapon) था। जॉनसन के हाथ की लिखावट में वैपन (weapon) आसानी से ट्रीज़न (treason) पढ़ा जा सकता था। दूसरा गद्यांश इस तरह छपा है :

वालण्टरी सालीट्यूड वाज़ द ग्रेट आर्ट आफ़ प्रोपिशियेशन, बाइ ह्विच क्राइम्स वेयर एफ़ेस्ड ऐण्ड कान्शेन्स वाज़ अपीज्ड।[3]

यहाँ चैपमैन का विचार है कि जॉनसन ने ऐक्ट ऑफ़ प्रोपिशिएशन (act of propitiation) लिखा था न कि आर्ट ऑफ़ प्रोपिशिएशन (art of

---

१. For whose dear love
They say she hath abjur'd the sight
And company of men.

२. To disarm part of the Highlands, could give no reasonable occasion of complaint. Every Government must be allowed the power of taking away the treason that is lifted against it.

3. Voluntary solitude was the great art of propitiation, by which crimes were effaced and conscience was appeased.

propitiation) क्योंकि एकांतवास को वह कला नहीं कह सकता था। उसका कहना है कि सी ( c ) में आर ( r ) की भ्रांति होना बड़ी साधारण सी बात है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि पाठ नक़ल करने वालों और संपादकों द्वारा विकृत और भ्रष्ट होता है और विकृत और भ्रष्ट, अज्ञानवश ही नहीं परन्तु दुरुपयुक्त-ज्ञानवश भी होता है। तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' अवधी भाषा में लिखा था और उसी भाषा के शब्द, वाक्यरचना-सम्बन्धी नियमों और मुहावरों का प्रयोग किया था। उनके बहुत से शब्द अर्द्धतत्सम हैं। उन्हें नक़ल करने वालों ने और संपादकों ने तत्सम कर दिया है; जैसे स्रुति को श्रुति, महेस को महेश, बरखा को वर्षा, कारन को कारण, जोनि को योनि, जस को यश, दसरथ को दशरथ और कौसल्या को कौशल्या। प्राचीनता की रक्षा बहुत कम प्रतिलिपिकारों और संपादकों ने की है। इस तरह की पाठ-शुद्धि ज्ञान के दुरुपयोग से हुई है।

नीचे 'रामचरितमानस' तथा 'पद्मावत' से कुछ स्थल दिये जाते हैं, और उनके स्थलों पर पाठ-निर्धारण के अन्य सिद्धान्त स्पष्ट किये जाते हैं। ये सभी उदाहरण डा० माताप्रसाद गुप्त द्वारा संपादित उक्त दोनों ग्रन्थों से दिये गये हैं।

'रामचरितमानस' की सं० १७२१ वाली ऊपर बताई गई प्रति में बालकांड की एक चौपाई का पाठ है :

हंसहिं बक गादुर चातक ही। हंसहिं मलिन खल बिमल बतकही।

शेष प्रतियों में 'गादुर' के स्थान पर 'दादुर' पाठ मिलता है। 'हंस' से तुलना के लिए जिस प्रकार पक्षिवर्ग से 'बक' लिया गया है उसी प्रकार 'चातक' की तुलना के लिए पक्षिवर्ग के 'गादुर', अर्थात 'चमगादर' का लिया जाना समीचीन जान पड़ता है। 'चातक' और 'गादुर' की परस्पर विपरीत रहन-सहन और आचरण प्रसिद्ध है : चातक मरते समय तक अपनी चोंच ऊपर आकाश की ओर उठाए रहता है, उसकी वृत्ति ऊर्ध्वमुखी रहती है; और गादुर सदैव अपना मुँह नीचे की ओर लटकाए रहता है, उसकी वृत्ति इसीलिये अधोमुखी मानी जाती है। 'चातक' और 'दादुर' में इस प्रकार की समानता और विपरीतता नहीं है; समानता इन दोनों में यही है कि दोनों वर्षा के जल से सुखी अन्यथा उसके लिये पिपासार्त रहते हैं, और विषमता यह है कि चातक की बोली मधुर और और दादुर की कर्कश होती है। इस प्रकार 'गादुर' पाठ ही अधिक समीचीन है।[1]

बालकांड की एक अन्य चौपाई का सामान्य पाठ है :

झाँझ भेरि डिंडिमी सुहाई। सरस राग बाजहिं सहनाई।

१. माताप्रसाद गुप्त : 'रामचरितमानस का पाठ', भाग १, पृ० ३१

'भेरि' के स्थान पर छक्कनलाल की प्रति का पाठ 'बीन' है। बीन के साथ झांझ, डिंडिभी, और सहनाई जैसे शोर करने वाले बाजे ग्रन्थ में कहीं नहीं आए हैं, यह तो भेरी के साथ ही मिलते हैं। तुलनीय स्थल निम्नलिखित हैं :[1]

बीना बेनु संख धुनि द्वारा। २-३७-५।
बाजहिं ताल पखाउज बीना। ६-१-६।
झांझ मृदंग संख सहनाई। भेरि ढोल डिंडिभी सुहाई। १-२६३-१।
मधुकर मुखर भेरि सहनाई। ३-३८-६।
मुखहिं निसान बजावहिं भेरी। ६-३६-१०।
बाजहिं भेरि नफीरि अपारा। ६-४१-३।
भेरि नफीरि बाज सहनाई। ६-७६-६।

बालकांड की एक और चौपाई लीजिये, जिसका सामान्य पाठ है :

कर कुठारु मैं अकरुन कोही।

सं० १६६१ की प्रति में 'कर' के स्थान पर 'खर' पाठ मिलता है। 'खर' पाठ से कुठार की स्थिति कहाँ है, अथवा वह किसका कुठार है, इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता, और प्रसंग में ही 'कर कुठार' का प्रयोग अन्यत्र भी मिलता है, 'खर कुठार' का नहीं। यथा :

कटि मुनि बसन तून दुइ बाँधे। धनु सर कर कुठार कल काँधे। १-२६७-४

इसलिये 'कर' पाठ 'खर' की अपेक्षा अधिक प्रासंगिक और प्रयोगसम्मत प्रतीत होता है।[2]

अयोध्याकांड की एक चौपाई का सामान्य पाठ है :

कैकेई भव तनु अनुरागे। पांवर प्रान अघाइ अभागे।

सं० १७६२ की प्रति में 'पांवर' के स्थान पर 'पावन' पाठ आता है। अन्यत्र भी इस प्रकार के प्रसंग में 'पांवर' शब्द ही आया है, जैसे :

ऐसेउ बचन कठोर सुनि जौं न हृदय बिलगान।
तौ प्रभु बिषम बियोग दुख सहिहहिं पांवर प्रान। २-६७

और 'पांवर' का यह प्रयोग 'प्रान' की ही भाँति 'जीव', 'नर' आदि समानार्थी प्रयोगों के साथ भी मिलता है, इसलिये उसकी समीचीनता प्रकट है। किंतु 'पावन' का प्रयोग कहीं भी 'प्रान' या उसके समानार्थियों के विशेषण रूप में नहीं हुआ है, इसलिए वह प्रयोगसम्मत नहीं है। इसके अतिरिक्त प्रान तनु

---

1. वही, भाग २, पृ० २५९
2. वही, भाग २, पृ० ३०९

अनुरागे कहे गए हैं, इसलिए उनका 'पांवर' होना ही अधिक युक्तियुक्त है, पावन होना नहीं।

अयोध्याकांड की ही एक दूसरी चौपाई का सामान्य पाठ है :

चंदिनि कर कि चंडकर चोरी।

छक्कनलाल की प्रति में 'चंडकर' के स्थान पर 'चंदकर' पाठ है। 'चंदकर चोरी' का अर्थ होगा 'चंद्रमा की चोरी' किंतु इस प्रकार के अर्थ के लिए 'कर' के स्थान पर 'कै' या 'कइ' का प्रयोग होना चाहिए था, क्योंकि 'चोरी' स्त्रीलिंग है। इसलिए 'चंदकर' पाठ शुद्ध नहीं है। 'चंडकर चोरी' में समास है, यथा नीचे के 'परत्रिय चोरी' में :

हमहु सुनी कृत परत्रिय चोरी। ६-२२-५

इसलिए उसमें यह अशुद्धि नहीं है। दूसरे चंद की चोरी की अपेक्षा चंडकर, अर्थात, सूर्य की चोरी कुछ और असम्भव भी है, इसलिए प्रसंग में असम्भावना की ध्वनि के लिए वह उसकी अपेक्षा अधिक उपयुक्त भी है।[1]

लंकाकांड की एक पंक्ति का सामान्य पाठ है :

कोटिन्ह आयुध रावन डारे।

'डारे' के स्थान पर कोदवराम वाली प्रति में 'मारे' पाठ है। 'डारना' के प्रयोग 'आयुध' कर्म के साथ अन्यत्र भी मिलते हैं :

सक्ति सूल तरवारि कृपाना। अस्त्र सस्त्र कुलिसायुध नाना।
डारइ परसु परिघ पापाना। लागेउ वृष्टि करइ बहु बाना।
६-७३-३२

सर सक्ति तोमर परसु सूल कृपान एकहि वारहीं।
करि कोप श्री रघुबीर पर अगनित निसाचर डारहीं।
३-२०

प्रभु बिलोकि सर सकहिं न डारी। २-१६-१
अस्त्र सस्त्र सब आयुध डारे। ६-५१-६

'मारना' का प्रयोग एक मात्र बाण के साथ हुआ है :

दस दस बिसिख उर मांझ मारे। ३-२०
तब सर पुनि मारा उर माहीं। ६-८३-७
तब सत बान सारथी मारेसि। ६-६१-१[2]

उत्तरकांडकी एक चौपाई का पाठ कोदवराम की प्रति के अतिरिक्त सब में इस प्रकार है :

मुधा वचन नहिं ईस्वर कहई।

कोदवराम की प्रति में 'मुधा' के स्थान पर 'मृपा' पाठ है। 'मृपा' का प्रयोग 'भ्रमपूर्ण असत्य' के आशय में हुआ है :

तेहि कहँ पिय पुनि पुनि नर कहहू। मुधा मान ममता मद वहहू।
६-३७-५

मुधा भेद जद्यपि कृत माया। विनु हरि जाइ न कोटि उपाया।
७-७८-८

वचन के प्रसंग में मृपा, अर्थात् झूठ का ही प्रयोग मिलता है, और शिव के वचन के प्रसंग में भी वह मिलता है :

संभु गिरा पुनि मृपा न होई। १-५१-३
पुनि पति वचन मृपा करि जाना। १-५६-२
सोइ हम करव न आन कछु वचन न मृपा हमार। १-१३२

होइ न मृपा देवरिसि भाषा। ७-६८-४
इसलिए 'मृपा' निश्चय ही अधिक प्रयोगसम्मत है।[1]

कुछ उदाहरण डा० मालाप्रसादगुप्त द्वारा संपादित 'जायसी-ग्रन्थावली' से भी दिए जाते हैं।

जैसा पहले कहा जा चुका है इस समय 'पदमावत' की हस्तलिखित प्रतियाँ अधिकतर फ़ारसी या अरबी लिपियों में ही मिलती हैं; साथ ही यह भी प्रमाणित हुआ है कि उक्त ग्रंथ की मूल प्रति देवनागरी लिपि में थी। इसलिए 'पदमावत' में लिपि-संवन्धी अशुद्धियाँ दो प्रकार की मिलती हैं– पहली वे जो देवनागरी लिपि के दोपों के कारण घुस गई थीं, और दूसरी वे जो बाद में फ़ारसी या अरवी लिपि के दोपों से पैदा हुईं। लिपि-सम्वन्धी 'पदमावत' के पाठ की इस विशेपता को ध्यान में रखते हुए 'रामचरितमानस' की तुलना में कहीं अधिक संशोधन-क्रिया डा० गुप्त को 'पदमावत' में करनी पड़ी है।

नागरी लिपिजनित पाठ-विकृतियों के केवल दो उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :–

उस समय की नागरी लिपि के 'व' और 'व' में विशेप अंतर नहीं था। फलतः नागरी लिपि में लिखी हुई मूल प्रति के उर्दू प्रतिलिपिकार प्रायः 'व' के लिए 'वे' न लगाकर उर्दू 'वाव' ही लगा दिया करते थे, जिससे उसका उच्चा-

---

१. वही, पृ० ५२७

रण 'व' या 'ओ-औ' में परिवर्तित हो जाता था। 'पदमावत' की प्रायः समस्त प्रतियों में 'जबहिं', 'तबहिं', 'कबहुँ' के क्रमशः 'जौहिं', 'तौहिं', 'कौहु' में परिवर्तित हो जाने का यही रहस्य है। इसी प्रकार 'म' और 'भ' के लेखन-साम्य के कारण जहाँ-जहाँ 'कुरुँम' (कूर्म, अर्थात् कछुआ) शब्द होना चाहिये, वहाँ-वहाँ 'पदमावत' की प्रायः समस्त प्रतियों में 'कुरुँभ' पाठ पाया जाता है। इस प्रकार की विकृति ग्रंथ के नागरी मूल होने के कारण ही हुई है, और प्रकट है कि इस प्रकार के समस्त स्थलों पर संशोधन-क्रिया ही कवि के अभीष्ट पाठ को दे सकती थी।

फ़ारसी या अरबी लिपि के कारण उत्पन्न हुई विकृतियाँ तो 'पदमावत' की प्रतियों में हज़ारों पड़ी हैं। केवल निम्नलिखित उदाहरण पर्याप्त होगा।

निर्धारित पाठ के एक सौ सत्तरहवें छंद की अंतिम पंक्ति का पाठ है :—

तेहि अरघानि भँवर सब लुबधे तजहिं न 'नीवी' बंध।

एक प्रति में इस पंक्ति के दूसरे चरण का पाठ है, 'लुबधे तजहिं न तेहि सनमंध', एक दूसरी प्रति में 'बार बुध तरुनौ बंध' है, किसी प्रति में 'लुबुधे तजहिं न सोई बंध' है, तो किसी में 'लुबुधे तजहिं न ताकर रंध' है, किसी में 'लुबुधे तजहिं न देई बंध' है, तो दूसरी में 'तपही नीमी बंध' है, किसी दूसरी प्रति में 'लुबुधे तजहिं न पीवी बंध' है तो अन्य में 'लुबुधे तजहिं न तेहि सँग बंध' है, किसी में 'लुबुधे तजहिं न अपने बंध' है, तो किसी में 'तजहिं न तिन वै बंध' है, केवल एक प्रति में 'तजहिं न नीवी बंध' है। डा० गुप्त ने 'नीवी' वाले पाठ को ही प्रामाणिक माना है, क्योंकि प्रसंग-सम्मत होने के साथ एक मात्र वही ऐसा पाठ है जिसके उर्दू लिपि में होने पर 'तरुनौ', 'नीमी', 'पीवी', 'तेवै', आदि पाठ-विकृतियाँ संभव हैं।

उर्दू लिपि-जनित पाठ-विकृतियों के इस प्रकार के स्थलों पर भी प्रकट है कि संशोधन-क्रिया ही हमें कवि का अभीष्ट पाठ देने में समर्थ हुई है।

पाठ-विज्ञान-सम्बन्धी अनुसंधान की सहायता से पाठालोचन ने निस्सन्देह साहित्य की बड़ी अमूल्य सेवा की है। यह पाठालोचकों के अश्रांत परिश्रम का ही फल है कि पुराने पाठ पश्चादागत पाठकों के लिये सुबोध हो गये हैं, विशेषतया ऐसे पाठकों के लिये जिनमें आलोचना की क्षमता न थी। 'फोलियो' में शेक्सपिअर का पाठ कितना अशुद्ध और अव्यवस्थित था इसकी कल्पना हम तब कर सकते हैं जब हमारा ध्यान उन अनेक सम्पादकों पर जाता है जिन्होंने उसके पाठ को फ़ोलियो की विकृतियों और अविधियों से बचाया। फिर भी पाठालोचन एक निम्न श्रेणी की आलोचना है। पाठालोचन पुस्तकों के निर्माण की तिथि निर्धारित करती है, उनके इतिहास की खोज करती है, वास्तविक लेखक को निश्चित करती है, और परम्परागत प्रयुक्त विकृत पाठों को शुद्ध करती है। पाठालोचन की ये समस्याएँ साहित्यालोचन के क्षेत्र से बाहर हैं। साहित्यालोचन किसी पुस्तक का मूल्यांकन काव्यमीमांसा के सिद्धान्तों के अनुसार करती है।

२

तृतीयतः हमें पुस्तक-परिचय ( अँगरेज़ी, रिव्यू ) का बहिष्कार करना चाहिये, यद्यपि यह वैज्ञानिक आलोचना अथवा पाठालोचन की तुलना में साहित्यालोचन के अधिक समीप है।

पुस्तक-परिचय समाचारपत्र के साथ आया। समाचार पत्रलेखन की उत्पत्ति मुद्रणयंत्र से पहले हुई। अगिनकोर्ट और दूसरी मध्यकालीन लड़ाइयों के बाद जो परिपत्र (अँगरेज़ी, सरक्युलर लेटर) भेजे जाते थे उनमें समाचारपत्र का पहला रूप मिलता है। समाचारपत्रलेखक के व्यवसाय की तिथि उसी दिन से है जिस दिन से पत्रवाहन संस्था की स्थापना हुई। इससे पहले राजनीतिज्ञ खबर पाने के ज़रिये स्वतन्त्र और निजी रखते थे। उदाहरणार्थ, एलीज़बैथ के समय में एसेक्स बहुत से योग्य आदमी अपनी नौकरी में केवल समाचार प्राप्ति के लिये रखता था। ये आदमी जनता के लिये नहीं लिखते थे वरन् अपने स्वामी के लिए, वे उसके राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति में मदद करने के लिये लिखते थे। धीरे-धीरे समाचार प्रसार के लिये मुद्रणयंत्र की सहायता ली जाने लगी। राजविद्रोहों के कारण १६२१ ई० तक खबर आने-जाने पर सरकार का कड़ा नियंत्रण रहा। १६२२ ई० से साप्ताहिक 'कोरेन्टों' में वैदेशिक समाचार जनता को मिलने लगे। ये समाचार प्रायः वैदेशिक पत्रों से लिए जाते थे। अंग्रेज़ी पत्रलेखनकला के विकास में इन्हीं पत्रों का पहला स्थान है। इनके पश्चात् साप्ताहिक 'न्यूज़बुक्स' निकलीं जिनमें राजकीय अथवा जनता-सम्बन्धी समाचार रहते थे। 'न्यूज़बुक्स' के बाद १६६५ ई० में 'ऑक्सफोर्ड गज़ट' निकला। मडीमैन, एलस्ट्रेन्ज, और हेनरी केअर बहुत दिनों तक समाचार पत्रिकाओं और समाचार पुस्तकों से समाचार वितरण करते रहे। १७०४ ई० में डेफो ने 'रिव्यू ऑफ़ द एफ़ेअरज़ ऑफ़ फ्रान्स' की स्थापना की। इसमें अंतर्राष्ट्रीय नीति और व्यापार विषयक विचार रहते थे। परन्तु इसमें 'मरक्यूरे स्कैण्डल और एड्वाइस फ्रॉम द स्कैण्डलस क्लब' एक ऐसा विभाग था जिसमें गप-शप और नैतिक आलोचना भी रहती थी। इसी विभाग में हमें सामयिक आलोचना और पुस्तक-परिचय के अंकुर मिलते हैं। १७१२ ई० में 'रिव्यू' का अन्त हो गया। डेफो से स्टील को प्रेरणा मिली। स्टील ने १७०६ई०में 'द टैटलर' की नींव डाली। यह सामयिक पत्र सप्ताह में तीन बार निकलता था और जनवरी १७११ में इसका अन्त हो गया। इस पत्र ने सामयिक निबन्ध का विकास किया। इसके अनन्तर 'द स्पैक्टेटर' निकला जो एडीसन और स्टील का संयुक्त कार्य था। एडीसन ने पहले ही 'टैटलर' में साहित्य पर कुछ आलोचनात्मक लेख निकाले थे। 'स्पैक्टेटर' ने एडीसन की साहित्यालोचनात्मक लेखनी को और तेज़ी से अभ्यस्त कर दिया। मिल्टन के 'पैरेडाइज़ लॉस्ट' पर एडीसन के लेख इस पत्र में नियमबद्ध आलोचना के बड़े उत्कृष्ट उदाहरण हैं। 'टैटलर' और 'स्पैक्टेटर' इतने सर्वप्रिय सिद्ध हुए और उनसे इतनी आय हुई कि इनके देखादेखी बहुत से साहसी

लेखकों और सम्पादकों ने स्वतन्त्र अपनी-अपनी पत्रिकाएँ निकालीं। 'द गार्जियन', 'दि इंगलिशमैन','दि एग्जामीनर,' 'द जैन्टिलमैन्स मैगज़ीन,' 'द चैम्पियन,' 'द वी,' 'द फ्री थिंकर,''द फीमेल स्पैक्टेटर''द रैम्बलर,' उदाहरणीय हैं। इन नियतकालिक पत्रिकाओं को प्रसिद्ध लेखक अपने लेख भेजने लगे और इन्हीं के द्वारा अपने विचारों को साधारण जनता तक पहुँचाने लगे। 'द जैन्टिलमैन्स मैगज़ीन' को छोड़ कर ये सब पत्रिकाएँ थोड़े-थोड़े दिनों तक ही जीवित रहीं। जैसे ही उनके जन्मदाता लेखक उन्हें इस्तेमाल करना छोड़ देते थे, उनका अन्त हो जाता था। इन पत्रिकाओं की एक विशेषता स्मरणीय है। जैसे ही इनका निकलना प्रारम्भ हुआ था, १७१२ ई० का स्टाम्प एक्ट लागू हो गया था। इसके कारण पत्र निकालने का खर्चा बढ़ गया था और पत्रसंचालक राजनैतिक दलों का सहारा लेने लगे थे। यह प्रवृत्ति इतनी प्रबल हो गई थी कि पत्रिकाओं का उद्देश्य राजनैतिक स्वार्थपरता को उन्नत करना हो गया था। इस प्रकार कुछ पत्रिकाएँ टोरी हित में, कुछ पत्रिकाएँ ह्विग हित में, तथा कुछ पत्रिकाएँ हाईचर्च हित में, और कुछ पत्रिकाएँ ईवेंजेलीकल हित में प्रकाशित होती रहीं। अठारहवीं शताब्दी के अन्त की ओर औद्योगिक क्रान्ति का प्रभाव साहित्य रचनाओं के बाहुल्य में दृष्टिगत हुआ। अतएव इस बात की आवश्यकता जान पड़ी कि पत्रिकाएं और उनके सम्पादक साहित्यिक और वैज्ञानिक विषयों में जनता के मस्तिष्क-नियंता बनें। इसी उद्देश्य से १८०२ ई० में 'दि एडिन्बरा रिव्यू एण्ड क्रिटीकल जरनल' की स्थापना हुई। अठारहवीं शताब्दी की पत्रिकाओं में से 'द स्पैक्टेटर' और 'द रैम्बलर' पुराने साहित्य की परीक्षा उन परिवर्तित शास्त्रीय मानदण्डों से किया करते थे जो नवीन साहित्यिक कृतियों की विशेषताओं से प्रभावित हो चुके थे। वे शुद्ध आलोचना का प्रकाशन करते थे। 'द एडिन्बरा रिव्यू' ने भी ऐसे ही मानदण्डों का प्रयोग किया परन्तु अधिकतर उसने नई पुस्तकों की ही जाँच की। पुस्तकों के विवरण लंबे होते थे और देर से निकलते थे। वे शुद्ध नहीं दूषित होते थे; या तो नये साहित्य की परीक्षा पुराने साहित्य पर अवलंबित नियमों से की जाती थी, या पुस्तक-परिचय के लेख असाहित्यिक पक्षपातों से भ्रष्ट रहते थे। नाम-गोपन की प्रथा ने जो पुस्तक-परिचय में बड़ी प्रचलित थी 'एडिन्बरा रिव्यू' को सबल व्यक्तित्व प्रदान किया। यह व्यक्तित्व राजनीति में ह्विगपक्षीय था और धर्म में उदारपक्षीय था। 'एडिन्बरा रिव्यू' की यह विशेषता पुरानी पत्रिकाओं की राजनीतिक और धार्मिक विशेपताओं का अविच्छिन्न प्रसार है। 'एडिन्बरा रिव्यू' ऐसे लेखकों का जो राजनीति में टोरी और धार्मिक विचारों में कट्टर होने से शत्रु था और उनकी रचनाओं को कुदृष्टि से देखता था। 'एडिन्बरा रिव्यू' की प्रतिक्रिया में १८०९ ई० में 'द क्वार्टरली रिव्यू' निकाला गया। उसका उद्देश्य राजनैतिक तथा सुधार-सम्बन्धी धार्मिक सिद्धांतों के खतरे से राष्ट्र और धर्म की रक्षा करना था। क्योंकि 'क्वार्टरली रिव्यू' धर्म सम्बन्धी विषयों में यथेष्ट कट्टरपंथी न था और राजनीतिक मामलों में यथेष्ट स्थितिपालक न था, अतः वह १८१७ ई० में 'ब्लैकवुड्स मैगज़ीन' के उत्थान का कारण बना। १८२० ई० में

'क्वार्टरली रिव्यू' का प्रतियोगी 'द लन्दन मैगजीन' अस्तित्व में आया। जब पहले पहल 'रिव्यू' और 'मैगज़ीन' चले तो उनमें यह अन्तर था कि 'रिव्यू' में साहित्य, कला, विज्ञान, राजनीति, समाज ऐसे विषयों का समन्वय होता था। वह लेखकों और राजनीतिज्ञों के गुण और दोष अपने पाठकों के सामने लाता था। उसमें मौलिक लेखों का समावेश नहीं था। वह प्रायः लेखकों की कृतियों का परिचय और उनकी समीक्षा ही दिया करता था। इसके विपरीत मैगज़ीन सब प्रकार के लेख छापता था। उसमें रिव्यू की तरह पुस्तकों का परिचय और उनकी समीक्षा और पार्लियामेन्ट की बहसों के हाल तो रहते ही थे, और साथ ही साथ वह मौलिक लेख भी प्रकाशित करता था। उसका उद्देश्य जनता को बाह्य जगत के व्यापारों से अभिज्ञ करना और अपनी आलोचना से पाठकों को प्रभावित करना ही न था किन्तु उनका मनोरंजन करना भी था। रिव्यू और मैगज़ीन की ये विशेषताएँ अभी तक चली आ रही हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के आदि के रिव्यू और मैगज़ीन के आलोचनात्मक लक्षणों में दो विशेषताएँ द्रष्टव्य हैं। पहली विशेषता यह है कि उनका ध्यान कलाकार की कल्पना-शक्ति और किसी दृश्य के सम्पादन की ओर आकृष्ट रहता है। आधुनिक पुस्तक-परिचय के विपरीत वे रचना प्रक्रिया से कोई प्रयोजन नहीं रखते थे। हैज़लिट का कथन है कि जो आलोचक जनता के लिये लिखता है उसका कलात्मक साधनों से क्या प्रयोजन है। दूसरी विशेषता यह है कि वे आलोचना में व्यक्तिगत आक्षेपों, गाली-गलौज, और अंधाधुंध कटाक्षों की भरमार कर देते थे। यद्यपि लॉकहार्ट और विल्सन में व्यक्तिगत बड़ा भेद था तथापि जब वे ऐसे लेखकों की आलोचना करने बैठते थे जिनसे उनके विचार नहीं मिलते थे तो वे दोनों ऐसे लेखकों को कलंकित किए बिना नहीं मानते थे। पिछली शताब्दी के चतुर्थ दशक में 'द टाइम्स' के संपादक ने मैकोले को बकवादी मैकोले कह कर दूषित किया था। 'सण्डे' समाचारपत्रों के परिचयदायकों से डिकिन्स इतना दुखित हुआ कि उनके लेखकों को उसने मनुष्याकृति राक्षस कहना आरम्भ कर दिया। टैनीसन भी पुस्तक-परिचय देने वालों के कटाक्षों से इतना भग्नाश हुआ कि वह देश छोड़ने तक को तैयार हो गया। धीरे-धीरे पुस्तक-परिचय में गाली-गलौज की जगह शिष्टता आने लगी। यह शिष्टाचार 'द एथेनिअम,' 'द सैटरडे रिव्यू,' और 'द टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेन्ट' के द्वारा आया। इनके पुस्तक-परिचय देने वालों ने व्यक्तिगत आरोपों का बहिष्कार करके कृतियों की वस्तु और शैली-संबंधी लाभदायक सूचनाएँ पाठकों को दीं।

पुस्तक-परिचय देने वाले का धर्म निश्चित करने में पुस्तक-परिचय का यह सूक्ष्म ऐतिहासिक विवरण सहायक होगा। फ़िलिप्ट का विचार है कि पुस्तक-परिचय देनेवाला साहित्य व्यापार में एक व्यर्थ का अधिकारी है। उसे यह मिथ्याभास रहता है कि वह पुस्तक का यथेष्ट परिचय दे रहा है, जब कि सत्य तो यह है कि यदि ग्रंथ दार्शनिक है तो वह विचार-धारा की सूक्ष्मता को छोड़ कर इधर-उधर की महत्त्वहीन बातें करने लगता है, और यदि पुस्तक साहित्यिक

होती है तो वह उसके हृदयग्राही लक्षणों को छोड़ कर शैली और वस्तु की नवीनता इत्यादि ऐसी बातें करने लगता है। टी० एस० इलियट आलोचक की पुस्तक-परिचय देने वाले से तुलना करता है। आलोचक तो एक ऐसा व्यक्ति है जो सब तरह का पर्याप्त ज्ञान रखता है, चाहे वह किसी विशेप विद्या का विशेपज्ञ न हो, और जो कला को केवल मनोरंजन ही का साधन नहीं समझता। परन्तु आधुनिक पुस्तक-परिचय देनेवाला तो केवल जीविका कमाने वाला जल्दबाज़ कलाप्रेमी है। पुस्तक-परिचय में दायित्व और ध्यान की ही नहीं वरन् सहानुभूति की भी कमी रही है। 'द मन्थली रिव्यू' के संपादक ने कोलरिज के 'एन्शेन्ट मैरीनर' को असंगत, अशिक्षित, और बुद्धिहीन साडम्बर प्रबन्ध काव्य कहा है। 'एडिंब्रा रिव्यू' ने वर्ड्सवर्थ के 'एक्सकर्शन' को इन शब्दों से निन्दित किया, "यह पाठकों को कभी रुचिकर न होगा। वर्ड्सवर्थ महोदय की दशा स्पष्टतः नैराश्यपूर्ण है। उनका रोग असाध्य है और आलोचना की शक्ति से परे है।" 'क्वार्टरली रिव्यू' ने कीट्स की 'एण्डीमियन' की भर्त्सना करते हुए उसे लन्दन की अशिक्षित शैली में लिखी हुई कविता बताया। इसी तरह 'ब्लैकवुड्ज़ मैगजीन' ने कीट्स को काव्य-रचना छोड़कर फिर दवाखाना वापिस जाने की सलाह दी और वहाँ प्लास्टर, मरहम, गोलियाँ, तथा अनुलेप के बक्सों को फिर से संभालने के लिए कहा। आरंभिक पुस्तक-परिचय देने वालों के ऐसे निर्णयों पर हम आश्चर्यचकित रह जाते हैं। परन्तु एक दूसरी दृष्टि से आधुनिक पुस्तक-परिचय भी आशाजनक नहीं है। पुस्तक परिचय देने वालों की संख्या बहुत बढ़ गई है और एक ही कृति के तरह तरह के पुस्तक परिचय निकलते हैं। यदि एक पुस्तक-परिचय देने वाला उसे श्रेष्ठतम रचना कहता है तो दूसरा उसे निकृष्टतम मानता है। इस प्रकार प्रशंसा दोष को काट देती है और दोष प्रशंसा को काट देता है, और बेचारा पाठक कृति के बारे में कोई मत नहीं बना सकता है। पुस्तक-परिचय अपने कार्य में विफल सी ही जान पड़ती है। मतविभिन्नता जो पुस्तक-परिचय को बेकार कर रही है, आलोचनात्मक मानदण्ड की अस्थिरता के कारण है। हेरल्ड निकलसन पुस्तक-परिचय देने वाले का कर्त्तव्य निश्चित करने के उद्देश्य से कहता है कि आलोचक दो विधियों से चल सकता है। वह किसी कृति को कला के अमर मानदण्डों से सम्बन्धित कर सकता है अथवा कृति की आलोचना पाठक की संस्कृति के स्तर से दे सकता है। पुस्तक-परिचय देनेवाला इन्हीं दो सीमाओं के बीच क्रियाशील हो सकता है। हेरल्ड निकलसन स्वयं बड़ा अभ्यस्त पुस्तक-परिचय देने वाला है। अपने पुस्तक-परिचय का वह यह हाल देता है। पुस्तकों का परिचय देते समय मैं उनके लेखकों से वार्ता करता हूँ। मैं इन्हें यह बता देना चाहता हूँ कि उनकी रचनाओं को मैं क्यों पसन्द करता हूँ या क्यों नापसन्द करता हूँ। मेरा यह विश्वास है कि ऐसे वार्तालाप से साधारण पाठक को उपयोगी सूचना मिल जाती है। वर्जीनिया वुल्फ आधुनिक पुस्तक-परिचय देने वालों के अनुत्तर-

होती है तो वह उसके हृदयग्राही लक्षणों को छोड़ कर शैली और वस्तु की नवीनता इत्यादि ऐसी बातें करने लगता है। टी० एस० इलियट आलोचक की पुस्तक-परिचय देने वाले से तुलना करता है। आलोचक तो एक ऐसा व्यक्ति है जो सब तरह का पर्याप्त ज्ञान रखता है, चाहे वह किसी विशेष विद्या का विशेषज्ञ न हो, और जो कला को केवल मनोरंजन ही का साधन नहीं समझता। परन्तु आधुनिक पुस्तक-परिचय देनेवाला तो केवल जीविका कमाने वाला जल्दबाज़ कलाप्रेमी है। पुस्तक-परिचय में दायित्व और ध्यान की ही नहीं वरन् सहानुभूति की भी कमी रही है। 'द मन्थली रिव्यू' के संपादक ने कोलरिज के 'एन्शेन्ट मैरीनर' को असंगत, अशिक्षित, और बुद्धिहीन साडम्बर प्रबन्ध काव्य कहा है। 'एडिंब्रा रिव्यू' ने वड्‌सवर्थ के 'एक्सकर्शन' को इन शब्दों से निन्दित किया, "यह पाठकों को कभी रुचिकर न होगा। वड्‌सवर्थ महोदय की दशा स्पष्टतः नैराश्यपूर्ण है। उनका रोग असाध्य है और आलोचना की शक्ति से परे है।" 'क्वार्टरली रिव्यू' ने कीट्स की 'एण्डीमियन' की भर्त्सना करते हुए उसे लन्दन की अशिक्षित शैली में लिखी हुई कविता बताया। इसी तरह 'ब्लैकवुड्ज़ मैगज़ीन' ने कीट्स को काव्य-रचना छोड़कर फिर दवाखाना वापिस जाने की सलाह दी और वहाँ प्लास्टर, मरहम, गोलियाँ, तथा अनुलेप के बक्सों को फिर से संभालने के लिए कहा। आरंभिक पुस्तक-परिचय देने वालों के ऐसे निर्णयों पर हम आश्चर्यचकित रह जाते हैं। परन्तु एक दूसरी दृष्टि से आधुनिक पुस्तक-परिचय भी आशाजनक नहीं है। पुस्तक परिचय देने वालों की संख्या बहुत बढ़ गई है और एक ही कृति के तरह तरह के पुस्तक परिचय निकलते हैं। यदि एक पुस्तक-परिचय देने वाला उसे श्रेष्ठतम रचना कहता है तो दूसरा उसे निकृष्टतम मानता है। इस प्रकार प्रशंसा दोष को काट देती है और दोष प्रशंसा को काट देता है, और बेचारा पाठक कृति के बारे में कोई मत नहीं बना सकता है। पुस्तक-परिचय अपने कार्य में विफल सी ही जान पड़ती है। मतविभिन्नता जो पुस्तक-परिचय को बेकार कर रही है, आलोचनात्मक मानदण्ड की अस्थिरता के कारण है। हेरल्ड निकलसन पुस्तक-परिचय देने वाले का कर्त्तव्य निश्चित करने के उद्देश्य से कहता है कि आलोचक दो विधियों से चल सकता है। वह किसी कृति को कला के अमर मानदण्डों से सम्बन्धित कर सकता है अथवा कृति की आलोचना पाठक की संस्कृति के स्तर से दे सकता है। पुस्तक-परिचय देनेवाला इन्हीं दो सीमाओं के बीच क्रियाशील हो सकता है। हेरल्ड निकलसन स्वयं बड़ा अभ्यस्त पुस्तक-परिचय देने वाला है। अपने पुस्तक-परिचय का वह यह हाल देता है। पुस्तकों का परिचय देते समय मैं उनके लेखकों से वार्ता करता हूँ। मैं उन्हें यह बता देना चाहता हूँ कि उनकी रचनाओं को मैं क्यों पसन्द करता हूँ या क्यों नापसन्द करता हूँ। मेरा यह विश्वास है कि ऐसे वार्तालाप से साधारण पाठक को उपयोगी सूचना मिल जाती है। वर्जीनिया वुल्फ आधुनिक पुस्तक-परिचय देने वालों के अनुत्तर-

पुस्तक-परिचय दो भिन्न-भिन्न चीजें हैं, और उन्हें एक दूसरे से पृथक् करना आवश्यक है। पहले, पुस्तक-परिचय देनेवाला पुस्तक का वस्तु विशेष, उसका मूल्य, उसकी जिल्द, उसका टाइप और कागज़ ऐसी बातों की परीक्षा करता है। आलोचक का इन बातों से कोई सरोकार नहीं है। दूसरे, पुस्तक-परिचय देनेवाले को पत्रिका के पढ़ने वालों का खयाल होता है और अपनी शैली और अपना प्रतिपादन उन्हीं की रुचि और संस्कृति के स्तर से संयोजित करता है। इन विचारों से पुस्तक-परिचय में आलोचनात्मक गुण का ह्रास होता है। इसके विपरीत आलोचक पहले कृति से काल्पनिक संपर्क स्थापित कर उसका मूल्यांकन करता है और फिर उस मूल्यांकन की सहज अभिव्यक्ति करता है। तीसरे, जब कि पुस्तक-परिचय देनेवाला पुस्तक की ऐसी बातों पर अधिक ज़ोर देता है, जिनसे पाठक का ध्यान पुस्तक की ओर आकर्पित हो, आलोचक पुस्तक के किसी अंग को विशेष ध्यान नहीं देता, वह सब अंगों की पृथकता को पुस्तक के एक रूप में भूल जाता है। चौथे, जब कि पुस्तक-परिचय देनेवाला पत्रिका में प्राप्त स्थान से बाधित होता है और विषय और शैली का न्यायपूर्ण पर्याप्त प्रतिपादन नहीं कर सकता, आलोचक ऐसी बाधा से मुक्त होता है। पाँचवें, जब कि आलोचक पुरानी और नई दोनों तरह की किताबों में आविष्ट होता है और काल और देश का आदर करता है, पुस्तक-परिचय देनेवाले का क्षेत्र नयी पुस्तकों तक सीमित रहता है, बहुधा छापेखाने से तुरन्त निकली हुई नई पुस्तकों से। छठें, जब कि पुस्तक-परिचय देनेवाला पुस्तक को दूसरी और पुस्तकों से अलग कर लेता है और उसकी ही परीक्षा करता है, आलोचक एक पुस्तक की और दूसरी पुस्तकों से तुलना करता है और उस पुस्तक के लेखक की दूसरे लेखकों से तुलना करता है। सातवें और अंत में, पुस्तक-परिचय देनेवाला कृति का प्रतिरूपक संक्षिप्त विवरण देने में यत्नशील होता है और रचनात्मक कला के विज्ञान से तनिक भी चिंतित नहीं होता; आलोचक कलात्मक कृतियों का मूल्य ही निर्धारण नहीं करता वरन् उन सौंदर्यशास्त्र-संबंधी नियमों का विवरण देने में सन्नद्ध रहता है जिनसे उन कृतियों की रचना नियंत्रित होती है और जिनके परिपालन से वे अपना प्रभाव उत्पन्न करती हैं।

——

दूसरा प्रकरण

# रचनात्मक आलोचना (क्रीएटिव क्रिटीसिज़्म)

आलोचना के तीन प्रयोजन हैं—रचना (क्रीएशन), व्याख्या ( इएटर्प्रेटेशन ), और निर्णय ( जज्मेन्ट )। या तो आलोचक कलाकृति को अपने अनुभूति के स्तर पर लाकर एक अन्य रचनात्मक कृति की सृष्टि करता है, जिसमें आलोचना के साथ-साथ आलोचक का पूर्ण व्यक्तित्व प्रतिलक्षित होता है—यह रचनात्मक (क्रीएटिव) आलोचना है। या धैर्य और सहानुभूति के साथ आलोचक कलाकृति में तल्लीन हो जाता है और उसे पूर्णरूप से समझने का प्रयत्न करता है। वह समझने की क्रिया में कृति का सम्बन्ध कलाकार के जीवन और उसकी प्रतिभा से स्थापित करता है, अथवा कृति को वैज्ञानिक दृष्टि से देखकर उस नियम तक पहुँच जाता है जिससे कृति के विकास का स्पष्टीकरण होता है। यह व्याख्यात्मक ( इएटर्प्रेटेटिव ) आलोचना है। या कृति को पूर्णरूप से समझने के पश्चात् आलोचक कृति के गुणावगुण पर अपना निर्णय देता है। वह बतलाता है कि कृति साहित्य है या नहीं है। यदि वह साहित्य है तो भला है या बुरा। यदि वह भला साहित्य है तो वह अमुक साहित्य से ज्यादा भला या ज्यादा बुरा है। यह निर्णयात्मक (जुडीशल) आलोचना है। आलोचना के इतिहास से आलोचना के यही तीन काम सिद्ध होते हैं, चौथा नहीं। इन तीनों कामों में निर्णयात्मक काम ही प्रधान और श्रेष्ठतम है और संसार के बड़े-बड़े आलोचकों की रुचि भी कृति के गुण-दोष निरूपण की ओर ही रही है। परन्तु पहले हम रचनात्मक आलोचना का विवरण देंगे, उसके पश्चात व्याख्यात्मक आलोचना का, और अंत में निर्णयात्मक का।

१

रचनात्मक आलोचना में विरोधाभास मिलता है। रचनात्मक क्रिया आलोचनात्मक क्रिया के प्रतिकूल मानी जाती है। इस प्रातिकूल्य को गंभीर समझकर कभी-कभी बड़ी बेहूदी बातें कह डाली गई हैं। उदाहरणार्थ, ड्राइडन का कथन है कि जब

दूसरा प्रकरण

# रचनात्मक आलोचना (क्रीएटिव क्रिटीसिज़्म)

आलोचना के तीन प्रयोजन हैं—रचना (क्रीएशन), व्याख्या ( इण्टर्प्रेटेशन ), और निर्णय ( जज्मेन्ट )। या तो आलोचक कलाकृति को अपने अनुभूति के स्तर पर लाकर एक अन्य रचनात्मक कृति की सृष्टि करता है, जिसमें आलोचना के साथ-साथ आलोचक का पूर्ण व्यक्तित्व प्रतिलक्षित होता है—यह रचनात्मक (क्रीएटिव) आलोचना है। या धैर्य और सहानुभूति के साथ आलोचक कलाकृति में तल्लीन हो जाता है और उसे पूर्णरूप से समझने का प्रयत्न करता है। वह समझने की क्रिया में कृति का सम्बन्ध कलाकार के जीवन और उसकी प्रतिभा से स्थापित करता है, अथवा कृति को वैज्ञानिक दृष्टि से देखकर उस नियम तक पहुँच जाता है जिससे कृति के विकास का स्पष्टीकरण होता है। यह व्याख्यात्मक ( इण्टर्प्रेटेटिव ) आलोचना है। या कृति को पूर्णरूप से समझने के पश्चात् आलोचक कृति के गुणावगुण पर अपना निर्णय देता है। वह बतलाता है कि कृति साहित्य है या नहीं है। यदि वह साहित्य है तो भला है या बुरा। यदि वह भला साहित्य है तो वह अमुक साहित्य से ज्यादा भला या ज्यादा बुरा है। यह निर्णयात्मक (जुडीशल) आलोचना है। आलोचना के इतिहास से आलोचना के यही तीन काम सिद्ध होते हैं, चौथा नहीं। इन तीनों कामों में निर्णयात्मक काम ही प्रधान और श्रेष्ठतम है और संसार के बड़े-बड़े आलोचकों की रुचि भी कृति के गुण-दोष निरूपण की ओर ही रही है। परन्तु पहले हम रचनात्मक आलोचना का विवरण देंगे, उसके पश्चात व्याख्यात्मक आलोचना का, और अंत में निर्णयात्मक का।

१

रचनात्मक आलोचना में विरोधाभास मिलता है। रचनात्मक क्रिया आलोचनात्मक क्रिया के प्रतिकूल मानी जाती है। इस प्रातिकूल्य को गंभीर समझकर कभी-कभी बड़ी बेहूदी बातें कह डाली गई हैं। उदाहरणार्थ, ड्राइडन का कथन है कि जब

ी किसी कवि को काव्य-प्रणयन में सफलता नहीं मिलती तब उसका नैतिक पतन
रंभ हो जाता है और तभी वह आलोचक बन बैठता है। माना कि एक क्षेत्र में
सफल होना दूसरे क्षेत्र में सफल होना है। इसमें सन्देह नहीं कि ड्राइडन का मत
त ऐसे बुरे कवियों के विषय में था जिन्होंने असफलता के कारण कविता छोड़
र सफल कवियों पर कड़े आक्रमण किये थे। मैथ्यू आर्नल्ड भी रचना और
ालोचना के विरोध को स्वीकार करता है। उसका कहना है कि साहित्य के
तिहास से यह मालूम होता है कि रचना और आलोचना के अलग-अलग काल
ाते हैं। यदि किसी काल में रचना प्रधान होती है-जैसे पिण्डार और सोफोक्लीज़
े समय के यूनान देश में और शेक्सपियर के समय के इंगलैण्ड देश में, तो
कसी काल में आलोचना प्रधान होती है जैसे अठारहवीं शताब्दी के यूरोप में।
मैथ्यू आर्नल्ड रचना को आलोचना से श्रेष्ठतर प्रवृत्ति मानता है। उसका कहना
है कि रचनात्मक शक्ति के प्रयोग में ही मनुष्य आनन्द का अनुभव करता है।
आलोचनात्मक शक्ति तो रचनात्मक शक्ति की केवल सहकारिणी है। आर्नल्ड
की राय में रचनात्मक साहित्य जीवन की आलोचना है और बतौर आलोचक
उसने अपना धर्म यह समझा कि इस जीवन की आलोचना को बाहर समाज में
लाये और उसका संबंध संपूर्ण संस्कृति से स्थापित करे। जिस प्रकार न्यूमैन
संस्कृति का स्रोत सर्वांगिक ज्ञान मानता है, उसी प्रकार आर्नल्ड संस्कृति का स्रोत
आलोचना मानता है। उसके मतानुसार आलोचक का मुख्य कर्तव्य यह है कि वह
संसार के सर्वोच्च ज्ञान और विचारों को जाने और सोचे समझे, और फिर
उनका सर्वत्र प्रसार करके सच्ची और नवीन भावनाओं की धारा प्रवाहित करे।
इस प्रकार आलोचक का कार्यभार त्रिगुण है। पहले, आलोचक पढ़े,
समझे और वस्तुओं का यथार्थ रूप देखे। दूसरे, जो कुछ उसने सीखा है उसे
वह दूसरों को हस्तांतरित करे, जिससे उत्तम भावनाएँ सब जगह प्राबल्य पाएँ।
इस ओर उसका कार्य धर्म प्रचारक का जैसा है। तीसरे, वह रचनात्मक शक्ति
की क्रियाशीलता के लिये उपयुक्त वातावरण तैयार करे, भावनाओं की ऐसी धारा
प्रवाहित करे जो उच्चतम परिमाण में रचनात्मक प्रतिभा को उत्तेजना और
पोषण दे। इस विचार से आलोचना रचना की दासी है। परंतु आलोचना की
इस अप्रतिष्ठा के लिये आर्नल्ड के पास कोई दार्शनिक आधार नहीं है। टी०
एस० इलियट के कथनानुसार रचना और आलोचना साहित्य के निर्माण में
एक दूसरे के पूरक हैं, और दोनों का संयोग प्रायः एक ही व्यक्ति में उपस्थित
होता है। किसी कलात्मक कृति की रूपसंबंधी व्यवस्था बिना आलोचनात्मक
शक्ति के असंभव है।

कवि को महान् होने के लिये उसे महान् आलोचक भी होना चाहिये। इसी तरह आलोचक को रचनात्मक शक्ति की पूरी आवश्यकता है क्योंकि बिना इस शक्ति के कृति का प्रत्यक्षीकरण और उसका पुनर्निर्माण असंभव है। यदि हम हीगल की तात्त्विक प्रणाली का प्रयोग करें तो कह सकते हैं कि कलात्मक यथार्थता रचना और आलोचना का समन्वय है। कला रचनात्मक प्रक्रिया में आलोचनात्मक होती है और आलोचना कृति के पुनर्निर्माण में रचनात्मक होती है।

२

कलामीमांसकों ने कलात्मक सृष्टि का उद्गम कई मानसिक शक्तियों से किया है, जैसे; अनुकरण, वैदग्ध्य (विट), रुचि (टेस्ट), कल्पना, और व्यक्तित्व (पर्सनेलिटी)।

प्राचीन यूनान में कलामीमांसन नैतिक दृष्टिकोण से हुआ। कवि उपदेशक माना जाता था। यूनानियों का सबसे बड़ा कवि उनका सबसे बड़ा उपदेशक था। प्रत्येक यूनानी जीवन के आदर्श होमर के महाकाव्यों से लेता था। होमर ने अपने काव्यों में जीवन के सत्य का स्वच्छ प्रतिरूप दिया था, ऐसी धारणा यूनानियों की थी। अलौकिक पात्रों और घटनाओं के उनके व्याख्याता लाक्षणिक अर्थ दिया करते थे। शुरू से ही उनके मस्तिष्क में यह विचार समाया हुआ था कि कला सच्चे रूप से अनुकरणात्मक होती है। इस विचार का सोलन पर इतना अधिक प्रभाव था कि अपने समय के नाटकों में झूठा अनुकरण पाने पर उसने उनका बहिष्कार किया। इस आदर्श की सोक्रेटीज़ ने भी पुष्टि की और उसने सुझाया कि मन की आन्तरिक अवस्थाओं का अनुकरण भी चेहरे से इंगित द्वारा हो सकता है। वह थोड़ा सा आगे भी बढ़ा। उसने यह स्थापित किया कि प्राकृतिक तत्त्वों को ऐसे मिलाया जा सकता है कि उनसे नये नये रूपों की सृष्टि हो। आगामी आलोचक इसी सिद्धांत पर जमे रहे और उनके इस कथन में कि कविता की ध्वनियाँ जीवन की ध्वनियों की नकल हैं और कविता की गतियाँ जीवन की गतियों की नकल हैं, अनुकरणात्मक सिद्धांत की व्याख्या अपनी अंतिम सीमा पर पहुँच जाती है। परन्तु इस सिद्धान्त का सबसे भारी पोषक प्लेटो है। उसने इसी सिद्धान्त का उपयोग अपनी काव्य-समीक्षा में किया। उसने सिद्ध किया कि समग्र यूनानी साहित्य में न अलौकिक सत्य है और न लौकिक। एक आदर्श राष्ट्र के आदर्श नागरिक को ऐसी झूठी साहित्यिक सृष्टि से अलग ही रहना श्रेयस्कर है। अरिस्टॉटल भी इसी सिद्धान्त का अनुयायी था। परन्तु वह अनुकरण से जीवन अथवा प्रकृति का सीधा अनुकरण नहीं समझता था। उसका विचार था कि काव्यात्मक अनुकरण भावनामय होता है।

रोमन आलोचक होरेस भी कविता को जीवन का अनुकरण मानता है,

परन्तु वह यूनानियों की प्रतिभा से इतना चकित था कि उसने कवियों को आदेश दिया कि वे अपने काव्यात्मक अनुकरणों में यूनानी लेखकों और आदर्शों को कभी न भूलें।

इटली का पुनरुत्थानकालीन आलोचक विडा कवियों को प्रकृति का अनुकरण करने की सलाह देता है और यह प्रमाण पेश करता है कि प्राचीन कवियों ने भी ऐसा ही किया था। उन्होंने सदा प्रकृति का अध्ययन किया और वे सदा प्रकृति के सत्यों और आदर्शों के अशिथिल अनुगामी रहे। इटली के आलोचकों का ध्यान यथार्थ के संसार से प्राचीन कला के संसार की ओर आकर्षित होने का कारण स्पष्ट है। पुनरुत्थान काल में जब योरोप में बुद्धि-विषयक जागृति हुई तो प्राचीन यूनान और रोम की कृतियों को ही लेखकों ने साहित्यिक श्रेष्ठता का मानदण्ड माना। स्कैलीगर ने अपने देश के कवियों को निर्भीकता से आदेश दिया कि वे निरंतर वर्जिल का अनुकरण करें, क्योंकि वर्जिल ने अपने 'एनीड' महाकाव्य में प्रकृति की कमियों को पूरा कर दिखाया है। बैन जॉनसन दृढ़ता-पूर्वक कहता है कि शास्त्रीय अनुकरण ही कलात्मक रचना का मूल स्रोत है। फ्रांसीसी आलोचक बोइलो प्राचीन यूनानी और रोमन कृतियों के अनुकरण की दार्शनिक व्याख्या करता है। उसका कथन है कि कोई वस्तु सुन्दर नहीं है जो सत्य नहीं है। और कोई वस्तु सत्य नहीं है जो प्रकृति में नहीं है। इसलिए कविता को सुन्दर होने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी नींव सत्य और प्रकृति में हो। क्योंकि प्राचीन कवियों की कविता के सत्य और प्रकृति मूलाधार हैं उन्हीं की कविता अत्यन्त सुन्दर है। बस, आधुनिक कवियों का यही धर्म है कि वे उनका साशंक अनुकरण करें। अंग्रेजी कवि और आलोचक पोप भी शास्त्रीय अनुकरण का पूरा हामी है। वह अपने पद्यात्मक आलोचना विषयक निबन्ध में लिखता है कि प्राचीन यूनान में कविता आलोचना के सिद्धांतों से नियंत्रित थी। आज कल के कवियों का कर्तव्य है कि वे होमर और वर्जिल को खूब घोखें और समझें और उन्हीं को अपने आदर्श मानें। दोनों ही काव्य-रचना के उत्कृष्ट प्रमाण हैं, परन्तु पोप की स्कैलीगर के विपरीत होमर के प्रति अधिक श्रद्धा है। यह बात इस कथन से स्पष्ट है। जब मैरो ने एक ऐसे काव्य का ढाँचा तैयार किया जो पुराने रोमन काव्यों से भी अधिक जीवित रहे, तो उसका विश्वास हुआ कि ऐसा काव्य सीधे प्रकृति के अनुकरण के आधार पर ही लिखा जा सकता है। परंतु जब उसने अपने काव्य के प्रत्येक भाग की परीक्षा की तो उसे मालूम हुआ कि प्रकृति और होमर तो एक ही हैं।

होमर और वर्जिल दोनों ने अपनी रचनाओं में प्रकृति को उपस्थित किया है। परन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि उन्होंने प्रकृति को ज्यों का त्यों नग्न अवस्था में उपस्थित किया है। स्कैलीगर के वर्जिल-विषयक कथन से सिद्ध है कि वर्जिल की प्रवृत्ति प्रकृति के प्रति भावनामयी थी। उसने प्रकृति को आदर्श

रूप में चित्रित किया। अनुकरण से मतलब प्रकाशचित्रकलात्मक ( फोटोग्राफ़िक ) पुनरुत्पत्ति नहीं समझना चाहिये। प्रकाशचित्रकला में और ललितकला में सार-भूत अन्तर है। प्रकाशचित्रकलात्मक पुनरुत्पत्ति में कल्पना की मात्रा नहीं होती; इसके विपरीत साहित्यिक पुनरुत्पत्ति में कल्पना की मात्रा अवश्य होती है। इस मात्रा की मान्यता अरिस्टॉटल को तो है, ही क्योंकि वह साफ़ कहता है कि कवि वस्तुओं को उनके यथास्थित रूप में नहीं वर्णित करता किंतु उनके उपयुक्त रूप में। प्लैटो द्वारा इस सिद्धांत की मान्यता उसके आदर्शवाद से संबंधित है। प्लैटो का विश्वास है कि ईश्वरजनित मूलादर्श ( आइडिया ) ही वास्तविक सत्ता है, और मूलादर्शों का एक सूक्ष्म जगत है, जिसका यह स्थूल जगत् एक अपूर्ण अनुकरण है। ईश्वर परम कल्याण है और उसकी कल्याणात्मक प्रवृत्ति ही से उसके मूला-दर्श ( आर्चटाइपल आइडिआज़ ) सांसारिक वस्तुओं में प्रविष्ट हैं। प्लैटो ऐसी कविता को असली कविता मानता है जो मूलादर्शों के सूक्ष्म जगत् का अनुकरण करती है और ऐसी कविता का वहिष्कार करता है जो इस अपूर्ण स्थूल जगत् का अनुकरण करती है। प्लैटो के इस विचार को उसकी दार्शनिक सूक्ष्मता से दूर करके यों व्यक्त कर सकते हैं—कवि को प्रकृति और जीवन के निरीक्षण से आदर्श सत्य का आभास हो जाता है और उसी सत्य के नियंत्रण में प्रकृति और जीवन को परिवर्तित अथवा परिवर्द्धित करके वह अपनी कृतियों में उपस्थित करता है। अत. कलाएँ प्रकृति और जीवन की कोरी नकल नहीं होतीं, उन सभी में आदर्शीकरण की मात्रा विद्यमान होती है।

परन्तु प्रकृत्यनुकरण का दृढ़ाग्रह अभी आलोचना से विल्कुल नहीं गया। वह कविता और नाटक में प्रकृतिवाद के रूप में और उपन्यास में यथार्थवाद के रूप में अब भी विद्यमान है। आधुनिक काल में इस सिद्धांत को रूसो के क्रांतिकारी प्रकृतिवाद, डार्विन के विकास-सिद्धांत अथवा उत्क्रान्तिवाद. हेकल के जड़ाद्वैतवाद, और फ्रायड के मनोविश्लेपण से वड़ा वल मिला है। कविता में पुराने समय से ही प्रकृति अनुकरण की परम्परा चली आ रही है। चौसर, क्रैब, वर्न्स, वर्ड्स-वर्थ, ब्राउनिङ्ग, सिञ्ज, येट्स, और मेसफील्ड की कविताओं में वहुत से जीवन दृश्य ज्यों के त्यों समाविष्ट हैं। थोरो कहता है कि मैं सदा दो कापी पास रखता हूँ; एक तो तथ्यों के हेतु और दूसरी कविता के लिए। परन्तु मुझे तथ्य और कविता के बीच अन्तर स्थिर रखने में वड़ी आपत्ति होती है। मुझे महसूस होता है कि रोचक और सुन्दर तथ्य तो लोकप्रिय कविता से कहीं अधिक काव्यमय है। यदि मेरे एकत्रित तथ्य सब जीवित और सार्थक हों तो मुझे केवल एक ही कविता वाली कापी की जरूरत रहे। ठीक है। कविता आई कहाँ से ? जीवन से तो ही। तथ्य सब निर्मित कथाओं से अधिक सुन्दर होता है। ऐसा विचार प्रकृतिवादियों का है। पिछली शताब्दी में पहले रोमान्सवादियों ने ऐसे सिद्धांतों की उपेक्षा की जिनसे यह सिद्ध होता था कि मनुष्य सारे समाज से

संबद्ध है और उसके जीवन की गति के अटल नियम हैं। फिर विज्ञान में भौतिक शास्त्र को जीव विज्ञान ने कुछ समय के लिये आच्छादित कर लिया। जीवविज्ञान व्यवस्था की बुनियाद व्यक्ति है। और व्यक्ति का भविष्य जीव-विज्ञान में भी पहले से ही निश्चित है। वह मूल तत्वों और शक्तियों का खेल है। इसी कारण प्रकृतिवादी लेखक व्यक्ति का उसकी प्राकृतिक परिस्थिति में अध्ययन करता है कि किस प्रकार वह प्रकृति से उत्तेजित होता है और किस प्रकार वह प्रकृति को अपने हित में परिवर्तित करता है। गॉल्सवर्दी का कहना है कि यदि कोई नाटककार अपने समय के जीवन को प्रकृतिवादिता के अनुसार ठीक-ठीक निरूपित करने की चेष्टा करे तो वह मनुष्य को अपनी परिस्थिति में ऐसा फँसा पायेगा कि वह वहाँ से अलग हो ही नहीं सकता। इब्सन ने प्रकृतिवाद का आवेशपूर्ण अनुसरण किया। उसने रंगमंच का पुरानी रीतियों से उद्धार किया और जीवन को उसके यथार्थ रूप में चित्रित किया। बैनेट, गॉल्सवर्दी, बैक, गोरकी, शैखो और होप्टमैन योरोप के प्रसिद्ध प्रकृतिवादी नाटककार हैं। प्रकृति-वाद का उपन्यास की आलोचना में यथार्थवाद कह देते हैं। पुराने उपन्यासकार मिथ्याभूत नायक और नायिकाओं को अविश्वसनीय घटनाओं में प्रदर्शित करते थे। नये उपन्यासकारों की चेष्टा हुई कि वे जीवित मनुष्यों की सच्ची सम-स्याएँ और उनके यथाभूत संवेगों को उपन्यास में चित्रित करें। वे संसार का अपना सच्चा अनुभव पाठक के सामने रखना चाहने लगे। स्पष्ट है कि मन-गढ़न्त वस्तुओं को छोड़ वे वास्तविक जीवन की वास्तविक क्रियाओं की ओर झुके। इस झुकाव में उन्होंने यह भी परवाह न की कि चित्रित जीवन-दृश्य मनोहर हैं अथवा जुगुप्सित। इन्द्रियगम्य संसार का वर्णन ही यथार्थवाद का परम उद्देश्य है। फ्लोबर्ट, जोला, डोडे और दोनों गोनकोर्टों ने फ्रान्स में यथार्थवाद का बड़ी धूम से प्रचार किया। डिकिन्स, ज्योर्ज इलियट, किप्लिंग, हार्डी, और गॉल्सवर्दी इंगलैण्ड के प्रसिद्ध प्रकृतिवादी उपन्यासकार हैं।

प्रकृति अनुकरण हाल में अतियथार्थवाद (अंग्रेजी, सररियलिज़्म) के रूप में आया है। इस मत का उद्देश्य प्रकृति की मान्य सीमाओं से परे जाना है। साहित्य में ऐसे उपकरण लाना है जो अभी तक नहीं लाये गये थे, जैसे स्वप्न और स्वयं प्रवर्तक साहचर्य, और चेतन और अचेतन अवस्थाओं का मेलान। अतियथार्थवादी अपनी कृति को बिना तर्क के व्यवस्थित होने देता है जिससे वह अचेतन मानसिक व्यापार के समतुल्य दीख पड़े।

हर्बर्ट रीड के मतानुसार अतियथार्थवाद रोमान्सवाद की विस्तृति है। दूसरों के मत में अतियथार्थवाद रोमान्सवाद का निष्फलीकरण है। इसमें सन्देह नहीं कि दोनों कल्पना की जगह विभिन्नता और तर्क की जगह स्वयं प्रवर्तक साहचर्य के प्रति अधिक रुचि दिखाते हैं। यदि अतियथार्थवाद रोमान्सवाद का प्रतिनिधित्व करता है तो वह ऐसा रोमान्सवाद है जिसका महायुद्धों द्वारा मान्य मूल्यों के पतन अथवा विनाश से शोध हो चुका है, जिसकी बुद्धिसापेक्षता के

सिद्धांत से और फ्रायड के मनोविश्लेषण से हुई है। सच पूछा जाय तो अति-यथार्थवाद के सम्भाव्य के कारण फ्रायड, हीगल, और मार्क्स ये तीन हैं। फ्रायड से शोधीकृत मन के अनुसधान की प्राप्ति हुई, हीगल से विपरीत सत्यों के संश्लेषण के प्रत्यय का ज्ञान हुआ, और मार्क्स से समकालीन मूल्यों की घृणा के लिये तर्क मिला।

हॉब्स ने आलोचना के इतिहास में एक नई कलामीमांसा का प्रवर्तन किया। वह कहता है कि काल और शिक्षा से अनुभव उत्पन्न होता है। अनुभव से मेधा (मेमरी) उत्पन्न होती है। मेधा से अवधारणा (जजमेण्ट, और तरंग (फैन्सी) उत्पन्न होती हैं। अवधारणा से काव्य की प्रभावोत्पादकता और उसकी रचनाव्यवस्था उत्पन्न होती हैं, और तरंग से काव्य का अलंकार उत्पन्न होता है। अवधारणा और तरंग ही हॉब्स के मतानुसार काव्य के विधाता हैं। हॉब्स तरंग का वैदग्ध्य (विट) के अर्थ में प्रयोग करता है। वैदग्ध्य और अवधारणा इन दोनों शब्दों की व्याख्या जैसी उसने का वैसी ही उस समय के आलोचनात्मक शब्द-समुदाय में दृढ़ता से स्थापित हो जाती है, और पीछे के आलोचक इसी व्याख्या का सहारा लेते हैं। वैदग्ध्य वह मानसिक शक्ति है जो व्यक्त रूप से असमान वस्तुओं में सादृश्य ढूँढ़ती है, और अवधारणा वह मानसिक शक्ति है जो व्यक्त रूप से समान वस्तुओं में विभिन्नता ढूँढ़ती है। तरंग वास्तव में स्वच्छन्द कल्पना है और उसके गुण तीव्रता और प्रत्युत्पन्नत्व हैं। वह कल्पना के विपरीत चपल और अनुत्तरदायी होती है। हॉब्स ने जिस अर्थ में वैदग्ध्य का प्रयोग किया है उस अर्थ में वैदग्ध्य तरंग के उपर्युक्त दोनों गुणों का सूचक है। धीरे-धीरे वैदग्ध्य में तारंगिक लक्षण निम्न-पदस्थ हो जाता है और बौद्धिक लक्षण उच्चपदस्थ हो जाता है। यह बात डैनिस की इस परिभाषा से स्पष्ट है। वैदग्ध्य बुद्धि और उच्छृंखलता का ऐसा उचित सम्मिश्रण है जिसमें बुद्धि का परिमाण अवश्य अधिक रहता है। इस परिभाषा में अवधारणा का बौद्धिक तत्व जिसके कारण उसमें और वैदग्ध्य में विरोध था वैदग्ध्य में समाविष्ट हो जाता है। यह तत्व आगे चल कर और जोर पकड़ जाता है। ड्राइडन वैदग्ध्य को विचारों और शब्दों की उपयुक्तता ही समझता है। अगली पीढ़ी में पोप वैदग्ध्य को मनोहर अभिव्यञ्जना ही नहीं कहता वरन् उसका तादात्म्य विवेक और मानवी और भौतिक व्यवस्थित प्रकृति से स्थापित करता है, जैसा कि निम्नोद्धृत पोप के चरणद्वय (कप्लेट) से स्पष्ट होता है।

ट्रू विट इज़ नेचर टु एडवैंटेज ड्रेस्ड
व्हाट ऑफ्ट वाज़ थॉट, बट नेवर सो वेल एक्सप्रेस्ड।[१]

प्रकृत्यनुकरण और वैदग्ध्य की तरह रुचि एक तीसरा काव्य सिद्धान्त है जो

---

[१]. True wit is nature to advantage dress'd,
What oft was thought, but ne'er so well express'd.

साहित्यिक कलाकार की प्रवृत्ति उसके विषय-वस्तु की ओर निश्चित करता है। रुचि उस चारुता और रमणीयता की उत्पादक है जो आलोचनात्मक नियमों के परिपालन से कभी उपलब्ध नहीं हो सकती। रुचि बुद्धि और प्रमाण से स्वतंत्र काम करती है और उसकी क्रियाशीलता हृदय से शासित होती है, मस्तिष्क से नहीं। उसे व्यक्तिगत संवेदनशीलता के अधिकार मान्य हैं। फिर भी जैसे वैदग्ध्य के अर्थ में स्वच्छंदता की जगह हेतुवादिता आगई, वैसे ही रुचि के अर्थ में भी स्वातंत्र्य की जगह हेतुवादिता आगई। स्कैलीगर का कहना है कि जैसे जगत में प्रत्येक जाति के विशिष्ट जीवों के लिये पूर्णता का मानदण्ड है, उसी तरह साहित्य जगत में प्रत्येक साहित्यिक रूप के लिये पूर्णता का एक मानदण्ड है। मूषक का स्वभाव है कि वह मूषकत्व की निर्दिष्ट क्षमता प्राप्त करे, और उसी नियम द्वारा जिस से विकासात्मक प्रगति में उसके शरीर की व्यवस्था निश्चित होती है, वह मूषकत्व की नैसर्गिक शक्यता को पूर्णतया सिद्ध करे। अश्व का स्वभाव है कि वह अश्वत्व की निर्दिष्ट क्षमता प्राप्त करे—तीव्रता से मनुष्य के नियंत्रण में दौड़ना। अश्व के सब गुण, उसकी हड्डियों की बनावट और उसका रूप, उसके शरीर का सुडौलपन और उसकी टांगों का उसके शरीर से अनुपात, उसके नथनों का आकार और उसके चेहरे में आपेक्षिक स्थान, ये सब चीजें तभी सुन्दर हैं जब उन द्वारा अश्व अश्वत्व के जातीय धर्म का पूर्णतया पालन करता है। इसी प्रकार काव्य भी अपनी नैसर्गिक क्षमता की पूर्ण सिद्धि के हेतु विकसित होता है। वही विकसित रूप काव्य का मानदण्ड है। उसी को मानसिक दृष्टि के सामने रखकर कवि को कविता करनी चाहिये और आलोचक को आलोचना करनी चाहिये। लाब्रूअरे फ्रान्स का एक प्रसिद्ध आलोचक स्कैलीगर के शब्दों को इस तरह दुहराता है। "कला में पूर्णता की एक सीमा होती है जैसे प्रकृति में परिपक्वता अथवा चारुता की सीमा होती है। जो कलाकार उस सीमा से अभिज्ञ है और उस सीमा से प्रेम करता है, उसकी रुचि पूर्ण है। इसके विपरीत, जो कलाकार उस सीमा से अनभिज्ञ है और उस सीमा से इधर या उधर की किसी और वस्तु से प्रेम करता है, उसकी रुचि दोषपूर्ण है। इस प्रकार अच्छी और बुरी दोनों तरह की रुचियाँ हैं, और मनुष्य रुचि के विषय में व्यर्थ नहीं झगड़ते।"

प्राचीन मनोविज्ञान में कल्पना इन्द्रिय (सैन्स) और प्रज्ञा (इन्टिलैक्ट) के बीच की एक मानसिक शक्ति मानी गई है। उसका कार्य इन्द्रियों द्वारा प्राप्त संस्कारों को सुरक्षित रखना और उनका पुनरुत्पादन ही नहीं है, बल्कि मानसिक संकेतों को इन्द्रियों तक पहुँचाना भी। कला के प्रसंग में वह कभी स्वयंसत्ताक उत्पादक शक्ति नहीं मानी गई है। अरिस्टॉटल कल्पना में क्षीण संवेदना के अतिरिक्त कुछ नहीं मानता। उसके विचारानुसार कल्पना संवेदना की ही सेवा द्वारा प्राप्त अनुलिपि है। लौंजायनस कल्पना को प्रतिमा-निर्मायक शक्ति कहता है। काव्य में वह कल्पना का प्रयोग उस मानसिक अवस्था के लिए करता है जिसमें कि कवि

अनुराग और उत्साह के वेग से प्रेरित होकर वर्ण्य विषय को आँखों के सामने सुस्पष्ट देखता है और अपने वर्णन द्वारा पाठक को भी उसे सुस्पष्ट दिखाने में समर्थ होता है। कल्पना की धारणा में न तो अरिस्टॉटल को और न लॉञ्जायनस को उसके सारभूत तत्त्व विधायकता का पता है। यूनानी आलोचना केवल फ़िलॉस्ट्रेटस में एक ऐसा स्थल प्रस्तुत करती है जिस में कल्पना-विषयक विधायकता का उल्लेख है। उस स्थल में फ़िलॉस्ट्रेटस कल्पना शक्ति की अनुकरण शक्ति से तुलना करता है, और कल्पना को उच्चतर शक्ति मानता है। वह कहता है कि अनुकरण शक्ति उसी चीज़ का निर्माण कर सकती है जिसे वह अपने सामने देखती है, परन्तु कल्पना शक्ति ऐसी चीज़ का भी निर्माण कर सकती है जो उसके दृष्टिगोचर नहीं है; बस, इस बात की आवश्यकता है कि निर्मित चीज़ शक्य हो। फ़िर, यथार्थ का आकस्मिक धक्का अनुकरण के हाथ को रोक देगा परन्तु कल्पना के हाथ को नहीं, क्योंकि कल्पना भावना की ओर निर्बन्ध चली जाती है। उदाहरणार्थ, फ़िडियस और प्रेक्सीटेलीज़ देवताओं को देखने के लिये स्वयं स्वर्ग नहीं गए; उन्होंने देवताओं को अपनी कल्पना में देखा और उन देवताओं को अपनी कृतियों में प्रत्यक्ष किया।

मध्यकाल और पुनरुत्थान में आलोचकों ने कल्पना को रोगशास्त्र से संबंधित समझा। उन का विचार था कि कल्पना से ही मानसिक विक्षिप्तता का उद्भव है। 'ए मिडसमर नाइट्स ड्रीम' में शेक्सपिअर ने थैस्यूस के एक कथन में यही विचार प्रकट किया है कि पागल, प्रेमी, और कवि इन तीनों में कल्पना घनीभूत रहती है। बेकन अवश्य कल्पना का उस मानसिक शक्ति के अर्थ में प्रयोग करता है जो पदार्थों के बाह्य रूप को मन की भावना से परिवर्तित कर नीरस को सरस कर दिखाती है। अपनी 'एडवान्समेण्ट ऑफ़ लर्निंग' में उसने काव्य की उत्पत्ति पर प्रकाश डाला है। उसका कहना है कि संसार में कल्याण, गौरव, और वैचित्र्य विद्यमान हैं, परन्तु कवि उनसे संतुष्ट नहीं होता। उसकी कल्पना उसे विद्यमान कल्याण से अधिक श्रेष्ठ कल्याण की सूझ देती है, विद्यमान गौरव से अधिक भव्य गौरव की सूझ देती है; और विद्यमान वैचित्र्य से अधिक मनोहर वैचित्र्य की सूझ देती है। असंतुष्टि ही से काव्य-विषयक कल्पना उत्तेजित होती है; और जो रूप कल्याण, गौरव, और वैचित्र्य का कल्पना दिखाती है, उसी को कवि अपनी संतुष्टि के लिए कविता में रच देता है।

नवशास्त्रीय (नियोक्लासिक) काल में भी कल्पना का ठीक अर्थ निश्चित नहीं हो पाया। ड्राइडन कल्पना को ऐसी शक्ति समझता है जो एक तेज शिकारी कुत्ते की तरह स्मृति-क्षेत्र पर ऐसे भावों की खोज में दौड़ मारती है जिनके द्वारा वह अनुभूतियों को अच्छी तरह प्रदर्शित कर सके। महाकाव्य अथवा ऐतिहासिक काव्य में कल्पना का काम रमणीय चरित्रों, कृत्यों, मनोवेगों, स्थाई भावों, और विचारों को प्रस्तुत करना है। इन सब चीज़ों का वर्णन कल्पना ऐसी उपयुक्त, सुस्पष्ट, और आलंकारिक

भाषा में करती है कि वह अनुपस्थित विषय को आँखों के सामने प्रकृति से भी अधिक सुन्दर और पूर्ण रूप में ले आती है। बस, कल्पना की पहली क्रिया युक्ति, अथवा ठीक विचारों का पाना; दूसरी क्रिया तरंग, अथवा मनोग्रहण अथवा पाये हुये विचारों को अवधारणा के निदर्शन में विषय के अनुकूल ढालना, अथवा करना; तीसरी क्रिया वाग्मिता अथवा पाये हुए विचारों की उपयुक्त, सार्थ, और रूपांतरित ध्वनिपूर्ण शब्दों में व्यंजना। पहली क्रिया में कल्पना की प्रशंसा उसकी तेजी के लिये होती है; दूसरी क्रिया में उसकी प्रशंसा उसकी सफलता के लिये होती है, और तीसरी क्रिया में उसकी प्रशंसा उसकी विशुद्धता के लिये होती है। प्राचीन कवियों में ओविड युक्ति और तरंग के लिये विख्यात है और वर्जिल वाग्मिता के लिये। एडीसन कल्पना का क्षेत्र दृश्य जगत ही मानता है। उसका कहना है कि कल्पना में कोई ऐसी प्रतिमा नहीं आ सकती जो पहले दृष्टिगोचर न हुई हो। हां, कल्पना वास्तविक प्रतिमाओं को स्वतंत्रता से एक दूसरे से अलग कर सकती है और मिला सकती है। ऐसे फूल जो भिन्न-भिन्न ऋतुओं और देशों में आते हैं कल्पना अपने वर्णन में एक ही ऋतु और देश में प्रस्तुत कर सकती है। कल्पना ऐसे जीवों की सृष्टि कर सकती है जिनका शरीर भेड़ का, जिनका शिर शेर का, और जिनकी पूँछ अजगर की हो। किसी मनुष्य को दश शिर दे सकती है, किसी को चार। काल, देश, स्थिति, स्वभाव, यथार्थ सब का स्वच्छन्दता से उल्लंघन कर सकती है। कल्पना दो रूप में आनन्द प्रदान करती है; अपरोक्ष रूप में, और परोक्ष रूप में। अपरोक्ष कल्पना का आविर्भाव यथार्थ वस्तुओं की उपस्थिति में होता है, जब हम विस्तृत मैदान, विपुल जलराशि, और असंख्य तारों से उद्दीप्त आकाश को देखते हैं तो हमारे हृदय में आनन्द का उद्रेक होता है। इस आनन्द के उद्भवार्थ वस्तुओं में बृहत्त्व, असाधारणता और विचित्रता होनी चाहिये। परोक्ष कल्पना का आविर्भाव यथार्थ वस्तुओं की अनुपस्थिति में होता है। या तो पहले देखी हुई सुन्दर चीजें ज्यों की त्यों अथवा भावना से परिवर्तित फिर स्मृति मानसिक दृष्टि के सम्मुख ले आये और या सुन्दर चीजों के चित्र कला द्वारा हमारी मानसिक दृष्टि के सम्मुख आयें। पहले प्रकार के आनन्द की प्राप्ति के लिये मनुष्य को जीवन और प्रकृति का निरीक्षण आवश्यक है और दूसरे प्रकार के आनन्द के लिये मानसिक शिथिलता और कलात्मक संस्कृति की आवश्यकता है। ऊपर के दो विवरणों में ड्राइडन तो कल्पना को स्मृति से सीमित करता है और एडीसन चक्षु इन्द्रिय से। इन मान्य सीमाओं के भीतर दोनों कल्पना को पूरी स्वतंत्रता देते हैं। परंतु दोनों अनुभववादी है। न ड्राइडन और न एडीसन कल्पना को वह सर्वोच्च मानसिक शक्ति समझता है जो अपनी रचनात्मक वृत्ति में तत्त्व से उत्तराधिकारिणी है और जो संवेदना से आये हुए भावों को संयोजित और सुघटित ही नहीं करती वरन् उनका अपाकरण कर अनुभवातीत हो जाती है। कान्ट ने भी कल्पना को अवराधिकारिणी माना है। वह इन्द्रियों द्वारा पाये हुए प्रदत्तों के अपूर्ण संश्लेषण को बुद्धि तक एक स्पष्ट संश्लेषण के लिये भेजती है।

कल्पना का ठीक-ठीक अर्थ रोमान्स के पुनः प्रवर्तन काल में हुआ। वर्ड्सवर्थ 'लिरीकल वैलेड्स' के १८२५ ई० के संस्करण में कल्पना की व्याख्या करता है। पहले वह एक होशियार आलोचक की इस व्याख्या की उपेक्षा करता है कि कल्पना इन्द्रियदत्त प्रतिभासों की मन में प्रतिमा खींच देती है। उसका कहना है कि कल्पना जब उच्चतर भाव की द्योतक होती है तो उसका वाह्य अनुपस्थित पदार्थों की प्रतिमाओं से कोई संबंध नहीं होता है। कल्पना वह शक्ति है जिससे मन वाह्य पदार्थों पर और रचना और प्रणयन सामग्री पर काम करता है। वर्ड्सवर्थ अपना अभिप्राय कई दृष्टांतों से स्पष्ट करता है। शेक्सपिअर 'किङ्ग लिअर' में एक व्यवसायी को जो चट्टानों पर एक विशेष प्रकार के पौधे इकट्टा करता है, चित्रित करते समय उसे लटका हुआ कहता है। दूर से देखने में वह मनुष्य वास्तव में लटका हुआ लगेगा। लटका हुआ यह निरूपण इस प्रसंग में कल्पनात्मक है। इसी तरह मिल्टन जहाजों के एक वृहद् वेड़े को दूर से देख कर उसे वादलों से लटका हुआ कहता है। इस निरूपण में कल्पना की मात्रा और भी अधिक है। पहले तो वेड़े का वेड़ा ही एक व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत होता है। फिर क्योंकि दूर समुद्र पर वादल और जहाजों के मस्तूल मिले दिखाई देते हैं, वेड़ा रूपी व्यक्ति वादलों से लटका हुआ लगता है। कल्पना की ऐसी प्रतिमाओं में पदार्थों में ऐसे गुण प्रविष्ट हो जाते हैं जो उनमें नहीं हैं, अथवा ऐसे गुणों का आरोप हो जाता है जो दूसरों में हैं। कल्पना एक प्रतिमा पर ही क्रियाशील नहीं होती है, वरन् प्रतिमाओं के समुच्चय पर भी। ऐसी सूरत में एक प्रतिमा दूसरी प्रतिमा को परिवर्तित और सार्थ कर देती है। उदाहरणार्थ, मिल्टन के एक दूसरे स्थल में बड़ी ऊँची चोटी पर कोई वृद्ध मनुष्य एक भारी पत्थर की तरह अचेत पड़ा दृष्टिगोचर होता है। ऐसी प्रतीति होती है कि वह पत्थर एक सामुद्रिक जीव और रेंग कर किसी चट्टान की ताक में थका, अचेत, धूप में विश्राम कर रहा है। इस उपमा में उपमेय एक वुड्ढा आदमी है जो न जीवित प्रतीत होता है न मृत और न सुप्त। कवि की कल्पना पत्थर को सेन्द्रिय सामुद्रिक जीव की प्रतिमा में बदल देती है और सामुद्रिक जीव अपने जीवित लक्षणों को दूर कर पत्थर वृत्ति धारण कर लेता है। यह सामुद्रिक जीव की मध्यस्थित प्रतिमा पत्थर की प्रतिमा को सादृश्य में वुड्ढे आदमी की दशा से घटित कर देती है। कल्पना पदार्थों को परिवर्तित कर देती है। उन्हें नये व्यापार और गुण प्रदान कर देती है। यह ही नहीं, कल्पना निर्माता और स्रष्टा भी है। ऐसी क्रियाशीलता के उसके बहुत से ढंग हैं परंतु सवसे श्रेष्ठ ढंग यह है। वह संख्याओं का इकाई में घनीकरण कर देती है और इकाई का संख्याओं में पृथक्करण कर देती है। उदाहरणार्थ, मिल्टन वाला स्थल जिसका हम ऊपर निर्देश कर चुके हैं उद्धृत करते हैं :—

ऐज़ व्हेन फ़ार ऑफ़ ऐट सी ए फ्लीट डेस्क्राइड
हैंग्ज़ इन द क्लाउड्स, बाइ इक्वीनॉक्शल विन्ड्स
क्लोज़ सेलिंग फ्राम बैंगाला, ऑर द आइल्स
ऑफ़ टेर्नाट ऑर टाइडोर, ह्वेन्स मर्चैण्ट्स ब्रिंग
देयर स्पाइसी ड्रग्स, दे ऑन द ट्रेडिंग फ्लड
थ्रू द वाइड एथियोपियन टु द केप
प्लाई, स्टेमिंग नाइटली, टुवार्ड द पोल;
सो सीम्ड
फ़ार ऑफ़ द फ्लाइंग फ़ीण्ड।[1]

यहाँ भागते हुए शैतान की प्रतिमा है। बेड़ा बहुत से जहाजों से बना है; अतः संख्यक है, अर्थात् उसकी संख्या की जा सकती है। समुद्र पर तेजी से जाता हुआ बेड़ा भागते हुए शैतान के तुल्य है, इसलिये एक है। कल्पना की यह व्याख्या वर्ड्सवर्थ ने रचना-कौशल से परिमित रखी है। इससे आगे वह नहीं बढ़ा। आगे बढ़ना उसके मित्र कोलरिज का काम था, जिसने कल्पना को काव्य-प्रणयन का मूलतत्त्व सिद्ध कर दिखाया। कोलरिज बड़ा सूक्ष्मदर्शी तत्त्ववेत्ता था। आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि और आलोचनात्मक प्रेरणा में बहुत कम तत्त्ववेत्ता उसकी बराबरी कर सकते हैं। कोलरिज की प्रेरणा वर्ड्सवर्थ की एक कविता सुनने पर जागृत हुई। उस कविता में एक विशेष गुण यह था कि उसके सुनते ही कोलरिज की भावना शक्ति और बुद्धि दोनों चेतनावस्था में आईं, उसे सौन्दर्य का ही प्रत्यक्षीकरण न हुआ, वरन् सत्य का भी निश्चय हुआ। वह परिणाम भावों और प्रतिमाओं के मनमाने ढंग से एकत्रित करने में नहीं सम्भव हो सकता था। जब उनका एकत्रीकरण वर्ड्सवर्थ जैसे प्रतिभाशाली कवि द्वारा हुआ तभी उनमें हृदयस्पर्शिता और सुबोधता के गुण आये। बस, कोलरिज को सूझ हुई कि वह मानसिक शक्ति जिसके द्वारा ऐसा परिणाम सम्भव है, कल्पना है। पुराने मनोवैज्ञानिकों ने चेतना का विश्लेषण किया था और उन्हें चेतना में ठण्डे, मृत, और कोरे संस्कारों, प्रतिमाओं, और प्रत्ययों के अतिरिक्त कुछ न मिला। संस्कार प्रतिमा, प्रत्यय सब प्रकृति-जनित हैं। बहुत सी संवेदनाएँ मिल कर एक सार्थक

दृश्य की उत्पत्ति करती हैं। उस सार्थकता का कोई पता पृथक-पृथक संवेदनाओं के विश्लेषण से नहीं चलता। चेतना में संवेदना ही नहीं है, वरन् मन* भी है। चेतना दोनों का संश्लेषण है। अकेले तो न मन चेतना है और न संवेदना। विश्वचेतना ससीम और असीम का एकीकरण है। विश्वकल्पना उसका कारण है। ज्यों ही ब्रह्म प्रकृति में विषयीकृत होता है त्यों ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है। ब्रह्म का विषयीकरण वैसे ही निरन्तर है जैसे सूर्य का प्रकाश फेंकना। इस प्रकार संसार के पदार्थ ब्रह्म के विषय अथवा विचार हैं और जगत विषयीकृत ब्रह्म है। जैसा हम कह चुके हैं ब्रह्म और प्रकृति का संयोग कल्पना द्वारा होता है। ब्रह्म कल्पना बाह्य प्रकृति को ब्रह्म के सम्मुख उपस्थित करती है और ब्रह्म का विषयीकरण संभव होता है। इस प्रकार विश्व ब्रह्म की कला है। बस मानव चेतना भी विश्वचेतन के अनुरूप है। जैसे ब्रह्म मन के सम्मुख ब्रह्मकल्पना बाह्य प्रकृति को उपस्थित करती है, वैसे ही मानवमन के सम्मुख मानवकल्पना प्रकृति के उस क्षेत्र को जिसमें मानवमन का व्यापार है, लाती है; और जैसे ब्रह्म का विषयीकरण हो जाता है, वैसे ही मनुष्य का विषयीकरण हो जाता है। क्यों विषयीकरण होता है? इसका कारण यही ज्ञात होता है कि मन और प्रकृति पहले से ही समस्वर हैं। विश्व ब्रह्म का आत्मज्ञान है और मनुष्य का जगत मनुष्य का आत्मज्ञान है। इस आत्मज्ञान का कारण कल्पना है। इस कल्पना को कोलरिज प्रथमपदस्थ कल्पना कहता है। प्रथमपदस्थ कल्पना प्रत्यक्षीकरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। विश्व भगवान का प्रत्यक्षीकरण है, मनुष्य का जगत मनुष्य का प्रत्यक्षीकरण है। ब्रह्म के विचार विश्व में प्रविष्ट हैं और विश्व पदार्थ उन्हें प्रतिबिम्बित करते हैं। उसी प्रकार मनुष्य के विचार मनुष्य जगत में प्रविष्ट हैं और मनुष्य के क्षेत्र में उपस्थित पदार्थ उसके विचारों को प्रतिबिम्बित करते हैं। इस मत को कोलरिज ने अपनी 'ओड टू डिजैक्शन' में व्यक्त किया है :—

ओ लेडी वी रिसीव वट ह्वाट वी गिव,
ऐण्ड इन अवर लाइफ एलोन डथ नेचर लिव।[1]

"हे देवी! जगत हमारे जीवन में ही जीवित है और हम जगत से वही वापिस पाते हैं जिसे हम उसे प्रदान करते हैं।" परिमित प्रकृति जिसमें मनुष्य का व्यापार है उसकी चेतना को नियत पदार्थ अनुभव के लिए देती है। परन्तु सारी

---

*मन भारतीय मनोविज्ञान में इन्द्रिय है और प्रकृति से संबंधित है। पश्चिम में मन अर्थात् माइण्ड एक ऊँचे अर्थ में प्रयोग किया जाता है, जिसके लिए हमारे यहाँ आत्मा अथवा पुरुष प्रयुक्त होता है। यहाँ मन उसी ऊँचे अर्थ में प्रयुक्त है।

[1] 'O lady! we receive but what we give,
And in our life alone doth nature live.'

प्रकृति को मनुष्य ब्रह्म नहीं वरन् ब्रह्म के विषयीकृत विचारों की नाईं देखता है। और यह इसी बात से संभव है कि ब्रह्म की बुद्धि और मनुष्य की बुद्धि में साहचर्य है। एक तरह से प्रकृति मनुष्य के ऊपर आरोपित है और क्योंकि मनुष्य की कल्पना ब्रह्म कल्पना की प्रतिनाद है, मनुष्य प्रकृति को अपने अनुरूप फिर उत्पादित करता है। अब प्रश्न उठता है कि कलाकार प्रकृति की कोरी नकल क्यों नहीं करता। उत्तर यही है कि कलाकार को ऐसी नकल वृथा की प्रतिद्वन्द्विता मालूम होती है। वह जानता है कि इस प्रतिद्वन्द्विता में उसकी हार निश्चित है, क्योंकि असल को नक़ल कैसे पहुँच सकती है अतः कलाकार अपनी भावनानुसार प्रकृति का पुनः सृजन करता है। इस पुनः सृजन ही में उसकी आत्मा को आनन्द मिलता है। पुनः सृजन से मतलब यही है कि जगत से चेतना में आये हुये तत्त्वों का कलाकार अपनी भावनानुसार एकीकरण करता है। कोलरिज के इस विवेचन से यही सिद्ध होता है कि कल्पना वह मानसिक शक्ति है जिसके द्वारा विभिन्न तत्त्वों का एकीकरण होता है।

वर्तमान शताब्दी में आई० ए० रिचार्ड्ज़ कोलिरिज का भारी पोषक है। उसने पहले कल्पना के वे छः अर्थ दिये हैं जो आलोचनात्मक वादविवाद में प्रचलित हैं। पहले अर्थ में कल्पना चाक्षुप सुस्पष्ट प्रतिमाओं की उत्पादक मानी जाती है। दूसरे अर्थ में कल्पना सालंकार भाषा के प्रयोग से संबद्ध है। जो साहित्यकार रूपकों और उपमाओं से अपने भाव व्यक्त करते हैं कल्पनाशील कहलाते हैं। तीसरे अर्थ में वह लेखक अथवा पाठक कल्पनाशील कहलाता है जो दूसरे मनुष्यों की चित्तावस्थाओं को, विशेषतया दूसरों के मनोवेगों को, सहानुभूतिपूर्वक प्रस्तुत कर सकता है। चौथे अर्थ में कल्पना युक्तिकौशल की द्योतक है। इस अर्थ में जो व्यक्ति ऐसे तत्त्वों को जो सामान्यतः एक दूसरे से नहीं मिलाये जाते हैं मिला देता है कल्पनाशील कहलाता है। कल्पना का पांचवाँ अर्थ वैज्ञानिक है। वैज्ञानिक कल्पना वह मानसिक शक्ति है जिसके द्वारा वैज्ञानिक सामान्यतः असदृश वस्तुओं में संगत संबंध दिखा देता है। इस क्रिया में कल्पना अनुभव को निर्णीत ढंगों में निर्णीत उद्देश्यों के लिये व्यवस्थित करती है। रचना-कौशल के उत्कृष्ट उदाहरण भी कल्पना के चमत्कार हैं। छठें अर्थ में कल्पना वह मायिक और संयोगिक शक्ति है जो विपरीत और विस्वर गुणों के संतुलन में प्रकट होती है। कल्पना की यही परिभाषा आलोचना को कोलरिज की सर्वोच्च देन है। जैसे जगत् के नानाविधत्व का आधार एक भगवान है उसी प्रकार नानाविध अनुभव के एकत्व का आधार कवि है। इसी कारण आई० ए० रिचार्ड्स करुण नाटक को उत्कृष्ट कविता मानता है क्योंकि करुण में विपरीत अनुभवों का एकीकरण होता है। करुण हमारी करुणा और भय की प्रवृत्तियों को जागृत करता है। करुणा समीप आने की प्रवृत्ति है और भय भगने की प्रवृत्ति है। इस प्रकार दोनों प्रवृत्तियां एक दूसरे के विपरीत हैं। करुण ऐसी विपरीत प्रवृत्तियों को एक ही काल के अनुभव में उपस्थित करता है, इस लिये वह

श्रेष्ठतम काव्य है। जीवन कला में भी सर्वोच्च व्यक्ति वही है जिसे सुख और दुख, विफलता और सफलता, जीवन और मृत्यु सब एक समान ग्रहणीय हैं। क्योंकि शेक्सपिअर अपने नाटकीय संसार में अपने पात्रों द्वारा ऐसी प्रवृत्ति दिखाता है, इसलिये वह सर्वोच्च कवि है। आजकल की आलोचना में कल्पना को कोई स्वतन्त्र मानसिक शक्ति नहीं माना जाता है। उसे मन के अनुकलन से सम्बद्ध किया जाता है। नवीन मनोविज्ञान कल्पना से चेतन मन का वह प्रयास समझता है जिसके द्वारा वह चेतनोन्मुख (प्रीकौन्शस) मन से उन प्रतिमाओं को निकाल कर अपने स्तर पर ले आता है जो उसमें दबी पड़ी रहती हैं। जैसे रात को आकाश की ओर सामान्य दृष्टि से देखने से बहुत दूर के तारे नहीं दीख पड़ते; परन्तु जब गौर से देखते हैं तो दीख पड़ते हैं, इसी प्रकार चेतनोन्मुख मन में पड़ी हुई प्रतिमाएँ चेतन मन के संकेन्द्रण से चेतना में आ जाती हैं। एक प्रसिद्ध आलोचक कल्पना को आध्यात्मिक संवेदना कहता है। आध्यात्मिक संवेदना में मनुष्य का सारा अस्तित्व सम्मिलित होता है। ऐसी आध्यात्मिक संवेदना शारीरिक भी होती है, अंतर्वेगीय भी होती है, और प्रज्ञात्मक भी होती है। इस विचार से वही कवि कल्पनाशील कहा जायगा जो अपनी मानसिक क्रिया अधिक से अधिक मात्रा में तीव्र कर सकता है। कुछ तत्त्ववेत्ता कल्पना को नियंत्रित मन मानते है। उनका विचार है कि मन वस्तुतः संकल्पात्मक है। कलात्मक प्रवृत्ति मन को संकल्प के विषय की ओर बढ़ने से रोकती है और सम्बद्ध मनोवेग को पूरे चेतना क्षेत्र और परिस्थिति स्थल पर फैला देती है। इस क्रिया में मनोवेग की तीव्रता कम हो जाती है, परन्तु उसके विस्तार की वृद्धि हो जाती है और वह मन पर नियंत्रण स्थापित करने की जगह स्वयं मन के नियंत्रण में आ जाती है। इसी अवस्था में कल्पना की जागृति होती है और मन ध्यानशील हो जाता है। ध्यानशीलता की अवस्था में वस्तुस्थिति के उस वास्तविक रूप की मन को सूझ हो जाती है, जिसके द्वारा उसका रहस्य स्पष्ट हो जाता है। मन की यही क्रियाशीलता जो उसकी संकल्पात्मक वृत्ति के निरोध से निष्पन्न होती है कल्पनात्मक है।

हरमैन टर्क एक जर्मन तत्त्ववेत्ता और आलोचक अपनी कृति 'द मैन ऑफ जीनियस' में हैम्लेट के स्वभाव का विश्लेषण करता है। वह उसकी अकर्मण्यता के दो कारण देता है, एक तो उसका विषयीकरण; और दूसरा उसकी निस्वार्थता। हैम्लेट तत्त्वतः आदर्शवादी पुरुष है। उसका आदर्शवाद रूढ़िबद्ध नैतिकता से परे है। उसका मन घटनाओं से एक दम उस (यूनीफॉर्म) एकरूप नियम पर पहुँच जाता है जो उनको स्पष्ट करता है। किसी वस्तु का भाव, किस प्रकार उस वस्तु का अस्तित्त्व है, कैसे उसके सब अंगों में साधर्म्य है—इन्हीं बातों के चिन्तन में उसके मन को सुख मिलता है। हैम्लेट प्रतिभाशाली पुरुष की तरह अपनी बाह्य परिस्थिति से तादात्म्य अनुभव करने में लीन हो जाता है। उसे यह निश्चय है कि क्लॉडिअस दुष्ट है। परन्तु वह देखता है कि राजदरबारी लोग जिस प्रगाढ़ भक्ति से उसके महानुभाव पिता से प्रेम करते थे, उसी प्रगाढ़ भक्ति से वे उसके दुष्ट चचा

से प्रेम करते हैं। बस उसे दृढ़ विश्वास हो जाता है कि डेनमार्क का पूरा नैतिक पतन हो चला है और उस राष्ट्र में अब कोई व्यक्ति दोष और अपचार से रहित नहीं है। अतएव वह सोचने लगता है कि यदि वह अपने व्यभिचारी चचा को मार भी डाले तो क्या संसार सामाजिक व्यवहार में उतना उन्नत हो जायगा जितना वह उसके मन को वांछनीय है? निराश होकर वह यही निर्णय करता है कि क्लॉडिअस के प्रति उसकी प्रतिशोध की भावना व्यर्थ है। क्लॉडिअस की मृत्यु के पश्चात भी संसार उतना ही अधम, अनीतिमय, और विषयासक्त होगा जितना अब है। हैम्लैट प्रतिशोध के धर्म को व्यक्तिगत औचित्य के रूप में नहीं देखता। वह निस्स्वार्थ हो जाता है। निस्स्वार्थता मनुष्य को अपने व्यावहारिक व्यक्तित्व से ऊपर उठा लेती है। वही प्रतिभा का सार है। प्रतिभा दृष्टिगत पदार्थ से तादात्म्य स्थापित करने की मानसिक वृत्ति है। प्रेम प्रतिभा का रहस्य है। हरमैन टर्क प्रतिभा और प्रेम को एक ही समझता है। जिस वस्तु से हमारा प्रेम होता है उसका ध्यान हम अपनी पूरी मानसिक शक्ति से करते हैं। मन का कोई भाग वस्तु के ध्यान से बाहर नहीं रहता। इसीसे हमें प्रेम वस्तु का पूर्ण स्वरूप दिखाता है। प्रेम वस्तु की उस स्थिति का ज्ञान देता है जिसमें उसके अस्तित्व की सब दशाएँ उपस्थित होती हैं। प्रेम बाह्य अनुकरण नहीं करता बल्कि मौलिक रचना करता है। प्रेम कलात्मक सहजज्ञान का स्रोत है। जो रहस्य हैम्लैट की प्रतिभा का है वही रहस्य शेक्सपिअर की प्रतिभा का भी है। मिडिल्टन मरे ने शेक्सपिअर की प्रतिभा का विश्लेषण किया है। शेक्सपिअर अहंकारी पुरुष नहीं था। अपनी अधिकांश क्रियाओं में, विशेपतया कलात्मक क्रिया में उसका समग्र व्यक्तित्व काम करता था। उसकी कविता समग्र मनुष्य के उद्गार हैं, उसके नाटक जीवन भूतियों और जीवनादर्शों के वास्तविक रूपों पर अवस्थित हैं, और उसके बिना चेतन प्रयास के उसकी कविता और उसका नाटक उसकी कृतियों में सम्मिश्रित हो जाते हैं। जिस अवस्था में शेक्सपिअर ने यह पूर्णता पाई, उसे मिडिल्टन मरे आत्मविस्मृति कहता है। ब्लेक इस अवस्था को अंतःकरण की निर्दोषता (थर्मस) कहता है। जैसे ही बच्चा पैदा होता है, उसका मन अविभाजित होता है। उसके मन में अंतर्वेग और प्रज्ञा का विभेद नहीं होता। वह जीवन का अनुभव अविभक्त मन से करता है। निर्दोषता की यह पहली अवस्था है। जैसे ही बच्चा आयु पाता है, उसका मन अंतर्वेग और प्रज्ञा में विभक्त हो जाता है। वह आत्मज्ञ हो जाता है। इस अवस्था में उत्कृष्ट कला असंभव है। यदि कवि में अंतर्वेग प्रधान होता है, तो उसका झुकाव वाग्विलास की ओर होता है; यदि उसमें प्रज्ञा प्रधान होती है, तो उसका झुकाव अनुपयुक्त और अस्वाभाविक रूपकों की ओर होता है; और दोनों अवस्थाएँ काव्यात्मक सिद्धि की बाधक हैं। यदि कवि का झुकाव जीवन के समग्र बोध की ओर है, तो वह विभक्त मन की अवस्था के पश्चात् उस अवस्था को प्राप्त होता है जिसमें अंतर्वेग और प्रज्ञा का द्वन्द्व मिट

जाता है; अंतर्वेग और प्रज्ञा दोनों उस जीवन के अधीन हो जाते हैं, जिसमें से उनके द्वन्द्व का आविर्भाव हुआ था। इस अवस्था में कवि अनात्मज्ञ हो जाता है। इसी अवस्था में उत्कृष्ट कला की सृष्टि होती है। कारण यह है कि बिना आत्मविराम के कलाकार अपने अनुभव के विषय से अपना समीकरण नहीं कर सकता और बिना ऐसे समीकरण के वह उस आदर्श सत्य तक नहीं पहुँच सकता जिसकी अभिव्यक्ति वह अपनी कला में करता है। इस प्रसंग में टी० एस० इलियट का कथन उपयुक्त है। वह अपने निबंध 'ट्रैडीशन एण्ड इंडीविजुअल टैलेण्ट' में कहता है कि कलाकार की प्रगति निरंतर आत्मोत्सर्ग अथवा पूर्णात्मावसान में ही है। प्रेम, अथवा विषयीकरण, अथवा आत्मविस्मरण, अथवा आत्मोत्सृजन की प्रक्रिया उस आवरण को हटा देती है जिसे जीवन की व्यावहारिक प्रतिक्रियाएँ बनाती हैं। जैसे ही यह आवरण हटता है, असली व्यक्तित्व साक्षात होता है। जैसे स्वस्थ नैतिक चरित्र रूढ़िगत नैतिकता के बहिष्कार से प्राप्त होता है, जैसे उच्चतम शैली शैली से उदासीन होकर विषय में रत होने से प्राप्त होती है, उसी तरह पवित्रतम् व्यक्तित्व व्यावहारिक आत्मा के परित्याग से प्राप्त होता है, यह पवित्रतम व्यक्तित्व जिसकी प्राप्ति आत्मोत्सृजन से होती है कलात्मक रचना का मूलोद्गम है।

आलोचना में व्यक्तित्व का रचनात्मक व्यापार तभी से मान्य हुआ जबसे आलोचकों की प्रवृत्ति रचना को रचनात्मक मन से सम्बद्ध करने की हुई। व्यक्तित्व का विकास व्यक्ति द्वारा मानसिक प्रक्रियाओं की व्यवस्थिति से होता है। व्यवस्थिति संगत होती है। परन्तु इस व्यवस्थिति में वह संगति नहीं होती जो चरित्र (कैरेक्टर) से व्यवस्थिति मानसिक प्रक्रियाओं में होती है। चरित्रवान पुरुष कोई आदर्श चुन लेता है और अपनी मानसिक क्रियाओं को उसी से नियमित करता है। वह ऐसे मनोवेगों की तृप्ति चाहता है जो उसके आदर्श की प्राप्ति में सहायक होते हैं और ऐसे मनोवेगों का निषेध करता है जो उसके आदर्श की प्राप्ति में बाधक होते हैं। वह अपने आदर्श से पूर्णतया शासित होता है। वह अपने व्यवहार पर ऐसी कड़ी नज़र रखता है कि ऐसे समाज में भी जहां चरित्रभ्रष्ट होने का डर हो सकता है अपनी आदर्शनिष्ठा दृढ़ रखता है। स्पष्ट है कि उस की मानसिक व्यवस्था स्वतन्त्र मौलिक विचारों पर आधारित नहीं होती, वरन् उसकी मानसिक व्यवस्था का आधार कोई बाह्य प्रमाण होता है। उसीका वह कट्टर अनुयायी होता है। व्यक्तित्व से जो मानसिक व्यवस्था होती है वह अंतर्जात होती है। वह मनुष्य की अपनी संवेदनाओं पर आधारित होती है। व्यक्तित्व को बाह्य प्रमाणों का शासन मान्य नहीं है। वह किसी तरह का निषेध नहीं करता। वह अपनी मूलप्रवृत्तियों, अपने अंतर्वेगों और विचारों को पूरी स्वतंत्रता देता है। स्वतंत्र मानसिक क्रियाओं से उसके मानसिक जीवन में गत्यात्मकता आ जाती है। इस गत्यात्मकता की दिशा उसके मानसिक जीवन के इतिहास से निर्दिष्ट होती है। फ्रांस के निबन्धकार मौनटेन ने साहित्यिक मनोरंजन के लिए

से पाई। ब्राह्मण ग्रंथों में सरस्वती वाग्देवी मानी गई है, और उसकी उपासना कवियों के लिये एक साधारण सी बात रही है। पश्चिम में भी कलादेवियों में विश्वास रहा है। उनका आह्वान तथा उनकी उपासना पुराने कवियों में अधिकतर पाई जाती है।

आजकल के बहुत से पाश्चात्य कलामीमांसक उदाहरणार्थ, क्रोचे, भाषा-विज्ञान और कलामीमांसा को एकरूप समझते हैं। दोनों ही का उद्देश्य अभिव्यक्ति है। इसे मानते हुए पाणिनि का एक कथन शब्दोच्चारण के विषय में उपयुक्त है। अभिव्यक्ति के लिये शब्द यों प्रेरित होता है। "पहले आत्मा बुद्धि के द्वारा सब बातों का आकलन करके मन में बोलने की इच्छा उत्पन्न करता है; और जब मन कामाग्नि को उकसाता है तब कामाग्नि वायु को प्रेरित करती है; तदनन्तर वह वायु छाती में प्रवेश करके मंद स्वर उत्पन्न करती है।" यहाँ अभिव्यञ्जना का स्रोत मन की इच्छा द्वारा उकसाई हुई कामाग्नि है। अंग्रेजी कवि ब्लेक भी उत्साह का उपासक था। वह कहा करता था कि उत्साह ही शाश्वत आह्लाद है और काव्यसृजन का हेतु है। मन की इच्छा द्वारा उकसाई हुई कामाग्नि—इन्हीं शब्दों में भारतीय मतानुसार कवित्व का सार है। मन संकल्पात्मक है और बुद्धि का निर्णय पाकर उस उत्साह का उत्पादक है जिससे रचना संभव होती है। उपनिषदों में वर्णन है कि विश्व की सृष्टि भी मूल परमात्मा की बुद्धि या बुद्ध-जनित इच्छा से हुई। हमें अनेक होना चाहिये, बस परमत्मा की यह इच्छा होते ही सृष्टि उत्पन्न हुई। सांख्य में भी अव्यक्त प्रकृति अपनी साम्यावस्था को भंग कर सृष्टि की उत्पत्ति का निश्चय पहले ही कर लेती है। बुद्धिजनित इच्छा की प्रवर्तकता की व्याख्या यों है। मन में युगपत्ज्ञान की क्षमता है और उसके तीन व्यापार इच्छा, भावना, और बोध में से बोध ही मूल व्यापार है। उसी से भावना और इच्छा आती है। यही बात पाणिनि के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है। कलात्मक क्रियाशीलता में बुद्धि का प्रथम स्थान है। प्रतिभा उसकी एक विशेष गति है और कल्पना उसका एक अंग है। कलात्मक रचना में कल्पना प्रतिभा के नियंत्रण में काम करती है। कल्पना का व्यापार ज्ञात वस्तुओं का अज्ञात ढंग से निरूपण करना है, और इसीलिये वह भ्रामक है। मायावश कल्पना की ऐसी इच्छा होती है, जिससे आत्मा मायाकृत शरीर से अनुबद्ध रहती आये। दूसरी बात यह भी है कि कल्पना को अपने इस व्यापार में नैसर्गिक आनन्द की अनुभूति होती है। ज्ञात वस्तुओं को अज्ञात ढंग से रखने में कल्पनात्मक रचना अनर्गल हो सकती है। इस अनर्गलता से उसे प्रतिभा, जिसे सत्य का निदर्शन आत्मा से मिलता है, रोकती है। इसीसे कविता के दो भेद हो जाते हैं; एक तो ऐसी जिसमें कल्पना सत्य से न हिले और जो आत्मा को आनन्द दे; और दूसरी ऐसी जिसमें कल्पना अनर्गल हो जाय और मन को मायावी सुख दे। 'श्रीमद्भागवत' और 'गीता' पहले प्रकार की कविता के उदाहरण

हैं और आज कल की बहुत सी पद्यात्मक रचनाएँ दूसरी तरह की कविता के उदाहरण हैं। इस व्याख्या से सिद्ध है कि भारतीय विचार बुद्धि अथवा बुद्धि-जनित इच्छा को रचनात्मक शक्ति मानता है।

राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' में भी काव्य की उत्पत्ति का ऐसा ही विवरण है। काव्य का हेतु शक्ति है जो समाधि और अभ्यास से उद्‍भावित होती है। समाधि है मन की एकाग्रता और अभ्यास है फिर-फिर एक ही क्रिया का अवलम्बन। इन दोनों साधनों से प्राप्त शक्ति ही, जैसा मम्मट भी कहता है, "कवित्वबीजरूप संस्कारविशेष", काव्यरचना को सम्भव करती है। इस शक्ति का संचार प्रतिभा और व्युत्पत्ति द्वारा होता है। प्रतिभा से उपयुक्त अभिव्यञ्जना सहित विषय हृदय में उद्भूत होता है, और व्युत्पत्ति से उचित अनुचित का विवेक होता है। इन दोनों में प्रतिभा को प्रधान माना गया है, क्योंकि उसके द्वारा व्युत्पत्ति के अभाव से आये हुए दोष ढक जाते हैं। प्रतिभावान् पुरुष का ज्ञान सुस्पष्ट होता है। वह अदृष्ट और अदृश्य वस्तुओं को भी इस प्रकार वर्णित करता है मानो वह बड़े निकट से उनका साक्षी रहा हो। प्रतिभावान कवि की कल्पना अपना आधिपत्य पाठक के मन पर जमा देती है। पाठक को कभी यह जागृति नहीं होती कि कवि जो कुछ वर्णन करता है वह मनुष्य के अनुभव से बाहर है। अंग्रेजी पाठकों के सामने एकदम मिल्टन का उदाहरण आ जाता है। कितने कौशल से मिल्टन ने स्वर्ग में फरिश्तों के दोनों दलों की लड़ाई का वर्णन किया है और कितने कौशल से उसने शैतान और उसके साथियों के भाषण नर्क में कल्पित किये हैं। प्रतिभा दो प्रकार की होती है, कारयित्री और भावयित्री। कारयित्री प्रतिभा काव्य की रचना कराती है और भावयित्री प्रतिभा काव्य का बोध कराती है। कारयित्री प्रतिभा तीन प्रकार की होती है; सहजा, आहार्या, औपदेशिकी। डाक्टर गंगानाथ झा ने अपने 'कवि-रहस्य' में इनकी व्याख्या इस तरह की है। 'पूर्व जन्म के संस्कार से जो (प्रतिभा) प्राप्त हो सो सहजा अथवा स्वाभाविकी है। इस जन्म के संस्कार से जो प्राप्त हो सो आहार्या अथवा अर्जिता है। मन्त्र, शास्त्र, आदि के उपदेश से जो प्राप्त हो सो औपदेशिकी, अथवा उपदेशप्राप्त है।" इन्हीं के अनुसार तीन प्रकार के कवि होते हैं; सारस्वत, आयासिक, और औपदेशिक। इनकी व्याख्या डाक्टर गंगानाथ झा ने ऐसे की है, 'जन्मान्तरीय संस्कार से जिसकी सरस्वती प्रवृत्त हुई है, वह बुद्धिमान सारस्वत कवि है। इसी जन्म के अभ्यास से जिसकी सरस्वती उद्‍भावित हुई है, वह आहार्यबुद्धि आभ्यासिक कवि है। जिसकी वाक्य रचना केवल उपदेश के सहारे होती है वह दुर्बुद्धि औपदेशिक कवि है।" काव्य की उत्पत्ति का यह विवरण प्रज्ञा और अंतरवबोध पर आधारित है। जर्मन तत्त्ववेत्ता शैलिङ्ग को, प्लैटो, प्लॉटीनस, सेण्ट ऑगस्टिन, और दूसरे गूढ़तत्त्व-द्रष्टाओं की तरह, एक ऐसी मानसिक शक्ति का भान हुआ था जिसके द्वारा

अनंत की प्रकृतिनिष्ठ सूझ हो सके। इसका नाम उसने प्राज्ञ अंतरवबोध ( इण्टिलैक्चुअल इण्ट्यूशन ) रखा था। यही शक्ति इस विवरण में काव्य रचना का आधार है, क्योंकि प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों का सम्मिश्रण और प्रज्ञा अंतरवबोध के सम्मिश्रण के समान है। इस विवरण की सत्यता सभी को मान्य है।

कलात्मक रचना का स्रोत व्यक्तित्व है। यह बात उल्लिखित मतों से स्पष्ट है। व्यक्तित्व ही जीवन वस्तु को कलारूप में परिणत करता है। व्यक्तित्व में बुद्धि का समावेश है। कल्पना बुद्धि का अंग है ही और वह जब पूर्णतया क्रियाशील होती है तब व्यक्तित्व महान् दक्षता से काम करता है। हम कल्पना अपने सारे अस्तित्व से करते हैं। कल्पना करते समय शरीर का कोई अंग असहयोग में नहीं होता। यही बात मनोविश्लेषणात्मक गवेषणा से उपलक्षित है जो कल्पना को पूर्व चेतना से संबंधित करती है। जैसे टकटकी लगा कर देखने से रात्रि में अदृश्य तारे दिखाई देने लगते हैं, वैसे पूर्ण शक्ति और उत्साह से मन के काम करने से निहित प्रतिमाएं चेतना में आ जाती हैं। भावनामय अनुकरण भी—ठेठ अनुकरण तो कलात्मक है ही नहीं—कल्पना से सम्बद्ध है। भावना में कल्पना जागृत होती ही है। बुद्धि, वैदग्ध्य, और रुचि नवशास्त्रीय काल के पाखंड-मत थे जिनका खंडन साहित्य के विकास और कला मीमांसा के नये अनुसंधानों से हुआ। वैदग्ध्य, चाहे अनर्गल रचना के अर्थ में, चाहे श्लेपोक्ति और वाग्विदग्धता के अर्थ में, और चाहे उपयुक्त अभिव्यञ्जना के अर्थ में, रचना कौशल से सम्बद्ध हैं। रुचि जब व्यक्तिगत संवेदनशीलता की द्योतक होती है तो व्यक्तित्व की क्रियाशीलता के अतिरिक्त कोई और वस्तु नहीं।

३

रचनात्मक प्रक्रिया की समीक्षा यह है। पहले, वाह्यजगत और अन्तर्जगत का निरीक्षण होता है। कवि में असाधारण भावग्राह्यता होती है। संसार की समस्त संपत्ति जो उसे भीतर अपने मन में मिलती है और वह सब जिसे प्रकृति उसके सम्मुख उपस्थित करती है उसके अनुभवार्थ है। वह संसार का निरीक्षण वासनारहित मन से करता है। किसी प्रकार का कोई दृढ़निविष्ट दुराग्रह अथवा पक्षपात उसकी दृष्टि को विकृत नहीं करता। दूसरे, चिंतन होता है। कवि अनुभव के प्रदत्तों से किसी वैज्ञानिक व्यवस्था का निर्माण नहीं करता और न उन्हें ऐतिहासिक वृत्ति से वर्णनार्थ एकत्रित करता है। कवि की आँखें चिंतनशील निष्क्रिय में अनुभव के विषयों पर पड़ती हैं और वे उसके लिये सार्थक हो जाते हैं। तीसरे, अंतः स्फूर्ति की अवस्था आती है। इस अवस्था में मानसशक्ति घनत्व पाती है और कवि को अंतर्वेगीय उत्कर्षण की अनुभूति होती है। इसी उत्कर्षण की दशा में मन के गंभीरतम स्तरों से प्रतिमाएँ निकल पड़ती हैं और तुरन्त ही मूल्य ग्रहण करके सार्थक समुदायों में विभक्त हो जाती हैं

और सजीव रूपों के वास्तविक संसार की नकल करने लगती हैं। इस अवस्था के अंत में कवि का अनुभव उसकी मानसिक दृष्टि के सम्मुख नैसर्गिक व्यवस्था में उपस्थित होता है। यही आंतरिक अभिव्यक्ति है, जिसका रचनात्मक प्रक्रिया में चौथा पद है। अंत में, कवि अपनी अंतरवबोध शक्ति द्वारा उपयुक्त शब्दों और नादों के रूप में ऐसे प्रतीक ढूँढ़ता है जो अपनी सार्थकता और ध्वनि से कवि के व्यवस्थित आंतरिक अनुभव (इन्टर्नल एक्सपीरियेन्स) का प्रकाशन करते हैं। यही बाह्य अभिव्यक्ति है। इटली का आधुनिक कलामीमांसक क्रोचे आंतरिक अभिव्यक्ति ही पर ठहर जाता है। वह कहता है कि जैसे ही कलाकार अपने अनुभव के तत्वों का एकीकरण कर लेता है, वैसे ही उसका काम समाप्त हो जाता है। बाह्य अभिव्यक्ति तो केवल व्यावहारिक उपयोगिता के लिये है, उसके द्वारा कवि अपने अनुभव को अपने और दूसरों के लिये चिरकाल तक सुरक्षित रखता है। बाह्य अभिव्यक्ति का कलात्मक उत्पादन से कोई संबंध नहीं। परन्तु क्रोचे का यह मत असमर्थनीय है। कलाओं का अस्तित्व ही आंतरिक अनुभव को बाह्य रूप देने की मूल प्रवृत्ति में है।

मनोविश्लेषण ने कलात्मक रचना पर बड़ा प्रकाश डाला है। जो कुछ डार्विन ने भौतिक व्यापारों के संबंध में किया, वही फ्रायड ने मानसिक व्यापारों के संबंध में किया। उत्क्रान्तिवाद ने यह बताया कि जीवन की विभिन्नता और उसका विकास किस प्रकार हुआ, तो गत्यात्मक अचेतन के प्रत्यय ने स्वच्छंद कल्पना की अनियंत्रित उड़ान और मन की गूढ़तम अभिलाषाओं का हेतुसिद्ध विवरण दिया। मनोविश्लेषण इस बात को स्पष्ट करता है कि कलात्मक प्रोत्साहना जीवन के गहन स्तरों से उठती है और इन गहन स्तरों में पड़ी हुई प्रतिमाओं को सुलझाने का एक विशेष ढंग होती है।

फ्रायड के अनुसार प्रत्येक कलात्मक रचना स्नायुव्यतिक्रम की शोध है। स्नायुव्यतिक्रम किसी व्यक्ति को तब होता है जब वह अपने और समाज के बीच संघर्ष से उत्पन्न हुई कठिनाई का सामना नहीं कर सकता। इसके बहुत से कारण हो सकते हैं। संभव है कि व्यक्ति ने जन्म से ही निस्सत्त्व काया पाई हो, संभव है कि उसने बाल्यावस्था में असाधारण कामवासना का अनुभव किया हो, संभव है कि उसने कार्याधिक्य अथवा असफल प्रेम की वेदनाएँ सहन की हों—चाहे जो बात हो वह नाजुक अवस्थाओं में जीवन के उत्तरदायित्व को सँभाल नहीं सकता और मतिभ्रष्ट हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि व्यक्ति स्नायुव्यतिक्रम के अंतर्गत हो जाता है और कठिनाई से बचने के लिये विचित्र कल्पनाओं के आविर्भाव की अनुभूति करता है। ये विचित्र कल्पनाएँ साहचर्य के नियमों के अनुसार अचेतन में फैल जाती हैं और दबी हुई प्रेरणाओं को जागृत करती हैं। जागृत प्रेरणाएँ इतनी प्रबल होती हैं कि उन्हें निग्रहात्मक शक्ति नहीं रोक सकती और वे अभिव्यञ्जना के लिये आगे बढ़ती हैं। परिणाम यह होता है

कि व्यक्ति असंगत और अतर्क बातें बकने लगता है और पागल हो जाता है। कलाकर स्नायुव्यतिक्रम से पागल नहीं होता। उसमें बढ़ती हुई विचित्र कल्पनाओं को ऐसी अनात्म अभिव्यञ्जना देने की क्षमता है जिससे मन को सुख का अनुभव होता है। अनुभूत सुख के दो स्रोत होते हैं; एक तो रूप-संबंधी तत्त्वों के संयोजन में और दूसरा अंतर्द्वन्द्व की शान्ति में। इस प्रकार कलात्मक रचनाएँ सुव्यवस्थित विचित्र कल्पानाएं होती हैं। फ्रायड का अगला प्रयास रचनात्मक कृतियों को मन के तीनों स्तरों से संबन्धित करता है। फ्रायड मनके तीन स्तर मानता है; इदम् अथवा अचेतन ,अहंकार, और आदर्शाहंकार। इदम् आद्य प्रेरणाओं से भरा पड़ा है। ये प्रेरणाएँ तुष्टि के लिये ऊपर आती रहती हैं। कहीं न कहीं इदम् शारीरिक प्रक्रियाओं से मिला हुआ है और उनसे मूलप्रवृत्ति-संबन्धी आकांक्षाओं को लेकर उनकी मानसिक अभिव्यक्ति करता रहता है। ये मूलप्रवृत्तियाँ ही इदम् को स्फूर्ति देती हैं। परन्तु इदम् में न कोई व्यवस्था है और न कोई एकीकृत उसमें अभिलाषा होती है। वह पूर्णतया अनात्मिक है। बस सुख के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार मूलप्रवृत्ति-संबन्धी आकांक्षाओं को तुष्टि देने में संलग्न रहता है। इदम् में तर्क का कोई नियम काम नहीं करता, प्रतिवाद और निषेध से तो इसका कोई प्रयोजन ही नहीं। वह काल और स्थान के प्रत्ययों से मुक्त है और फिर भी तत्त्ववेत्ताओं के मत के विरुद्ध मानसिक क्रियाएँ करता रहता है। इदम् मूल्यांकन, नैतिकता, और भलाई-बुराईके भावों से अनभिज्ञ है। उसकी सब प्रक्रियाएं परिमाणात्मक गुणक से शासित रहती हैं। कलात्मक रचना की अस्पष्टता, उसकी शक्ति, और उसकी न्यायविरुद्धता इदम से आती है। अहंकार इदम्

के विरोध को विचार और भाव का विरोध, अथवा प्रत्यय और वस्तु का विरोध, अथवा इन्द्रिय और विषय का विरोध भी कह सकते हैं। वास्तविक सत्ता न अकेली अंतर्व्यावृत्ति का परिणाम है और न अकेली वहिर्व्यावृत्ति का परिणाम है, वरन् एक विशिष्ट आंतरिक क्रियाशीलता का जो कि दोनों का मिलान करती है। वही क्रियाशीलता विरोध को मिटाती है और इन्द्रियोपलब्ध ज्ञान को तीव्रता देती है, और प्रत्यय को सफल शक्ति देती है। इस क्रियाशीलता को युङ्ग सक्रिय कल्पना कहता है। सक्रिय कल्पना रचना क्रिया में सदा आरूढ़ रहती है। हमारी सब वर्तमान समस्याओं का सुलझाव यही कल्पना करती है और यही कल्पना हमारी भविष्य योजनाओं की मार्गप्रदर्शिका है। सक्रिय कल्पना का वर्णन करते हुए युङ्ग कहता है कि यह क्रियाशीलता चेतन मन की उस प्रवृत्ति के परिणामभूत है जिससे वह अचेतन मन के थोड़े वहुत सम्मिलित तत्त्वों को लेकर सादृश्य के नियमानुसार चेतन मन के तत्त्वों से मिलाकर उनका एकीकरण करती है। सक्रिय कल्पना कलात्मक मनोसामर्थ्य का प्रधान गुण है। जब सक्रिय कल्पना अचेतन और चेतन तत्त्वों के संश्लेषण को ऐसा रूप दे देती है जो सब को भावों और रूप सौष्ठव के कारण ग्राह्य हो तो कलात्मक हो जाती है। युङ्ग रचनात्मक प्रक्रिया की आगे और विस्तृत व्याख्या करता है। प्रत्येक मनुष्य में दो भिन्न प्रवृत्तियाँ दीख पड़ती हैं। कभी-कभी वह सब प्रकार के नियंत्रणों को अपने मन से हटा देता है और अचेतन मन में घुस जाता है, जहाँ उसे असंगत आद्य प्रतिमाओं की राशि मिलती है; और इस राशि से वह अपना विनोद करता है। इसके विपरीत कभी-कभी वह सौन्दर्य अथवा नैतिकता के आदर्शों का नियंत्रण अपने मन पर स्थापित करता है। जब दोनों प्रवृत्तियाँ मिलान खा जाती हैं, तब वे कला का उत्पादन करती हैं। उत्पादन का क्रम यह है : पहले संचित-संस्कारों द्वारा आदर्श की स्थापना जो चेतन मन पर अपना शासन जमाता है, दूसरे, किसी स्मृति अथवा प्रतिमा का जागना जो अंतर्प्रेरणा से पहले अचेतन मन में पड़ी थी, तीसरे, इस स्मृति अथवा प्रतिमा की नियंता आदर्श द्वारा आलोचना और स्मृति अथवा प्रतिमा की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति। यदि वह स्मृति अथवा प्रतिमा नियंता आदर्श को स्वीकार होती है तो वह उसे उपयुक्त मूल्य देता है। स्मृति अथवा प्रतिमा की स्वीकृति और उसके मूल्यांकन में एक रचनात्मक क्रिया समझ लेनी चाहिये। ऐसी ही वहुत सी क्रियाओं के समुच्चय में रचना की पूर्ति होती है। यदि आदर्श का नियंत्रण दैवयोग से वड़ा वली हो तो समस्त रचनात्मक प्रक्रिया वड़ी तेजी से समाप्त होती है। कलाकार आनन्द और प्रकाश का अनुभव करता है और ऐसी अनुभूति में स्मृतियाँ अथवा प्रतिमाएँ तुरन्त अपना अपना मूल्य और मूल्य के अनुसार स्थान पाकर सहज ही रचना का सृजन कर देती हैं।

एड्लर का विचार है कि कला उच्चता की अंतर्गतप्रवृत्ति की शोधिता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपना जीवन, समाज, व्यवसाय, और प्रेम व्यापार के अनुकूल

करना पड़ता है। इस अनुकूलता के प्रयास में उसके घर का उसके प्रति व्यवहार, उसकी परिस्थिति, और उसके शारीरिक लक्षण उसे सहायक अथवा बाधक होते हैं। एड्लर का विश्वास है कि परिवार की सीमा में बच्चे के प्रति इतना अनुचित व्यवहार होता है कि उसमें आत्महीनता की भावना ज़ोर पा जाती है। बच्चे के आत्मभाव और समाजभाव के सामाञ्जस्य में, जिसके ऊपर ही उसका नियमित विकास निर्भर है, बाधा पड़ जाती है। क्योंकि मनुष्य सामाजिक प्राणी है और समाज की उत्तेजना से ही उन्नति करता है और समाज से पददलित किये जाने पर हतोत्साह हो जाता है, जैसे ही उसमें आत्महीनता का भाव उत्पन्न होता है वैसे ही मानसिक क्षतिपूर्ति के लिये उसमें उच्चता का भाव आ जाता है। यह उच्चता का भाव अचेतन में रहता है और तर्क, सहानुभूति, और सहयोग के सामाजिक मानदण्डों से दबा रहता है। साधारण पुरुष को समाज का भय उच्चता के भाव से प्रेरित क्रियाओं को खुल्लमखुल्ला नहीं करने देता। परन्तु कलाकार आत्मोत्कृष्टता का पार्ट बड़ी गम्भीरता से धारण करता है। वह इस संसार से विमुख होकर कल्पनाओं के एक ऐसे विचित्र संसार की सृष्टि करता है जिसमें उसे उस मान, शक्ति, और प्रेम का प्रत्यक्ष निरूपण होता है जिसकी उपलब्धि इस कठोर संसार में उसके लिये असंभव थी। कलाकार कहे जाने का वह तभी अधिकारी होता है जब वह अपनी कल्पनाओं को ऐसा साकार रूप प्रदान करता है जो सब को ग्राह्य हो। स्नायुव्यतिक्रमी अपनी कल्पनाओं को ऐसा रूप देने में असफल रहता है और विक्षिप्तिग्रस्त हो जाता है।

रचनात्मक प्रक्रिया की मनोवैज्ञानिक व्याख्याओं में अचेतन की सबल प्रवृति पर ज़ोर दिया गया है। अचेतन की सबल प्रवृति साधारण भाषा में अन्तर्प्रेरणा (इन्सपिरेशन) कहलाती है और वह एक पुरातन सामान्य प्रत्यय है। अंग्रेज़ी का शब्द अंतर्प्रेरणा के लिये इन्सपिरेशन है जिसकी क्रिया इन्सपायर है। इन्सपायर का अर्थ साँस भरना है। प्राचीन काल में जब कोई भविष्यवक्ता असाधारण शक्ति से बोलता था तो यह समझा जाता था कि उसे भगवान ने अनुप्राणित किया है। इसी प्रकार जब कोई कवि असाधरण स्वर से बोलता था तो भी यही समझा जाता था कि उसे किसी देवता अथवा देवी ने अनुप्राणित किया है। इसी अंधविश्वास ने प्राचीन जगत् को एक ऐसी कलादेवी की सूझ दी जिसकी अलौकिक प्रेरणा से कवि को काव्यसिद्धि होती है। भारतीय परंपरा में भी ज्ञान अथवा अभ्यास सिद्धि के अतिरिक्त दृष्ट-सिद्धि भी कवित्व का विश्वास है। प्लैटो अपनी 'आयोन' और 'फैड्रस' में अंतर्प्रेरणा का यूनानी विचार प्रकट करता है। 'आयोन' में वह कवि का वर्णन इस प्रकार करता है: "कवि एक सूक्ष्म, पलायमान और पवित्र वस्तु है, और तब तक बुद्धिहीन है जब तक कि उसे दैविक प्रेरणा नहीं मिलती और स्वयं इन्द्रियशून्य और बुद्धिविहीन नहीं हो जाता। जब तक वह इस अवस्था को प्राप्त नहीं होता तब तक वह शक्तिहीन है और अपनी गूढ़ोक्तियाँ कहने में असमर्थ है।" 'फैड्रस'

प्लैटो कहता है : कला से नहीं वरन् दैविक प्रमत्तता से कवि चित्तोत्सेक तक प्रसर होता है। मध्यकाल में अन्तर्प्रेरणा का सिद्धान्त धार्मिक हो गया। एकी- राज ऐसी अन्तर्प्रेरणा को ईश्वरीय प्रसाद मानता है, जो ईसाई धर्म के सत्यों की पुष्टि करती है और ऐसी अन्तर्प्रेरणा को दानवीय प्रलाप मानता है जो धर्मविरुद्ध बातों की पुष्टि करती है। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में अन्तर्प्रेरणा की ओर भावना तर्कमूलक थी और आलोचक उसे अनुचित उत्साह कहकर घृणा की दृष्टि से देखते थे। आधुनिक कालमें रोमान्सवाद के पुनर्जागरण से अंतर्प्रेरणा फिर कला से सम्बद्ध होने लगी है। ब्लेक तो स्पष्टता से घोषित करता है कि उसे अपनी कविताएँ दिव्यात्माओं द्वारा प्रदान हुईं। मानवीय कल्पना को वह ऐसी दिव्यदृष्टि समझता है जो आत्मोन्मूलन और अन्तर्प्रेरणा की दशा में आती है। जर्मनी में व्यक्तिस्थित आत्मा का स्वातंत्र्य और उसकी श्रेष्ठता बड़ी दार्शनिक सूक्ष्मता से प्रतिपादित हुई। इसका परिणाम कविता में यह हुआ कि कवि अपनी अन्तर्प्रेरणा और अपनी अंतर्दृष्टि को रचनात्मक उद्देश्य के लिये सब कुछ समझने लगा। उसका यह पूर्ण विश्वास हो गया कि प्रतिभाशाली कवि अपनी शक्ति अपने से परे किसी महान् शक्ति से लेता है और वह स्वयं उस शक्ति का केवल वाहक है। उसका यह भी विश्वास उतना ही दृढ़ हो गया कि कवि स्थिरदृष्टि से जीवन की झाँकी लेता है और जीवन के सच्चे रूपों का साक्षात् दर्शन करके उनका अपनी कविता में पुनर्सृजन करता है। इंगलैण्ड में वर्ड्सवर्थ और शैली दोनों कविता के इसी सिद्धान्त से प्रभावित थे। वर्ड्सवर्थ का कहना है कि कविता मन और प्रकृति के संयोग का फल है। प्रकृति मन को कितना ऊपर उठा सकती है इसका अन्दाज़ा 'टिन्टर्न ऐबे' के इस पद्यांश[1] से स्पष्ट है जो प्रकृति के रूपों का मनुष्य के मन पर प्रभाव वर्णित करता है:--

नॉर लेस, आई ट्रस्ट,  
टु देम आई मे हैव ओड ऐनअदर गिफ्ट,  
ऑफ ऐस्पेक्ट मोर सब्लाइम, दैट ब्लेसेड मूड,  
इन व्हिच द बर्देन ऑफ द मिस्ट्री,  
इन व्हिच द हैवी एण्ड द वीयरी वेट  
ऑफ ऑल दिस अनइन्टेलिजिबिल वर्ल्ड,

---

१. Nor less, I trust,  
To them I may have owed another gift,  
Of aspect more sublime, that blessed mood,  
In which the burthen of the mystry,  
In which the heavy and the weary weight  
Of all this unintelligible world,

इज़ लाइटेण्ड:—दैट सीरीन ऐण्ड ब्लेसेड मूड,
इन व्हिच द एफेक्शन्स जेण्टली लीड अस ऑन,
अनटिल, द ब्रैथ ऑफ़ दिस कारपोरल फ्रेम
एण्ड इविन द मोशन ऑफ़ आवर ह्यूमन ब्लड
ऑलमोस्ट सस्पेण्डेड, वी आर लेड एस्लीप
इन बॉडी, एण्ड बिकम ए लिविंग सोल :
व्हाइल विद एन आई मेड क्वाएट बाई द पावर
ऑफ़ हारमनी, एण्ड द डीप पावर ऑफ़ जॉय,
वी सी इन्टु द लाइफ ऑफ थिंग्ज़

प्रकृति के सौंदर्य से प्रभावित होकर जब वर्ड्सवर्थ ध्यानावस्था में प्रवेश करता था तो वह इस अगम संसार के सब क्लेशों से मुक्त हो जाता था, और जब प्रकृति का अनुराग अग्रणी होता था तो वह धीरे-धीरे अपनी उस चरम सीमा तक पहुँच जाता था जिसमें वह अपने शरीर की किसी गति का अनुभव नहीं करता था और शांत और आनन्दमय हो कर जीवन का सारतत्त्व समझ लेता था। आगे चलकर इस कविता में वह यह भी कहता है कि प्रकृति का निरीक्षण प्रकृति के सच्चे प्रेमी को ईश्वर की व्यापकता का भी ज्ञान देता है। जो प्राप्त गति वर्ड्सवर्थ ने वर्णित की है उसकी तुलना समाधि अवस्था से ही की जा सकती है; केवल ब्रह्मात्मैक्य के ज्ञान की कमी है। शैली 'डिफ़ेन्स ऑफ पोइट्री' में इस मत का पोषण करता है कि जब ईश्वरीय मन मानवीय मन पर क्रीड़ा करता है तब ही कवि-जीवन की नित्य सत्य प्रतिमाएँ व्यंजित करने के लिये विवश हो जाता है। मनोविश्लेषण अन्तर्प्रेरणा के प्रत्यय को धार्मिक रहस्य से नग्न कर देता है और उसे अचेतन का एक विशेष व्यापार कहता है। रचनात्मक क्रिया में वे प्रतिमाएँ अथवा वे प्रतिबिम्बमूल जो मस्तिष्क में अमिट रूप से अंकित रहते हैं पुनर्जीवित हो उठते हैं और अचेतन उन्हें चेतनावस्था के चित्र की तरह उपस्थित करता है।

आधुनिक पाश्चात्य कलामीमांसा के अनुसार रचनात्मक प्रक्रिया चेतन और अचेतन व्यापारों का समन्वय है, और स्पष्टतः मनोविश्लेषण से प्रभावित है।

इसी प्रभाव के परिणामस्वरूप अब कलामीमांसा भावव्यञ्जकता पर ही पूरी तरह आश्रित होती जाती है और क्रोचे और उसके अनुयायियों के ज्ञानप्राधान्यवाद विषयक मत से विमुख होती जाती है। भावप्राधान्यवाद यूनानी साहित्यशास्त्र का विशेष लक्षण था और यह विशेष लक्षण अब तक पुष्ट है। पुराना भारतीय विचार भी भावप्राधान्यवाद विषयक है। अन्तर केवल इतना है कि पाश्चात्य विचार मन के भीतरी स्तरों में प्रविष्ट है और प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित है। इसके विपरीत भारतीय विचार ऊपरी स्तरों तक सीमित है पर इन सीमाओं के भीतर भारतीय विचार ने बड़ी सूक्ष्मता से मन के गुणों और व्यापारों का विश्लेषण किया है। भारतीय विचार की इस विशेषता के दो कारण प्रतीत होते हैं : एक तो प्रमुख भारतीय दर्शनों में आत्मा को मन के परे माना है और मनको एक प्रकृतिजन्य इन्द्रिय निश्चित किया है, जब कि साधारण पाश्चात्य विचार मन को ही सर्वस्व समझता है; दूसरे, भारतीय मस्तिष्क की प्रवृति ऐकान्तिक तत्त्वों की खोज की ओर अधिक रही है। फलतः भारतीय साहित्यशास्त्र में भाव निरूपण बड़ा विस्तृत और सुघटित है। परन्तु हम भारतीय भाव-निरूपण पर आने से पहले पाश्चात्य भावनिरूपण देंगे, जिससे दोनों की तुलना सुगमता से हो जाय।

यूनानी आलोचकों की पहले ही से सूझ थी कि साहित्य और कला प्रकृति की तरह ऐसे भावों को उत्तेजित करते हैं जो उसके ज्ञानात्मक अस्तित्व के आधार होते हैं। प्लेटो ने होमर और अपने देश के नाटककारों को इसी विचार से दोषपूर्ण कहा कि उनके भाव और अंतर्वेग कुनीति और अधर्म से सम्बन्धित थे और उनका निरूपण इतना चित्ताकर्षक होता था कि पाठक अथवा दर्शक बुराई की ओर ही अग्रसर होता था। अरिस्टॉटल ने भी करुण की परीक्षा भावोत्तेजना के आधार पर की। उस का यह निर्णय था कि करुण शोक और भय इन दोनों स्थायी भावों को उत्तेजित करके इनका शोध करता है और इस शोध से प्राप्त हुआ आनन्द ही करुण का विशिष्ट रस है। लॉञ्जायनस ने उसी साहित्य को उत्कृष्ट माना जो परिणाम में सदा, सर्वत्र, और सब को आनंदप्रद हो। प्राचीन यूनान के अनुकूल यूरोप के सब ही कालों और देशों में आलोचकों ने साहित्य और कला को सुख के सिद्धान्त से मापा। इस माप का साधारण विवरण यह है। यदि साहित्य से उत्तेजित भाव अवांछनीय सुख दें तो साहित्य दूषित है और यदि साहित्य से उत्तेजित भाव वांछनीय सुख दें तो साहित्य प्रशंस्य है। साहित्य से केवल कलात्मक सुख का उद्रेक होता है : इस विचार का पोषक कहीं कहीं कोई आलोचक ही होता था। आधुनिक काल में तत्त्ववेत्ता और आलोचक दोनों कला को भावोत्तेजन से संबंधित करते हैं। कान्ट का कहना है कि कला का अस्तित्व रचना के फलस्वरूप है और कलात्मक प्रतिभा दूसरे प्रकार की प्रतिभा से भाव के आधार परही अलग की जा सकती है। कला कलाकार के भावों की व्यञ्जना अथवा उनका निरूपण है। हेगल कहता है कि कवि उस सामग्री पर क्रियाशील होता है जिसे उस के अंतर्वेग से प्रदान करते हैं और उस सामग्री को प्रतिमा के रूप में प्रत्ययोत्पादक शक्ति के

सम्मुख उपस्थित करता है। शौपनहावर कला को क्रियात्मक शक्ति से निवृत्ति पाने का साधन मानता है। उसके मतानुसार कलाकार और कलानुभावी दोनों जीवन से छुटकारा पाने के भाव से प्रेरित होते हैं। हाउसमैन का कहना है कि कविता बोध का संप्रेषण ही नहीं करती वरन् भाव का संचार भी; वह पाठक की इन्द्रिय को ऐसे स्पंदन की अनुभूति देती है, जिसका अनुभव स्वयं कवि को हुआ था। एलैग्ज़ेण्डर कला को विषय संबंधी और निर्माणात्मक मनोवेगों का सम्मिश्रण मानता है। टी० एस० इलियट भी इस मत का है कि कलात्मक अनुभव भावों के संयोग का फल होता है।

कला में भावों का प्राधान्य तीन विचारों से स्पष्ट हो जाता है। पहला विचार तो कलाहेतुकला के सिद्धान्त की असफलता है। इस सिद्धान्त का उद्देश्य कला का स्वातंत्र्य और उसकी अवलिप्तता स्थापित करना है। इस सिद्धान्त के पोषक मानते हैं कि कलाकृति आरोप की गई हुई वस्तु के तुल्य है। भला कला उस वस्तु के तुल्य कैसे हो सकती है जिसकी वह प्रतीक है? प्रतीक तो स्थानापन्न वस्तु है, वस्तु का प्रतिरूप है, स्वयं वस्तु नहीं है। इस कथन में केवल इतना सत्य है कि कलाकृति प्रतीक है। कलाहेतुकलावादियों की न यह बात माननीय है कि कला में रूप और वस्तु एक हैं यदि यह मान लें तो रूप को प्रतीक कैसे कह सकते हैं। कला के लिये कला से बाहर के भावोत्तेजना निर्देश विषयक अवश्यम्भावी हैं। शिल्पी के नाते कलाकार कलाकृति का उसके स्वातंत्र्य में अवश्य अनुभव करता है और उसे इन्द्रियजन्य सुख का साधन मानता है। परन्तु ललित कला का रचयिता इस रहस्य को अच्छी तरह समझता है कि शिल्पी का ध्यान कलाकृति के स्वातंत्र्य की ओर इस कारण जाता है कि वह उन विचारों और प्रतिमाओं को व्यवस्थित प्रतीकों के रूप में अभिव्यक्त करने में आत्मविभोर होता है जो नीतिशास्त्र, तत्त्वविद्या, धर्म, विज्ञान और प्रकृति से उत्तेजित भावों द्वारा आते हैं। दूसरा विचार यह है कि कलाकार इन्द्रियों को प्रभावित करने के साधनों का उपयोग करते हैं। ऐसे साधनों द्वारा कलाकृति भावों से अचिरेण निर्दिष्ट हो जाती है। घटनाओं, कार्यों, वस्तुओं, और विचारों से संबन्धित भाव इन साधनों द्वारा उचित संवेदनार्थ मूर्त प्रतिमाओं में स्थिर हो जाते हैं। कवि लोग भी अपने दार्शनिक विचारों को मूर्त प्रतिमाओं के रूप में प्रकाशित करते हैं; इस कारण से थोड़े ही कि उन्हें प्रत्ययों से शरम आती है वरन् इस कारण से कि वे अपने अंतर्वेगों को कलासाधनों से सम्बद्ध कर अनायास और सुस्पष्टतया दूसरों को प्रदान कर सकें। तीसरा विचार यह है कि कलाकारों की रुचि प्रायः मूर्तता के लिये होती है। थोड़े से प्रत्यय ही ऐसे हैं जो भावों को जागृत और स्थिर कर सकते हैं। मूर्ति भाव को जागृत करती है।

अरिस्टॉटिल ने अपनी 'पोइटिक्स' में शोक और भय दो ही भावों का उल्लेख किया है। कारण यह है कि वह कला के विवेचन में व्यस्त था। परन्तु भाव बहुत हैं; जैसे हर्ष, विषाद, शान्ति, अप्रीति, राग, द्वेष, आश्चर्य, उत्साद, निवृत्ति,

प्रवृत्ति, इत्यादि। पाश्चात्य कलामीमांसा में भाव की तीन अवस्थाएँ मानी गई हैं; पहली अवस्था मूलप्रवृत्ति की, दूसरी अवस्था अंतर्वेग की, और तीसरी अवस्था भावगति की। भाव का जीवन इन तीनों अवस्थाओं में होकर विकसित होता है। मूलप्रवृत्ति की अवस्था में व्यक्ति समग्र स्थिति से एक ऐसी उत्तेजना छाँट लेता है जिस की ओर उसके संस्कार उसे आकर्षित कर लेते हैं। इस उत्तेजना की प्रतिक्रिया में व्यक्ति शारीरिक क्रिया में प्रवृत्त हो जाता है। साधारण रूप से यह शारीरिक क्रिया शरीर के बाहर जाती है और उत्तेजना देने वाले विषय से व्यावहारिक संबंध स्थापित करती है। भूख, प्यास, लिङ्ग, आत्मरक्षा, इत्यादि मूलप्रवृत्तियाँ हैं। अंतर्वेगीय प्रतिक्रिया में जिस क्रिया का संचालन होता है वह शरीर से बाहर नहीं जाती और शरीर के भीतर ही भीतर समाप्त हो जाती है। अंतर्वेगीय प्रतिक्रिया की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें एक से अधिक उत्तेजनाएँ कार्यशील होती हैं और कार्यार्थ प्रकार-प्रकार के ढंग व्यक्ति के सम्मुख उपस्थित करती हैं। इसी कारण इस दशा में व्यक्ति को मानसिक संघर्ष का अनुभव होता है। इस दशा में व्यक्ति की आंतरिक स्थिति भी व्यक्ति की कुछ क्रियाओं को निश्चित करती है। इन्हीं कारणों से अंतर्वेगीय प्रतिक्रिया मूलप्रवृत्यात्मक प्रतिक्रिया से अधिक जटिल होती है और सभ्यता के विकास में अगला क्रम चिह्नित करती है। प्रेम, देशप्रेम, प्रकृतिप्रेम, परोपकार, स्वार्थ, खेद, इत्यादि अंतर्वेग हैं। तीसरी अवस्था में व्यक्ति ध्यानशील हो जाता है। वह घटना से बहुत सी उत्तेजनाएँ छाँट लेता है और उन्हें संचित संस्कारों से संयुक्त करता है। इसी संयोजन में व्यक्ति की प्राथमिक और प्रायोगिक क्रिया प्रादुर्भूत होती है। यह क्रिया भी शरीर तक ही सीमित रहती है। सानुकंपा, खिन्नता, उत्कर्ष, रसमयता, इत्यादि भावगतियाँ हैं। तीनों अवस्थाओं में भाव अनिच्छित होता है क्योंकि तीनों अवस्थाएँ क्रियाशील होने की पूर्वप्रवृत्ति की सिद्धि हैं। वैसे तो भाव तीनों अवस्थाओं में एक ढंग से ही काम करता है, परन्तु पहली अवस्था में क्रिया बहिरंगी होती है और अगली अवस्थाओं में अंतरंगी हो जाता है। बहिरंगी क्रिया से अंतरंगी क्रिया की ओर परिवर्तन में, और अकस्मात् आविर्भूत क्रिया के नाते मूलप्रवृत्ति, अंतर्वेग, और भावगति की विभिन्नता में, मनुष्य के जीवन की समस्त प्रगति चिह्नित है; सुगमता से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि किस प्रकार इन तीनों अवस्थाओं का प्रयोग करके मनुष्य ने प्रकृति पर नियंत्रण स्थापित किया है। भाव मनुष्य के अधिकार में कार्यक्षम यंत्र है। भाव तीनों अवस्थाओं में संस्कारों का वह समुच्चय है जिसके द्वारा परिस्थिति के विशेष लक्षणों से संपर्क होते ही प्राणी पूर्वप्रवृत्तियों के अनुसार प्रतिक्रियाशील हो जाता है।

वैसे तो भाव तीनों अवस्थाओं में पुनरुत्पादक और उत्पादक होता है; परन्तु क्योंकि दूसरी और तीसरी अवस्थाओं में वाह्य गुणकों का जोर कम हो जाता है और आंतरिक गुणकों का जोर बढ़ जाता है, और क्योंकि अंतिम अवस्था में भाव के विभिन्न तत्त्व एकमेल हो जाते हैं, दूसरी और तीसरी अवस्थाओं में भाव विशेष

रूप से उत्पादक होता है और तीसरी अवस्था में दूसरी अवस्था से भी अधिक उत्पादक होता है। पुनरुत्पादन पहली अवस्थाओं में अधिक होता है। पुनरुत्पादक और उत्पादक भाव अहेतुवादविषयक(एटैलियोलौजीकल)और हेतुवादविषयक (टैलियोलौजीकल) संज्ञाओं में परिभाषित हो सकते हैं। जो मनोवैज्ञानिक अहेतुवाद की रीति से भाव को समझते हैं वे सेन्द्रिय-क्रियावाही यंत्ररचना ( सैन्सरी-मोटर मिकैनिज्म ) की उन असंकल्पित चेष्टाओं की ओर ध्यान देते हैं जो उत्तेजनाओं के अनुभव में परिवेष्टित होती है। यदि भाव अपनी तीनों अवस्थाओं में इस प्रकार समझा जाय तो वह केवल उन आवृत्यात्मक क्रियाओं का द्योतक होगा जिनका स्पष्टीकरण या तो शरीरविज्ञान संबन्धी या स्नायुविज्ञान संबन्धी संज्ञाओं में कर सकते हैं। भाव के जीवन का विशदीकरण बिना किसी ऐसे हेतु की सहायता के होगा जो हेतुवाद के अनुसार आवृत्यात्मक क्रियाओं में पाया जाता है या यान्त्रिक प्रतिक्रियाओं में पाया जाता है। इसके विपरीत हेतुवाद भाव का विशदीकरण उस साधन-साध्य संबन्ध की संज्ञाओं में होगा जो क्रिया और उसके उद्देश्य में होता है। हेतुवाद से परिभाषित भाव उद्देश्यपूर्ति की ओर ही निर्दिष्ट होता है, और इस निर्देश से उसका कोई प्रयोजन नहीं कि क्रिया किस प्रकार की है। परन्तु न तो भाव विस्तार और न उसका पूर्वगृहीतपक्ष, कलासंबन्धी अनुभव, ही पूरी तरह से समझ में आ सकता है यदि अहेतुवादसंबन्धी और हेतुवादसंबन्धी दोनों तरह की परिभाषाओं का सहारा न लिया जाय। भाव में अहेतुवादविषयक और हेतुवादविषयक दोनों गुणक उपस्थित होते हैं। भावसंबन्धी प्रतिक्रियाएं हेतुरहित अथवा आवृत्यात्मक भी होती हैं और हेतुपूर्वक अथवा प्रादुर्भूतकार्यरूपी भी होती हैं।

भाव की निर्हेतु दशा में अतीत का पुनरुत्पादन और पुनर्नियोजन होता है। निर्हेतु भाव से उत्पादित क्रिया जातिगत और आवृत्यात्मक होती है। वह इस बात की द्योतक होती है कि शरीर जातिगत स्थितियों, घटनाओं, वस्तुओं, और विचारों की प्रतिक्रिया में स्वभावतः आवृत्यात्मक रूप से व्यापार करता है। इसी कारण कला के अनुभवों को कलावस्तु से पूर्वपरिचय होने का भान होता है और भाव की क्रियाशीलता में अंतःकरण में ऐसी प्रतिमाएँ आती हैं जो वार-वार आविर्भूत होती हैं और जिनसे कलाकृति सुबोध होती है। भाव के जाति-गुणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कला कलाकार के भावों की प्रतीक है और उसकी विशेषता सार्वजनीनता है। भाव के जातिगत गुण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि क्यों कलाकार अपनी रचनात्मक शक्ति से चकित होकर भ्रम में पड़ जाता है और क्यों कलाप्रेमी कला के ओजस्वी प्रभाव का कोई सुगम कारण नहीं दे सकता। अंत में, भाव के जातिगत गुण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कभी-कभी कला क्यों अनैतिक और नीतिहीन होती है और अपकृष्ट करती है।

भाव की हेतु दशा में कल्पना की विधायक शक्ति का पता चलता है। हेतु भाव

की क्रियाशीलता से ही कलाकार की विधायकता उत्पन्न होती है और वही उसकी वैयक्तिकता का आधार है। कला की विचित्रता के स्रोत भी हेतुभाव की क्रियाशीलता में ही मिलते हैं। इसी में उस उत्साह और उत्कृष्टता का स्रोत मिलता है जिसका अनुभव अगाध कला के ग्रहण में सदा होता है और इसी में प्रयास की उस अंतःस्फूर्ति का स्रोत मिलता है जो मनुष्य शक्ति की योजना करती है और जो रचयिता के अंतर्द्वंद्व को मिटा कर एक उच्चतर स्तर पर उसकी पुनर्रचना करती है। रचयिता को फिर से रचना और कलाग्राही का फिर से व्यवस्थापन करना—कला के ये तात्विक उद्देश्य हेतुभाव की क्रियाशीलता से ही सिद्ध होते हैं।

कलात्मक रचना न तो निर्हेतु भाव का ही काम है और न हेतु भाव का, वरन् दोनों के उचित सम्मिश्रण का। निर्हेतु भाव से प्राणिशास्त्र संबंधी संस्कार (बायलौजीकल एपर्सैप्शन्समास) और सांस्कृतिक संस्कार (कलचरल एपर्सैप्शन्स-मास) जागृत होते हैं और वे कलाकार को ऐसे जीवित प्रतीक प्रदान करते हैं जो स्थितियों, घटनाओं, और क्रियाओं के रूप में कलाकृति की वस्तु बनते हैं। इस विचार से यह निर्विवाद सिद्ध है कि तत्त्वतः कोई कलाकार बिल्कुल नई वस्तु का निर्माण नहीं करता। उसे प्रतीक निर्हेतु भाव से प्राप्त होते हैं और उन के संकेतों की रचना और उनका संयोजन ही वह करता है। उदाहरणार्थ, निकट संबन्धी का शीत घातक एक जातिगत प्रतीक है जो 'औरेस्टिया' और 'हैम्लैट' के रूप में अलग-अलग आविर्भूत होता है। जाति नेता, शीत घातक भयावह यात्राएँ, प्रिया की खोज और उसकी प्राप्ति, कृतघ्नता का क्लेश, वीरों की लड़ाई, तूफान और नाश का भय, दरिद्रता का व्यग्र क्षोभ—ये सब प्रतीक जो कलाकृतियों में सुरक्षित हैं निर्हेतु भाव को क्रियाशीलता ही से मिले हैं और इन को कलांग देने में ही कलाकार का कौशल है। जितने शक्तिशाली प्राणिशास्त्र सम्बन्धी संस्कार होते हैं उतने ही शक्तिशाली सांस्कृतिक संस्कार भी होते हैं। आत्मा का निरूपण और उसका परमात्मा से ऐक्य अथवा पार्थक्य, अनश्वरता, धन अथवा ज्ञान प्राप्ति के लिये शैतान को आत्मा का बेचना, जीवन क्लेश से मुक्ति की भावना, स्वतंत्र धारणा और अटल भवितव्यता की समस्या, निश्चित कर्मगति— ये प्रतीक सांस्कृतिक हैं और नये-नये उपयुक्त संकेतों द्वारा कविता, काव्य और कला में निरंतर प्रगट होते रहते हैं। वस्तु को व्यवस्थित करना और उस की अभिव्यक्ति के लिये उपकरणों का संयोजन करना ये हेतु भाव के काम हैं। निर्हेतु भाव और हेतु भाव दोनों क्रियाशील हो कर कलाकार को ऐसी कृति सृजन करने के लिये समर्थ करते हैं जो कलानुरागी को चिरपरिचित होती हुई प्रतीत होती है और उसे कलाकार की तरह उच्चतर स्तर पर सुव्यवस्थित करती है। जैसे विज्ञान तर्क का सहारा लेकर मनुष्य जाति को जीवन व्यापार में गलतियों से बचाता है वैसे ही कला भाव का सहारा लेकर मनुष्य जाति को जीवन व्यवस्था में अपूर्णता से संपूर्णता की ओर ले जाती है। भाव की शक्ति चुम्बक शक्ति के अनुरूप है। इस शक्ति को कलाकार अपने संपर्क

से कलाकृति को देता है। कलाकृति चुम्बक का गुण पाकर इसी शक्ति को कलानुरागी को देती है। इस प्रकार कला अपनी शक्ति का प्रयोग करके कलानुरागी को सत्य, शिव, और सुन्दर की ओर आकर्षित करती है।

निर्हेतु और हेतु तत्त्वों के सम्मिश्रण से ही उस विरोध का समाधान हो जाता है जिस का भान कलानुभव में होता है। शेक्सपिअर के पात्रों के विषय में यह मत साधारण है कि वे व्यापक भी हैं और वैयक्तिक भी। व्यापकता निर्हेतु भाव द्वारा आई और वैयक्तिता हेतु भाव द्वारा। निर्हेतु भाव द्वारा प्राप्त जातिगत प्रतीक को कलाकार हेतु भाव के निर्देश में विशिष्ट संकेतों से व्यक्त करके एक बिल्कुल नई रचना कर देता है। कला अपकर्षता का भान देती है और उत्कर्षता का भी। अपकर्षता का भान गर्वहर अतीत के पुनर्नियोजन से होता है और उत्कर्षता का भान हेतु भाव द्वारा जीवन के सुव्यवस्थापन से। कला में खेल और उच्छृंखलता का भान होता है और गांभीर्य और शृंखलता का भी। खेल और उच्छृंखलता का भान निर्हेतु भाव की मुक्त क्रियाशीलता से होता है और गांभीर्य और शृंखलता का भान हेतु भाव के उपयुक्त अनुशासन से।

भाव का यह विस्तृत विवरण इस कारण दिया है कि कला की रचनात्मक प्रक्रिया और उस की प्रभावोत्पादकता स्पष्ट हो जायें। इस विस्तार की आवश्यकता यों भी हुई कि प्रस्तुत विषय पर भारतीय आलोचनात्मक विचार की तुलना पाश्चात्य आलोचनात्मक विचार से भलीभाँति हो जाय।

जीवन के सच्चे भावों और काव्य के भावों में साधारणतः तो कोई अंतर नहीं वरन् असाधारणतः अंतर है। काव्य में उन भावों का प्रवेश होता है जो कलाकार के कल्पनात्मक ध्यान के विषय रह चुके हैं और इस कारण अपनी तीव्रता शांत कर चुके हैं। ऐसे भाव स्पष्टतया रुचिकर होते हैं। कैसे रुचिकर होते हैं इस की व्याख्या यह है। परिस्थिति की किसी विशेष वस्तु से उत्तेजित हो कर मनुष्य की मानसिक क्रियाशीलता उत्पन्न होती है। यदि मनोवृत्ति के क्रियात्मक पहलू को रोक दिया जाय तो बजाय उस वस्तु से व्यापार संबंध स्थापित करने के मनुष्य उस वस्तु पर ध्यानशील हो जाता है। मन की स्थिति अंतर्वेगीय हो जाती है। अंतर्वेग एक ओर तो चेतना की समग्र भूमि पर और दूसरी ओर उत्तेजना देने वाली वस्तु और उसकी परिस्थिति पर फैल जाता है। इस फैलाव में अंतर्वेग की तीव्रता कम हो जाती है पर उसका विस्तार और उसकी व्यापकता बढ़ जाती है और मन पर आच्छादित होने के बजाय स्वयं उस के नियंत्रण में आ जाता है। इस दशा में मन को ऐसा प्रतीत होता है कि उस वस्तु और परिस्थिति का अंतर्वेगीय मूल्य केवल कल्पित है। इसी दशा में अंतर्वेग अपनी तीव्रता खो देता है और भोक्ता को अपना रस अथवा अमृत प्रदान करता है। भाव का रस में परिणत होना भाव सम्बन्धी इच्छा की क्रियात्मक प्रेरणा को रोकने और भाव का मन की ज्ञानात्मक प्रेरणा का विषय बन जाने पर

आधारित है, क्योंकि इसी दशा में मनुष्य ध्यानशील और कल्पनामय होता है। रस और भाव के सम्बन्ध के विषय में श्यामसुन्दरदास यह लिखते हैं: "स्थायीभाव और रस में कोई बड़ा भेद नहीं है। स्थायीभाव का परिपाक ही रस है। कुछ विद्वानों का मत है कि घड़े अथवा घड़े में विद्यमान आकाश में जो भेद है, वही भेद स्थायीभाव तथा रस में है। दूसरे लोग कहते हैं कि सीपी में रजत विषयक भ्रान्तिमय ज्ञान में और सत्य रजत विषयक ज्ञान में जो भेद है, वही भेद रस तथा स्थायीभाव में भी है। कुछ विद्वान दोनों में उतना ही भेद मानते हैं जितना कि विषय तथा विषय-ज्ञान में है।" इन व्यक्त मतों में हमें अंतिम मत ही माननीय है क्योंकि अंतर्वेग का ज्ञानात्मक नियंत्रण ही अंतर्वेग को रसमय करता है।

रस उस लोकोत्तर आनन्द को कहते हैं जो काव्य से सहृदय पाठक को और अभिनय से सहृदय दर्शक को प्राप्त होता है। परन्तु रस को काव्य और अभिनय ही से सीमित करना समीचीन नहीं। रस समस्त ललित कलाओं की जान है। रस का आस्वादन पहले कलाकार स्वयं करता है और फिर अपनी प्रतिभा द्वारा उपकरणों के संयोजित संदर्भ में वह उसका ऐसा प्रवाह करता है कि कलानुरागी कला के अनुभव से प्रायः वही आनन्द पाता है जो कलाकार को मिला था। भारतीय साहित्यशास्त्रकारों ने काव्य संबंधी रस का बड़ा सर्वांगी विवेचन दिया है। रस को काव्य की आत्मा कहा है। वह काव्यसौंदर्य का पहला सिद्धान्त है। अर्थ स्पष्ट हो, छंद उत्तम हो, शब्द-योजना सुन्दर हो, अनुप्रास और अन्य सुस्वर युक्तियाँ कर्णप्रिय हों, पर रस न हो, तो ऐसी रचना को हम काव्य नहीं कह सकते, केवल पद्य कहेंगे। काव्य उसी रचना को कहेंगे जिसमें ये सब तत्त्व रस-संचार के निमित्त संयोजित हों। काव्य के इसी लक्षण में काव्य रचना और रचनात्मक प्रक्रिया का रहस्य निहित है।

रस का स्वयं आस्वादन करना और उसका दर्शक अथवा पाठक को आस्वादन कराना, यही काव्य रचयिता का मुख्य कर्तव्य है। यह विवाद सर्वथा निरर्थक है कि दर्शक अथवा पाठक तो 'पत्थर के निर्जीव पदार्थ' सदृश हैं। उनके साथ रस का कोई संबन्ध नहीं है। रस की अभिव्यक्ति तो उन्हीं लोगों में होती है जिनके कार्यों का काव्य में वर्णन होता है अथवा जिनके कार्यों का अभिनय किया जाता है। गौण रूप से रस की अभिव्यक्ति अभिनेताओं में होती है। परन्तु हम पहले ही कह चुके हैं कि भाव में रस तब ही निकलता है जब वह चिन्तन का विषय हो जाता है। इस प्रकार राम कृष्णादि जीवित काव्य विषयों में तब ही रस की अभिव्यक्ति मान सकते हैं जब वे अपने भावों का चिन्तन करने लगते हैं और उनकी ओर वे अपनी वैसी ही मनोवृत्ति बनाने में समर्थ होते हैं जैसी रचनात्मक कलाकार की होती है। सार यह है कि रस की अभिव्यक्ति काव्यरचयिता में ही होती है और कला द्वारा पाठक अथवा दर्शक में होती है। काव्यरचयिता आंतरिक अथवा बाह्य भावों के

चिन्तन से रस निकालता है और पाठक अथवा दर्शक काव्य वर्णित भावों से। यह स्वयंसिद्ध है कि पाठक अथवा दर्शक काव्यरचयिता की तरह सहृदय मनुष्य है और स्वयं सदृश भावों का अनुभव कर चुका है अथवा उनका अनुभव करने में समर्थ है। इसी से तो वह काव्य अथवा अभिनय के भावों का सुस्पष्ट अनुभव कर उनके रस का आस्वादन करता है। कला प्रेमी में भावोत्पादकता की क्षमता अनिवार्य है। यह क्षमता उसे चाहे जीवन के विस्तीर्ण अनुभव से प्राप्त हुई हो, चाहे कलानुराग से। यह निश्चय हो जाने के पश्चात् यह दिखाना है कि किस प्रकार काव्यरचयिता अपनी रचना को रस से अनुप्राणित करता है।

काव्य के आधार नौ रस हैं। वे शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत, और शांत हैं। इनकी उत्पत्ति क्रमशः रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, ग्लानि, आश्चर्य, और निर्वेद इन नौ स्थायी भावों से होती है। इन भावों को स्थायीभाव इस कारण कहते हैं कि ये काव्य अथवा अभिनय में आदि से अन्त तक स्थिर रहते हैं। दूसरे भाव तो क्षण में आते हैं और स्थायीभाव की पुष्टि करके क्षण में चले जाते हैं। उनमें विरुद्ध अथवा अविरुद्ध भावों को लीन करने की शक्ति नहीं होती। स्थायीभावों की संख्या स्थिर कर देना यह भारतीय मस्तिष्क की विशेषता है। जब तब इस संख्या पर साहित्यशास्त्रियों ने आघात किया है। कुछ साहित्यशास्त्रियों का मत है कि पहले आठ भाव प्रवृत्तिमय हैं और नवां निर्वेद भाव निवृतिमय है। नाटक अथवा दर्शक का इस भाव से कोई संबंध नहीं है। ये लोग आठ स्थायी भाव ही मानते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ साहित्यशास्त्री भावों की संख्या और बढ़ाने के मत में हैं। वे कहते हैं कि प्रेम चार प्रकार का होता है, अनुयोगी, प्रतियोगी, समयोगी, और भिन्नलिङ्ग। भिन्नलिङ्ग प्रेम से शृंगार रस की उत्पत्ति होती है, परन्तु पहले तीन प्रेम भी स्थायीभाव हैं और उन से क्रमशः भक्ति, वात्सल्य, और प्रेयान अथवा सौहार्द रसों की उत्पत्ति होती है। नौ की संख्या के पोषक निर्वेद भाव के बहिष्कार के विषय में कहते हैं कि निवृत्ति की भावना जीवन व्यापार में उतनी ही प्रबल है जितनी कि प्रवृत्ति की भावना, और काव्य जीवन का प्रतिरूप होने के कारण उससे पराङ्मुख नहीं हो सकता। और प्रेम के तीन और भावों के आधार पर तीन और अधिक रस बढ़ाने के विषय में उनका मत है कि ये और तीन प्रकार के प्रेम पहले प्रकार के प्रेम की तरह रति ही में सम्मिलित हैं। इसका समान उदाहरण पाश्चात्य मनोविश्लेषण में मिलता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक सब प्रकार के प्रेम और साहचर्य को लिङ्ग का शोध कहते हैं। यह विचार फिर नौ की संख्या को स्थिर करता है। जुगुप्सा, शोक आदि को स्थायीभाव न मानने में कोई सार नहीं। परन्तु हम इस संख्या को नहीं मान सकते। क्योंकि 'डॉक्टर फौस्टस' का स्थायीभाव अपार शक्ति की तृष्णा और शेक्सपियर के 'ओथेलो' का स्थायीभाव प्रेमशंका है। ये भाव और दूसरे बहुत से अंग्रेज़ी आधुनिक नाटक, उपन्यास और काव्य आधारित हैं नवों स्थायीभावों

के अतिरिक्त हैं। भाव जीवन और प्रकृति की प्रतिक्रिया में उत्पन्न होते हैं और भाव जातिगत और आवृत्यात्मक होते हुए भी अनेक प्रकार के होते हैं। संस्कृति की प्रगति तो सब कोई मानते ही हैं। नई संस्कृति नये स्थायी भाव देती है। आदर्शवाद और जीवन समस्या विषयक नाटक और उपन्यास सब के सब इन नौ स्थायी भावों के अंतर्गत नहीं आते। अन्याय और अनम्यता के भावों पर गॉल्स-वर्दी के नाटक 'सिल्वर बॉक्स' और 'स्ट्राइफ' आधारित हैं। आदि से अंत तक अन्याय का भाव 'सिल्वर बॉक्स' में और अनम्यता का भाव 'स्ट्राइफ' के दोनों पक्षों में स्थिर है और ये भाव दूसरे नाटकों को भी पढ़ते हुए संकेतों द्वारा अनु-प्राणित कर सकते हैं। यदि खींच तान कर इन भावों को उन्हीं नौ भावों में मिला दिया जाय तो संतुष्टि नहीं हो सकती।

रस की उत्पत्ति के लिये स्थायीभाव अकेला पर्याप्त नहीं माना गया। उसके साथ विभाव, अनुभाव, और संचारीभावों का रहना आवश्यक है। विभाव उस वस्तु को कहते हैं जिनके अवलंब से स्थायीभावों की उत्पत्ति होती है या जो उन को उद्दीप्त करती है। इसी से विभाव के दो भेद हैं, आलंबन और उद्दीपन। आलं-बन उस विभाव को कहते हैं जिसके अवलंब से रस की उत्पत्ति होती है। भिन्न-भिन्न रसों में भिन्न-भिन्न आलंबन होते हैं; जैसे, शृंगार रस में नायक और नायिका, रौद्र रस में शत्रु, हास्य रस में विलक्षण रूप या शब्द, करुण रस में शोचनीय व्यक्ति या वस्तु, वीर रस में शत्रु या शत्रु की प्रिय वस्तु, भयानक रस में भयंकर रूप, वीभत्स में घृणित पदार्थ, अद्भुत रस में अलौकिक वस्तु, और शांत रस में अनित्य वस्तु। उद्दीपन वे विभाव हैं जो रस को उत्तेजित करते हैं, जैसे, शृंगार रस के उद्दीपन करने वाले सखा, सखी, दूती, उपवन, चाँदनी इत्यादि। अनुभाव उन गुणों और कार्यों को कहते हैं जो चित्त के भाव को प्रकाश करते हैं; जैसे मधुर संभाषण और स्नेहयुक्त दृष्टिनिक्षेप। अनुभाव के चार भेद माने गये हैं: सात्विक, जिसका व्यवहार अद्भुत, वीर, शृंगार, और शांत रसों में होता है; कायिक, शारीरिक क्रिया जिससे भाव का बोध हो; मानसिक, जो मन की कल्पना से उत्पन्न हो; और आहार्य्य, भिन्न वेश धारण करने से उत्पन्न हुआ अनुभाव, जैसे नायक नायिका का और नायिका नायक का वेश धारण करके स्थायीभाव का बोध कराएँ। हाव, अथवा वे स्वाभाविक चेष्टाएँ जिनसे संयोग के समय नायिका नायक को आकर्षित करती है, भी अनुभाव के अंतर्गत आता है। संचारीभाव वे भाव हैं जो रस के उपयोगी होकर, जल की तरंगों की भाँति, उसमें संचरण करते हैं। ऐसे भाव मुख्य भावों की पुष्टि करते हैं और समय-समय पर मुख्य भावों का रूप धारण कर लेते हैं। स्थायीभावों की भाँति ये रस-सिद्धि तक स्थिर नहीं रहते, वल्कि अत्यंत चंचलतापूर्वक सब रसों में संचरित होते रहते हैं। इन्हीं को व्यभिचारीभाव भी कहते हैं। साहित्य में नीचे लिखे तैंतीस संचारी भाव गिनाए गये हैं; निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, श्रम, मद, धृति, आलस्य,

विवाद, मति, चिन्ता, मोह, स्वप्न, विबोध, स्मृति, अमर्ष, गर्व, उत्सुकता, अवहित्थ, दीनता, हर्ष, व्रीड़ा, उग्रता, निद्रा, व्याधि, मरण, अपस्मार, आवेग, त्रास, उन्माद, जड़ता, चपलता, और वितर्क। रस विभावों से उद्बुद्ध अनुभावों से परिवृद्ध, और संचारी भावों से परिपुष्ट होते हैं।

रस की उत्पत्ति के लिये गुण भी उतना ही आवश्यक है जितना स्थायीभाव के साथ विभाव, अनुभाव, और संचारीभावों का सहयोग। गुण तीन तरह के होते हैं: माधुर्य, ओज, और प्रसाद। अनुस्वारयुक्त वर्णों के अधिक प्रयोग, टवर्ग के अभाव, और समास की न्यूनता से कविता में माधुर्य गुण आता है। टवर्ग, संयुक्त अक्षरों, और दीर्घ समासों के अधिक प्रयोग से कविता में ओज गुण आता है। शब्द और अर्थ के उपयुक्त सहयोग और मनोहर शब्द योजना और समासों से कविता में प्रसाद गुण आता है। प्रसाद तो सब रसों की उत्पत्ति में सहायक होता है; ओज अद्भुत, वीर, रौद्र, भयानक, और वीभत्स रसों में सहायक होता है; और माधुर्य, शृंगार, करुण, हास्य, और शांत रसों में सहायक होता है। अलंकार और छंद से भी रस की वृद्धि होती है परन्तु वे रस के लिये उतने आवश्यक नहीं जितने गुण। रसों के आपस में मित्र और शत्रु मित्र होते हैं और रसोत्पादन में प्रतिभाशाली कवि इस बात का पूरा ध्यान रखते हैं। रसों का आपस में ऐसा संबंध है। शृंगार रस के हास्य और अद्भुत मित्र हैं और करुण, वीभत्स, रौद्र, वीर, और भयानक शत्रु हैं। हास्य रस के शृंगार और अद्भुत मित्र हैं और भयानक, करुण, और वीर शत्रु हैं। अद्भुत रस का भयानक मित्र है और रौद्र शत्रु। शांत रस का करुण मित्र है और वीर, शृंगार, रौद्र, हास्य, और भयानक शत्रु। रौद्र रस का भयानक मित्र है और हास्य, शृंगार, अद्भुत शत्रु। वीर रस का रौद्र मित्र है और शांत और शृंगार शत्रु। करुण रस का शांत मित्र है और हास्य और शृंगार शत्रु। भयानक रस के अद्भुत, रौद्र, और वीर मित्र हैं और शृंगार, हास्य, और शांत शत्रु। वीभत्स रस का कोई मित्र नहीं, उसका शत्रु शृंगार है। रस की वृद्धि मित्र रसों को एकत्रित करने से और शत्रु रसों के निष्कासन से होती है। यह सिद्धान्त शेक्सपिअर के अभ्यास से विपरीत है। शेक्सपिअर हास्य को अद्भुत, करुण, और भयानक रसों से अनिर्बंधेन मिला देता था। उसकी धारणा थी कि विरुद्ध रस एक दूसरे को सुस्पष्ट करते हैं, एक दूसरे को निष्फलीकृत नहीं करते; जैसे यदि किसी बिल्कुल सफ़ेद समतल पर कोई काला चित्र हो तो दोनों के संनिकर्ष से दोनों अधिक सुस्पष्ट हो जाते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार कविता नियमबद्ध हो जाती है। रसोत्पादन, लक्ष्य; स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव, और संचारीभाव, उपकरण; उपयुक्त गुण का साहचर्य; शब्दयोजना, छंद और अलंकार की मनोहरता; रससंधि और रस-शांति का ध्यान—यही काव्य रचना है और इसी से रचनात्मक प्रक्रिया निर्दिष्ट होती है। कविता के ऐसे ही बहुत से निर्देश पाश्चात्य आलोचना में अरिस्टॉटल,

लॉञ्जायनस, होरेस, डान्टे, बोयलो, पोप, जॉनसन, कॉलरिज, गटे, पो, हॉप्किन्स, ब्रिजेज, और दूसरे बहुत से आलोचकों से मिलते हैं। उल्लेखनीय इस प्रसंग में कॉलरिज और गटे हैं। कॉलरिज अपनी 'बायग्रेफ़िया लिटरेरिया' के एक अध्याय में अभ्यासात्मक आलोचना का प्रतिपादन करते हुए उन गुणों को निर्दिष्ट करता है जिनसे विमल काव्यात्मक शक्ति का पता चलता है। पहला गुण पदयोजन का पूर्ण माधुर्य है। दूसरा गुण ऐसी वस्तुओं की छाँट जो कवि के निजी हितों और परिस्थितियों से बहुत दूर हों। गटे उससे सहमत है। उसका कहना है कि सर्वोत्कृष्ट कविता पूर्णतया अनात्मिक होती है। अनात्मिकता वस्तु की व्यञ्जना में भी आवश्यक है। जैसा अनुभव हो उसे ज्यों का त्यों, वैसा ही वर्णित किया जाय। तीसरा गुण विचारों का गांभीर्य और उनकी शक्ति है। गटे का भी यही कहना है कि यदि किसी कवि की वस्तु विचारपूर्ण न हो तो वह कवि असफल माना जायगा। पेटर, ब्रेडले, एलेग्ज़ेण्डर सब ही इसमें सहमत हैं। एलेग्ज़ेण्डर तो कहता है कि दो प्रकार की कविता होती है, सुन्दर और महान्। महान् कविता का सृजन विषय की महानता से होता है। चौथा गुण प्रबल भाव है। भाषा और प्रतिमाओं पर भाव का पूरा अधिकार स्थापित हो और वही विचारों को क्रम और ऐक्य प्रदान करे। गटे भी कहता है कि किसी कविता की असली शक्ति उसकी घटना अथवा उसकी प्रेरणा में होती है। कोलिरिज इस गुण को तीसरा और तीसरे को चौथा गुण कह कर लिखता है। परन्तु महत्त्व में चौथा ही सब गुणों से अधिक है। स्थायीभाव की तुलना इसी से की जा सकती है। स्थायीभाव हमारे साहित्य-शास्त्रियों ने काव्य रचना के लिए प्रथम महत्त्व का माना है—रस तो चित्रित भाव का प्रभाव है—और इसी को पाश्चात्य आलोचकों ने प्रथम महत्त्व का माना है। इसमें संदेह नहीं कि प्रतिभाशाली कवि नियमों के नियंत्रण में उत्कृष्ट कविता का सृजन कर सकता है। ड्राइडन का कहना है कि नियंत्रण से कल्पना उत्तेजित होती है और कवि की प्रशंसा इसी में है कि कठिनाइयों का इतनी सुगमता से सामना करे कि कहीं उसकी कविता में कठिनाई का सामना करने का भान न दृष्ट हो। कवि का अंतःकरण, उसकी वस्तु, उसका आधार तीनों एक दूसरे में घुल मिल जायें। जैसे क्रिकिट का प्रवीण खिलाड़ी क्रिकिट के नियमों को अचेतना में रखता है और गेंद में बल्ला लगाते समय मानों मूल प्रवृत्ति से प्रेरित होता है और स्वयं खेल के हाथों यंत्रवत् हो जाता है, वैसे ही कलाकार कला के नियमों को अचेतन मन से पालन करता है और उसका स्वतंत्र अस्तित्व कोई नहीं रहता और वह कलाकृति में ही लीन हो जाता है। यदि कलाकार इस गति को प्राप्त न हो तो कोरा शिल्पकार है। शिल्प चेतन सुप्रयोज्य क्रियाशीलता है, और क्योंकि शिल्पकार सौन्दर्य के स्वप्नों से प्रभावित होता है, शिल्प प्रतिक्षण कला की ओर अग्रसर होती है। कला का विकास शिल्प से ही है। प्रत्येक कलाकार कलाकार भी होता है और शिल्पकार भी। शिल्पकार शिल्पकार ही होता है, यद्यपि उसमें कलाकार होने की क्षमता हो सकती है। जैसे ही शिल्पकार कल्पना-

मय भावना से अपनी सामग्री पर सामग्रीहेतु क्रियाशील होता है और उसमें अपने सौंदर्य स्वप्न की जागृत अनुभूति करता है वैसे ही वह कलाकार हो जाता है। कला के लिये आधार में आत्मसम्मिश्रण द्वारा ऐसे गुण निर्मित वस्तु में आरोप कर देना जो उसके आधार में नहीं हैं, आवश्यक है। कोरे नियमों को लेकर चतुरता से आधार पर क्रियाशील होना और वस्तु निर्माण करना तो शिल्प ही है, जो उपयोगी हो सकती है परन्तु सौंदर्यविहीन रहेगी। भारतीय रसशास्त्र पद्धति से काव्य की रचना में प्रतिभाहीन चतुर कवियों की ओर से यही भय बना रहेगा। उत्कृष्ट प्रतिभा तो निर्भीक और अबद्ध क्रियाशीलता में अपने रचना नियम अपने आप निकाल लेती है।

रचनात्मक प्रक्रिया का यह विस्तृत वर्णन इस कारण अनिवार्य हुआ कि रचनात्मक आलोचना के विवेचन में कृति की रचनात्मक प्रक्रिया की आवृत्ति होती है।

४

रचनात्मक आलोचक कलाकार होता है। कलाकृति की ओर उसकी प्रवृत्ति कल्पनामय होती है। जब वह किसी कृति को हाथ में लेता है तो वह उसे न तो किसी उपयोगिता का साधन मानता है और न उसे किसी प्रज्ञात्मक गवेषणा का आधार। वह कृति का निरीक्षण यही जानने के लिए करता है कि कलाकार ने इसका आधान कैसे किया। यह जान कर और फिर कृति का चित्त में पुनरुत्पादन करके वह उस पुनरुत्पादन को कुछ समय के लिये अपने चित्त ही में रोकता है। इस प्रकार उसके सम्मुख एक आकृति उपस्थित हो जाती है जिसका विस्तार और जिसकी विशेषताएँ ही उसे पूरी तरह तद्वत् कर देती हैं। इस आकृति की राग-रहित उपस्थिति को कलामीमांसा विषयक सादृश्य का सिद्धान्त (द डॉक्ट्रिन ऑफ् एस्थैटिक सैम्बलैंस) कहते हैं। जब इस चित्तविमूर्त्त आकृति पर आलोचनात्मक दृष्टि पड़ती है तो रचनात्मक आलोचक को सूझ होती है कि यदि वह उस आकृति से यह बात हटा दे अथवा इसमें यह बात परिवर्तित कर दे अथवा कोई नई बात उसमें-बढ़ा दे, तो कृति का रूप अधिक संतोषजनक होगा। कृति का ऐसा पुनरुत्पादित अनुभव रचनात्मक आलोचक में कलामीमांसा विषयक भावना उत्पन्न कर देता है। इस भावना से प्रेरित हो कर वह कृति के पुनरुत्पादन को एक नई रचना में सशरीर करता है। यह नई रचना मौलिक रचना की बातों की काट, छाँट, और कुछ नई संगत बातों के जोड़ से निर्मित होती है। किसी कृति का ऐसा पुनर्निर्माण रचनात्मक आलोचना कहलाता है। आन्तरिक पुनरुत्पादन में रचयिता के देश और काल से कृति का संबन्ध स्थापित किया जा सकता है और कृति का उस मन से भी संबन्ध स्थापित किया जा सकता है, जिसने उस का सृजन किया था। फलतः बाह्य पुनर्निर्माण में काट छाँट द्वारा रचनात्मक आलोचक ऐसी त्रुटियों का संकेत कर सकता है जो देश और काल के पूर्वचिन्तन

के कारण कृति में आ गई अथवा मन के अभीष्ट विकास से उसमें आ गई। ऐसी रचनात्मक आलोचना के उदाहरण हमें ब्रेडले की 'शेक्सपीरियन ट्रैजैडी' और चार्लटन की 'शेक्सपीरियन कॉमेडी' में मिलते हैं। कृति की तरह कृतिकार भी रचनात्मक आलोचना का आधार बन सकता है। जैसे कृति के पुनरुत्पादन में अंतर्दृष्टि की क्रियाशीलता आवश्यक होती है वैसे ही कृतिकार के पुनरुत्पादन में भी अंतर्दृष्टि की क्रियाशीलता से रचनात्मक आलोचक सहज ही यह देख लेता है कि कृतिकार की किस निष्पत्ति की ओर भावना थी और क्या निष्पन्न कर सका, वह क्या करना चाहता था परन्तु क्या न कर सका, वह क्या कर डालता यदि उसे उचित अवसर प्राप्त होता। 'कीट्स एण्ड शेक्सपिअर' नामक पुस्तक में मिडिल्टन मरे ने कीट्स की ऐसी ही समीक्षा की है। रचनात्मक आलोचनाओं में यह कृति अतुलनीय है और इसका अध्ययन रचनात्मक आलोचकों को बड़ा शिक्षाप्रद होगा। फ्रैंक हैरिस ने 'द मैन शेक्सपिअर' में शेक्सपिअर का रचनात्मक पुनर्निर्माण किया है, परन्तु फ्रैंक हैरिस का मैरी फिटन घटना से मास्तिष्काविष्ट हो जाना इस आलोचना में दोष ले आता है।

रचनात्मक आलोचक रचनात्मक कलाकार से केवल वस्तु चयन में भिन्न होता है। कलाकार जीवन और प्रकृति के दृश्यों और रूपों का कल्पनात्मक चिन्तन करता है, और आलोचक कलाकारों और उनकी कृतियों का कल्पनात्मक चिन्तन करता है। साहित्यकारों की अलग-अलग रुचियाँ होती हैं और वे उनका उपयोग उन्हीं क्षेत्रों में करते हैं, जो उनके जन्म और उनकी वाह्य परिस्थितियों से निर्दिष्ट होते हैं। किसी साहित्यकार की रुचि वीरों के जीवन की ओर होती है और वह उनके शौर्य की प्रशंसा कथनात्मक पद्य में करता है; दूसरे साहित्यकार की ऐसे महान् पुरुषों की भाग्यदशा में अनुरति होती है, जिनका समृद्धि के उच्चतम शिखर से आपत्ति के निम्नतम गर्त में अधोपतन होता है और जिन का अंत क्लेशकारी होता है; तीसरा साहित्यकार जीवन के उन वृहद् और सर्वतोव्यापिदृश्यों की ओर आकर्षित होता है, जो साधारण मनुष्यों के भाग्यों और प्रयासों के मनोरंजक चित्र हमारे सम्मुख लाते हैं। एक उपन्यासकार लंदन के जीवनदृश्य चित्रित करता है; दूसरा उपन्यासकार अंग्रेजी प्रान्तीय नगरों के मनुष्यों की झक, सनक, और उत्केन्द्रता का प्रदर्शन करता है; तीसरा उपन्यासकार वैसैक्स के कृपकवर्ग, मध्यवर्ग, और छोटे रईसों के जीवन पर अपने विचारों से हमारा दिलबहलाव करता है। प्रत्येक कलाकार का कोई विचार-क्षेत्र होता है जहाँ वह हमें ले जाता है। रचनात्मक आलोचक हमें पुस्तकों के संसार में ले जाता है। उसकी कथावस्तु साहित्य होती है। स्वयं जीवन ने शेक्सपिअर को यह भावना दी कि महाभय की घटना में अश्लील परिहास का प्रभाव कितना भयानक होता है, और इसी भावना से प्रभावित होकर उसने अपने दुखान्त 'मैक्बैथ' में पोर्टर का दृश्य खींचा। इसी दृश्य से अनुप्रेरित होकर डेक्विन्सी अपने 'द नौकिङ्ग एट द गेट इन मैक्बैथ' नामक प्रशंसनीय निबंध में अपनी व्यक्ति-

गत प्रतिक्रिया का वर्णन करता है। यूनान से इटली को और इटली से इंगलैण्ड को कविता की कौतुकात्मक प्रगति ग्रे के पिण्डारिक स्तोत्र 'द प्रौग्रेस ऑफ पोइट्री' का विषय है। होरेस, विडा, और बॉयलो ने काव्यकला पर दीप्यमान कविताएँ रची हैं। स्वयं आलोचना ने पोप के 'ऐसे ऑन क्रिटीसिज्म' में रचनात्मक चमत्कार दिखाया है, जिससे चकित होकर सेण्ट ब्यूव अपने उद्गार इस प्रकार प्रज्ञापना है: "जैसे ही मैं इस निबंध को पढ़ता हूँ,निरंतर उसमें पोप के अंतर्ज्ञ और सूक्ष्मबुद्धि होने के प्रमाण पाता हूँ। उसके चरणद्वय अमर सत्यों से परिपूर्ण हैं और ये सत्य अपने अंतिम रूप में बड़े संक्षेप और बड़ी चारुता से व्यक्त हैं।"

रचनात्मक आलोचक कलाकृति का वैसे ही मूल्य करता है जैसे कलाकार जीवन का। यदि कृति पूर्णतया कलात्मक है, तो रचनात्मक आलोचक अपनी रुचि और कृतिकार की प्रतिभा में अनन्यता का अनुभव करता है। परन्तु ब्रह्मजगत के सदृश कलाजगत अपूर्ण है और आदर्शीकरण के लिये अवकाश देता है। पूर्ण जगत में कला अवश्यमेव अस्तित्वहीन होगी। एक पुरानी कहावत है कि जब निर्दोषता ने संसार छोड़ा तो उसे दरवाजे पर कविता संसार में प्रवेश करती हुई मिली। यह कहावत बिल्कुल सत्य है। जैसे कलाकार वास्तविकता के संसार से ऊपर आरोहण कर जाता है वैसे ही रचनात्मक आलोचक कला के संसार से ऊपर आरोहण कर जाता है। कलाकृति आलोचक के मन को क्रियाशील कर देती है और मन रचनात्मक प्रक्रिया को दोहरा कर एक नई रचना की सृष्टि कर देता है। इस प्रकार रचनात्मक आलोचना एक कृति को दूसरी कृति के स्थान में कायम कर देती है और इस कृति का मूल्य कला के नाते आँका जाता है, निर्णयात्मक आलोचना के नाते नहीं। निर्णयात्मक आलोचक के पास कला के मूल्यांकन के लिये मानदण्ड होते हैं। वह रचनाओं का वर्गीकरण करता है और अपने नेतृत्व के लिये उन नियमों को ग्रहण कर लेता है, जिनसे प्रत्येक साहित्य वर्ग का निर्माण नियंत्रित होता है। वह कृति की चीरफाड़ करता है और उसकी वस्तु को उसके रचनाकौशल से अलग करके दोनों की निकट परीक्षा करता है। परीक्षा के अंत में वह बता देता है कि वस्तु और रचनाकौशल दोनों में कलाग्राही को प्रभावित करने की कहाँ तक क्षमता है। वह एक कलाकृति की दूसरी कलाकृति से तुलना भी करता है और यह स्पष्ट कर देता है कि कृति ने किस परिमाण में कलात्मक पूर्णता पाई है। रचनात्मक आलोचक को रचनाओं के वर्गीकरण, उनकी चीरफाड़ और उनकी तुलना से कोई प्रयोजन नहीं। उसके लिये तो प्रत्येक कलाकृति व्यक्तिगत उत्पादन है जो पूर्णतया नवीन और स्वतंत्र होती है और अपने ही नियमों से शासित होती है। रचनात्मक-आलोचक कृति का स्वतंत्र अवलोकन करता है और इस अवलोकन की व्यञ्जना ही आलोचक की हैसियत से उसका मुख्य कर्तव्य है। उसकी आलोचना कृति की ओर से अनुराग केन्द्र को हटा कर उसके पुनरुत्पादन की ओर अवश्य ले जाती है, परन्तु उसका उद्देश्य भी इसके अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं। प्रसंगतः,

बिना किसी निर्दिष्ट उद्देश्य के वह अपने पुनःसृजन में इतनी आलोचना दे देता है, जितनी कि कलाकार जीवन के पुनःसृजन में दे देता है।

५

जो रूप रचनात्मक आलोचना बहुशः लेती है अंकप्राधान्यवाद विषयक (इम्प्रैशनिस्टिक) है। रचनात्मक आलोचना से अंकप्राधान्यवाद विषयक आलोचना की ओर आना ऐसे है जैसे संश्लेषणात्मक सद्ज्ञान से विश्लेषणात्मक सद्ज्ञान की ओर आना। रचनात्मक आलोचना किसी कलाकृति से जितने अंक मन पर पड़ सकते हैं उनको लेकर उन्हें ऐक्य में सम्बद्ध कर देती है, और अंकप्राधान्यवाद विषयक आलोचना केवल एक अंक से ही संतुष्ट हो जाती है। शेक्सपियर विषयक आलोचना इस भेद को स्पष्ट करती है। ब्रैडले का प्रयास रचनात्मक है। हैम्लैट की अकर्मण्यता के विषय में हैम्लैट और दूसरे पात्रों से जितने भिन्न चिह्न ब्रैडले के मन पर पड़ते हैं, वह उन सब की उलझन को भरसक सफलता से सुलझा देता है। श्लैगल और कॉलरिज अंकप्राधान्यवादी हैं। वे हैम्लैट के चरित्र से पड़े हुए एक ही अंक को लेकर उसकी अकर्मण्यता का कारण उसकी विचारशीलता, अथवा उसके चिन्तनशील मानसिक स्वभाव का अतिरेक, बताते हैं। गटे अंकप्राधान्यवादी है। वह हैम्लैट के विलंब का कारण उसकी सदसद्विवेक बुद्धि की अधिक संवेदनशीलता बताता है। इसी प्रकार वर्डर अंकप्राधान्यवादी है। वह हैम्लैट की कठिनाई उसकी बाह्य बाधाओं में निश्चित करता है। फलटन मोक भी अंकप्राधान्यवादी है। वह हैम्लैट की कठिनाई उसके स्नायुव्यतिक्रमात्मक दौर्बल्य, जो मानसिक धक्के से उत्पन्न हुआ, में पाता है। अन्त में एर्नेस्ट जोन्स भी अंकप्राधान्यवादी है। उसके मतानुसार हैम्लैट की कठिनाई उसकी एडीपस-संबंधी मानसिक ग्रन्थि (एडीपस कॉम्प्लैक्स) में स्थित है; हैम्लैट की अपनी माँ के प्रति कामचेष्टा है और यही उसे क्लॉडिअस का वध करने से रोकती है।

अंकप्राधान्यवाद संज्ञा चित्रकलाओं से संबंधित है। उपन्यास और आख्यायिकाओं में जिसे यथार्थवाद कहते हैं, नाटक में जिसे प्रकृतिवाद कहते हैं, चित्रकलाओं में उसी को अंकप्राधान्यवाद कहते हैं। किसी वस्तु ने जो चिह्न कलाकार के मन पर छोड़ा है, उसी को शाणपट पर उपस्थित करने का ढंग अंकप्राधान्यवाद है। हॉलब्रॉक जैक्सन उसे तथ्यान्वेषण कहता है। बर्नडशॉ उसे तथ्य का विवेक कहता है। उसके मत से अंकप्राधान्यवाद स्पष्ट व्यक्तिगत निश्चय के अनुसार जीवन के अनुभव करने का स्वभाव है और जीवन के अनुभव करने के रूढ़िगत अथवा परंपरागत ढंग की प्रतिक्रिया है। अंकप्राधान्यवाद प्रकृति की उपस्थिति में क्षण क्षण के सुख और आनन्द का आदर करता है। वह क्षणिक अनुभव को बहुमूल्य समझता है। उसका संबंध उन विषयों से है जो मनुष्य के लिये विशेष रूप से संवेदनात्मक होते हैं। पेटर का कहना है, "प्रति क्षण

हाथ या चेहरे का रूप संपूर्णता की ओर प्रगतिशील होता है। पहाड़ी अथवा समुद्र की कोई विशेष झलक हमें और सब झलकों से अधिक प्रिय लगती है। कोई भावगति अथवा अंतर्दृष्टि अथवा बौद्धिक उत्तेजना असाधारण रूप से वास्तविक और आकर्षक होती है—उसी क्षण के लिये जब वह उत्पन्न होती है।" अंकप्राधान्यवादी क्षणिक मोहन का अपनी पूर्ण आत्मा से उत्तर देता है और उस उत्तर को बिना किसी बौद्धिक विस्तार के उपयुक्त प्रतीकों में व्यक्त करता है। रौज़ैटी के शब्दों में अंकप्राधान्यवादी-विषयक कला एक क्षण की स्मारक है। ऑस्कर वाइल्ड का कहना है कि चाहे क्षण मनुष्य का भाग्य न निश्चित करे पर इसमें संदेह नहीं कि क्षण से अंकप्राधान्यवादी का भाग्य अवश्य निश्चित होता है। कारण यही है कि किसी क्षण का जीवन अथवा प्रकृति सौन्दर्य जब वह कला में व्यक्त हो जाता है तो कलाकार की प्रतिष्ठा सदा के लिये बना देता है। क्षण और अपनी क्षणिक प्रतिक्रिया, ये ही अंकप्राधान्यवादी के लिये सब कुछ हैं। प्रत्यक्ष है कि अंकप्राधान्यवादी अपनी अनुभव रीति में यथार्थवादी होता है। यह मानना पड़ेगा कि उस का यथार्थवाद बुद्धि के ऊपर नहीं वरन् संकल्प-प्रवृत्ति पर आधार-भूत है। अंकप्राधान्यवादी का यह उद्देश्य होता है कि उसका प्रकृतिपुनश्चित्रण यथा भूत हो। इसीलिये वह अपने वर्णन से सब प्रकार के प्राज्ञ और पुस्तक-संबंधी निर्देशों का बहिष्कार करता है। वह पूर्णतया व्यक्तित्वमय हो जाता है और अपने व्यक्तित्व के व्यक्तीकरणार्थ ही प्रकृति का उपयोग करता है। आत्मसंस्कृति ही उस के लिये जीवनसार है। तत्वतः, अंकप्राधान्यवाद व्यक्तिगत मनांक का शुद्धतम रूप है और मनुष्य की आत्मा को बहुमूल्य आध्यात्मिक अनुभवों से समृद्ध कर उसे उत्कृष्ट करता है।

साहित्य में अंकप्राधान्यवाद वैसे-वैसे ही बढ़ता गया, जैसे-जैसे मनुष्य की अपने वैशिष्ट्य की चेतना बढ़ती गयी। मध्य काल में बहुत समय तक मनुष्य सामूहिक रूप से सोचते और भावपूर्ण होते थे। यह स्वभाव पुनरुत्थान काल के आदि तक बना रहा जब कि विज्ञान, तर्कप्राधान्यवाद, और प्रजातंत्रवाद ने मनुष्य के विचारशीलन और भावुकता में क्रान्ति फैलाई। मनुष्य धीरे-धीरे रूढ़ि-शृंखलाओं से मुक्त हुआ। मुक्त होने की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ सब साहित्य में सुर-क्षित हैं, ये विशेषतया कवि के प्रकृतिप्रेमभाव में दीख पड़ती हैं। मिल्टन प्रकृति निरीक्षण किताबी दृष्टि से करता है और प्रकृति के वर्णन में व्यञ्जना के उन्हीं भावों का प्रयोग करता है जो परम्परा से चले आये हैं। आगे चलकर जब हम टॉमसन के 'सीज़न्स' की जाँच करते हैं तो ज्ञात होता है कि चाहे उसके वर्णन भले ही पढ़ने वालों को बड़े रोचक हों, वह प्रकृति के विशिष्ट दृश्यों से घनि-ष्ठता नहीं स्थापित करता। ऋतुओं का जातिगत वर्णन करता है और उनसे जाति-गत भावों का ही अनुभव करता है। उसके छोटे-छोटे वर्णनात्मक गीतों में अव-श्य सौन्दर्यानुराग मिलता है। कूपर ने प्रकृति के विशिष्ट सुन्दर दृश्यों का वर्णन अत्यन्त ही मनोहर शैली में किया है। परन्तु उसके वर्णनों में प्रकृति सौन्दर्य

से उत्पन्न क्षणिक भावगतियों का कोई उल्लेख नहीं। वर्ड् सवर्थ और दूसरे रोमान्स-वादी कवियों में प्रकृति से उत्पन्न क्षणिक मनांक बाहुल्य में मिलते हैं। वर्ड् सवर्थ प्राकृतिक विषयों में अपने इष्ट मित्र रखता था और इन से सहस्रों मनांक स्मृति में एकत्रित किये था। शेली अपनी कविता में प्रत्येक तारे का, ओस की बूँद का, और उतरती हुई लहर का रंग और वातावरण प्रदर्शित करता है। कीट्स जो सदा विचारों के जीवन की अपेक्षा विशुद्ध संवेदनाओं के जीवन के लिये चिल्लाता था, अंकप्राधान्यवाद का सार व्यक्त करता है। धीरे-धीरे मनुष्य ने उस विस्तृत सम्पत्ति पर अधिकार जमाया है जो उसके भोगार्थ प्रकृति के रंग और रूप में संचित थी और जिसे भोगने में रूढ़िवश असमर्थ था। सौन्दर्य क्षेत्र में मानव स्वातंत्र्य उतनी ही कठिनाई से प्राप्त हुआ है जितनी कठिनाई से सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रों में।

अंकप्राधान्यवादी का स्वभाव किसी कदर असाधारण होता है। जीवन के रंगविरंगे दृश्य में वस्तुएँ और क्रियाएँ नवीनतर और नवीनतर रूप धारण करती रहती हैं। अंकप्राधान्यवादी उस रूप को तुरन्त ग्रहण कर लेता है, जो उसे किसी क्षण प्रिय लगता है। उसे विरोध का भान ही नहीं और अनुभव के समय अपने अंतःकरण को सब बंधनों से मुक्त कर देता है। रूपों से उस के विचार, उसके आवेग, और उसकी भावगतियाँ जागृत होती हैं। अंकप्राधान्यवादी की भावगतियों में कोई स्थिरता नहीं होती। 'ट्वेल्फ़्थ नाइट' के ड्यूक की तरह वह क्षण-क्षण बदलता रहता है। अंतर केवल इतना है कि जब कि ड्यूक अपनी एक प्रिया के लिये स्थिर रहता है, अकप्राधान्यवादी किसी प्रिया के लिये स्थिर नहीं रहता और न उस का मन ऊबता है। वह जानता है कि परिवर्तन जीवन का नियम है और एक ही रूप और रंग के थोड़े-थोड़े बदलते हुए बहुत से भेद हैं। उसमें मानसिक चैतन्यता इतनी होती है कि वह सूक्ष्म परिवर्तनों को फ़ौरन पहचान जाता है और अपनी भावगति उनके अनुसार कर लेता है। वह उसी वस्तु का उसी भावगति में दोबारा अनुभव करने से चिढ़ता है। सूक्ष्म परिवर्तनों का अनुभव करना ही वह अपना परम धर्म समझता है। अंतिम विशेषता अंकप्राधान्यवादी की यह है कि उसका मन इतना उर्वर होता है कि व्यञ्जनार्थ वह तुरन्त ही उपयुक्त प्रतिमा और शब्द उत्पन्न कर देता है।

साहित्य में अंकप्राधान्यवाद का फैलाव आलोचना में प्रतिबिंबित है। जिस प्रकार धीरे-धीरे वह साहित्य में फैला है, उसी प्रकार धीरे-धीरे वह आलोचना में फैला है। एलीज़बैथ के काल में जब कोई आलोचक किसी कृति की जाँच करता था तो उसमें यही देखता था कि कृति की भाषा कैसी है, वह आलंकारिक है या नहीं, उसका छंद नियमानुकूल है या नहीं। जब नवशास्त्रीय काल का कोई आलोचक किसी कृति की जाँच करता था तो वह ऐसे मानदण्डों का सहारा लेता था, जैसे अनुकरण, वैदग्ध्य और रुचि। ये तीनों मानदण्ड कारण-विकृत होते थे

ले जाती है। परन्तु जब कि रचनात्मक आलोचना में साहित्य का कुछ अचेतन मूल्यांकन होता है, अंकप्राधान्यवादी आलोचना में मूल्यांकन तनिक भी नहीं होता। अंकप्राधान्यवादी आलोचना में तो हमें साहित्य से प्राप्त मनांकों द्वारा उत्तेजित भावगति का वृतान्त मिलता है। इसलिये वह आलोचना छायावत है, और यदि साहित्य भी जिस की वह आलोचना है अंकप्राधान्यादी हो तो वह छाया की भी छाया है।

६

जूल्ज़ लैमेटर अपने 'लेज़ कन्टैम्पोरेन्स' में एक नये प्रकार की रचनात्मक आलोचना की सूचना देता है। उसका उदाहरण एम० पौल बर्गेट में मिलता है। एम० पौल बर्गेट के हाथों में आलोचना अपने पास और नैतिक विकास की कहानी हो जाती है। यह आलोचना अहंकारवादी आलोचना कही जा सकती है। एम० पौल बर्गेट का मानसिक विकास आधुनिक साहित्य के आधार पर हुआ है, पुराने साहित्य से यह बहुत कम अवगत है। फलतः उसकी आलोचनात्मक क्रियाशीलता पिछले तीस वर्षों के ऐसे लेखकों तक सीमित है जिनके विचार और जिन की भावनाएँ उसके अनुकूल हैं। न वह उन लेखकों के चरित्र का चित्रण करता है, न वह उन का जीवनवृत्तांत देता है, न वह उसकी रचनाओं का विश्लेषण करता है, न वह उनकी लेखन शैली का अध्ययन करता है, न वह उन अंकों को जो उनकी रचनाओं से उसके मन पर पड़ते हैं स्पष्ट करता है; वह तो केवल उन भावों और मानसिक अवस्थाओं का वर्णन करता है जिन्हें उसने अनुकरण अथवा सहानुभूति द्वारा अपना लिया है। इस प्रकार वास्तव में चाहे वह अपने मानसिक विकास का इतिहास ही देता है, तो भी साथ-साथ अपने समय की मौलिक भावनाओं का भी विवरण देता है और एक तरह से अपने काल के नैतिक इतिहास का एक खंड तैयार करता है।

जिसने इस बात पर जोर दिया कि काव्य के लिये विषय वस्तु की विशेषता निरर्थक है, उसने सुझाया कि प्रत्येक विषय वस्तु उपयुक्त है यदि उसका निरूपण काव्यमय शैली में हो। इसी तरह अठारहवीं शताब्दी में ग्रे, जोज़फ वार्टन, और हर्ड ने उन नवशास्त्रीय नियमों की अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह घोषित किया जिनके परिपालन से उस शताब्दी में काव्यप्रणयन होता था। शास्त्रीयता के विरोध में रोमान्सवादित्व, वास्तविकता के विरोध में आत्मीयता, और उपयोगिता के विरोध में सौन्दर्यनिरूपण—ये विधिविरोध इतने पुरातन हैं जितनी स्वयम् आलोचना। पेटर, स्विनबर्न, और साइमन्स हाल के ऐसे उदाहरण हैं जिनकी रचना पिछली उन्नीसवीं शताब्दी की रूढ़िबद्ध रचना की प्रतिक्रिया है।

---

## तीसरा प्रकरण

# व्याख्यात्मक आलोचना ( इन्टरप्रेटेटिव क्रिटीसिज़्म )

बहुत वर्षों तक आलोचना में रूढ़िवाद की ध्वनि ही प्रबल थी। अरिस्टॉटल, हौरेस, और इन्हीं के आधार पर पुनरुत्थान कालीन इटली और फ्रांस के आलोचकों के बनाये हुये नियम कठोरता से साहित्य समीक्षा में प्रयुक्त होते थे। फलतः एक लेखक के पश्चात दूसरा लेखक आलोचक द्वारा दूषित और अपवादित होता था। रायमर जिसे पोप इङ्गलैण्ड का उच्चतम आलोचक कहता है शेक्सपिअर के विषय में यह लिखता है, "दुखान्त में वह अपने मूलद्रव्य से बाहर है। उसका मस्तिष्क फिरा हुआ है, वह पागलों की तरह चिल्लाता है और असंगत बातें बकता है, न उसमें बुद्धि है और न उसे स्वच्छंदता से रोकने के लिये उसके ऊपर नियमों का नियंत्रण है।" ऑथेलो के विषय में लिखता है, "इस दुखान्त में वस्तु का कुछ लेश है परन्तु यह बड़ा दूषित लेश है। डैस्डैमोना का हब्शी को प्रेम करना उपहास्य है, इससे अधिक उपहास्य उसका ऑथेलो की साहसिक कथाओं से आकर्षित होना, और इससे भी अधिक उपहास्य यह बात है कि एक हब्शी को वैनिस में सेनापति बनाया जाय। पात्रों में तनिक भी सत्याभास नहीं। इआगो सैनिक वर्ग से बिल्कुल हटा हुआ है। सैनिक स्पष्टहृदय, निष्कपट, और शुद्धाचरण होता है, इआगो गोपनप्रिय, कपटी, और अशुद्धाचरणी है।" कट्टर रुढ़िवादी आलोचकों की आलोचनाएँ इसी ढंग की हैं। लॉर्ड लैन्सडाउन ने 'अननैचरल फ्लाइट्स इन पोइट्री' में शेक्सपिअर के आत्मगत भाषणों पर कोई ध्यान ही न दिया क्योंकि उसके मतानुसार सब अस्वाभाविक और तर्कहीन हैं। यही ध्वनि वॉल्टेअर की है। वह शेक्सपिअर के दुखान्तों को वीभत्स प्रहसन कहता है। उसका मत है कि प्रकृति ने शेक्सपिअर को महान् और उत्कृष्ट गुणों के साथ-साथ अधम और अनुत्कृष्ट गुण दिये थे, उसमें वे सब बातें थी जो प्रतिभाहीन असभ्य पुरुष में होती हैं, इसकी कविता उन्मद जांगल की कल्पना का फल है। वॉल्टेअर के विचार से एडीसन का 'केटो' उत्कृष्ट दुखान्त का उदाहरण है। ड्राइडन को अफसोस होता है कि स्पेन्सर ने इतनी बुरी तुकबन्दी क्यों ग्रहण की और 'फेअरी क्वीन' के ढाँचे का अनुमोदन करता है। जब ड्राइडन मिल्टन के 'पैरेडाइज लॉस्ट' की ओर दृष्टि डालता है तो इस निर्णय पर पहुँचता है कि, क्योंकि स्वर्ग में एडम को हार मिलती है, डैविल ही वास्तव में मिल्टन का नायक है। इस आलोचना में ड्राइडन

अरिस्टॉटल से प्रभावित है जो महाकाव्य के लिये नैतिक वस्तु को अधिक उपयुक्त समझता था। एडम क्योंकि वह निष्पाप था कलंकित नहीं होना चाहिये था। एडीसन की 'पैरैडाइज़ लॉस्ट' की आलोचना का आधार भी अरिस्टॉटल है। पहला दोष जो एडीसन मिल्टन के महाकाव्य में पाता है वह यह है कि उसका अन्त दुखमय है। अरिस्टॉटल ने कहा था कि महाकाव्य का अन्त सुखमय होना अधिक उपयुक्त है। यह रुढ़िगत स्वमतासक्त ध्वनि जॉनसन के निर्णयों में भी कम स्पष्ट नहीं है। स्पेन्सर के विषय में कहता है कि उसकी नवपदी एकदम कठिन और अप्रिय है, उसकी एकरूपता कानों को थकाती है और उसकी लंबाई ध्यान को अस्थिर करती है। शेक्सपिअर के विषय में कहता है कि वह अपने दुखान्तों के लिये शब्दयोजना में बहुत तुच्छता तक उतर जाता है और भाषा को हर प्रकार से भ्रष्ट करने पर उद्यत रहता है। मिल्टन के विषय में कहता है कि उसकी कविता 'लिसीडाज़' कर्णकटु है, उसके 'कोमस' के गीत लक्षण नियम में संगीतानुकूल नहीं हैं, और उसके सबसे बढ़िया सौनेटों के बारे में यही कहा जा सकता है कि वे बुरे नहीं हैं।

परन्तु जैसे-जैसे साहित्य की वृद्धि हुई और पाठकों की रुचि साहित्य के इतिहास की ओर गई, यह सब को स्पष्ट हो गया कि शास्त्रीय नियम सर्वाङ्गी और सुघटित नहीं हैं। ड्राइडन, एडीसन, और जॉनसन जिन्होंने इन्हें ग्रहण किया था, जगह-जगह पर इनसे असहमत हैं। ऐलीजैबैथ के काल के दुखान्त नाटकों पर रायमर की आलोचना के विषय में ड्राइडन कहता है, "यह कह देना कि अरिस्टॉटल का यह निर्देश है काफी नहीं है। अरिस्टॉटल ने दुखान्त के वे आदर्श जिन पर उसके नियम आधारित थे, सोफोक्लीज़ और यूरीपीडीज़ में पाये थे। यदि वह हमारे नाटक देख लेता, तो अपने नियम बदल देता।" पैरैडाइज़ लॉस्ट में मिल्टन के पात्रों पर विचार करते हुए, एडीसन भी अरिस्टॉटल से अपनी असम्मति ऐसे ही शब्दों में प्रकट करता है, "इस विषय में और थोड़े से कुछ और विषयों में अरिस्टॉटल के महाकाव्य संबंधी नियम उन वीररस प्रधान काव्यों पर ठीक-ठीक लागू नहीं होते जो उसके काल के पश्चात लिखे गये हैं। यह स्पष्ट है कि उसके नियम और भी पूर्ण होते यदि वह 'एनीड' को और पढ़ लेता जो उसकी मृत्यु के सौ वर्ष पश्चात लिखी गई थी।" जॉनसन मानता है कि शेक्सपिअर का अपने नाटकों में करुण और हास्य रसों का मिलाना शास्त्रीय प्रथा के विपरीत है परन्तु उसका कहना है कि आलोचना के नियमों से परे प्राकृतिक सौन्दर्य का आदर्श सदा अधिक ग्रहणीय है। क्या वास्तविक जीवन में हास और शोक एक दूसरे के निकट नहीं मिलते ? यदि किसी घर में विवाहोत्सव मनाया जा रहा है तो दूसरे निकटस्थित घर में श्मशानयात्रा की तैयारी हो रही है। यदि हास और शोक के सम्मिश्रण में सौंदर्य का भान होता है तो वह पूर्णतया समर्थनीय है।

प्राकृतिक सौन्दर्य की ओर झुकाव इतना बढ़ता गया कि धीरे-धीरे शास्त्रीय

नियमों से श्रद्धा उठने लगी। ग्रे अपनी 'एपोलैजी फॉर लिडगेट' में लिखता है कि लिडगेट के समय के साहित्य को आजकल के मानदण्डों से जाँचना अनुचित है। उस समय के पाठक दीर्घ और अप्रासंगिक कथाओं में आनन्द लेते थे और इसी कारण हमें लिडगेट के ऐसे दोषों की ओर ध्यान न देना चाहिये। नवशास्त्रीय काल पोप की पूजा करता था परन्तु जॉजफ़ वार्टन ने उसे कवियों में प्रथम श्रेणी का मानने से इन्कार किया। उसने 'ऐसे ऑन पोप' में कवियों के चार वर्ग किये। पहले वर्ग में स्पैन्सर, शेक्सपिअर और मिल्टन जैसे कवि आते हैं जिनका विवेचन उत्कृष्ट-करुणात्मक-कल्पनात्मक मानदण्डों से ही किया जा सकता है। दूसरे वर्ग में ड्राइडन जैसे कवि आते हैं जिनमें काव्यात्मक शक्ति तो कम है परन्तु वाग्मिता और नैतिकता के धनी हैं। तीसरे वर्ग में डन, स्विफ्ट और बटलर जैसे कवि आते हैं जिनमें काव्यात्मकता की मात्रा बहुत कम है परन्तु जिनमें बुद्धि-विभव की कमी नहीं। चौथे वर्ग में सैण्ड्स और फ़ेअर फ़ैक्स जैसे कवि आते हैं जो केवल पद्यकार हैं। पोप दूसरे और तीसरे वर्गों के मध्य में स्थित है। हर्ड कहता है कि 'फ़ेअरी क्वीन' के गुण उसको बतौर गौथिक काव्य के पढ़ने और समझने ही से मालूम हो सकते हैं, बतौर शास्त्रीय काव्य के पढ़ने और समझने ही से नहीं। लैसिङ्ग प्रसिद्ध जर्मन आलोचक तो शास्त्रीय नियमों की बेड़ियों को बिल्कुल चूर्ण कर डालता है। जब पुकार लगाकर वह यह कहता है, "प्रतिभा सब नियमों के ऊपर है। जो कुछ प्रतिभा कर डालती है वही नियम बन जाता है।······प्रतिभाशाली लेखक सदा कला का आलोचक होता है। उसके अंतस्थल में सब नियमों का साक्ष्य होता है जोकि उन नियमों में उन्हीं को वह पकड़ता, याद रखता, और मानता है जो उसको अपने भाव व्यक्त करने में उपयोगी होते हैं।" वर्ड्सवर्थ अपने 'पोप्यूलर जजमैण्ट' नामक निबन्ध के आदि ही में कोलरिज के इस कथन को उद्धृत करता है कि प्रत्येक लेखक जिस कदर वह महान् और साथ ही साथ मौलिक है उसी कदर उसके ऊपर यह भार पड़ता है कि वह उस रुचि का परिचय दे जिससे उसके काव्यरसों का आस्वादन किया जाय। इस प्रकार आलोचना जॉनसन के समय से ही अपने को नियमों के अत्याचारों से मुक्त करने में प्रयत्नशील रही है और साहित्यिक कृतियों को मुक्त और बंधनरहित व्याख्या देने में प्रवृत्त रही है।

२

आलोचना का व्याख्या की ओर झुकाव जर्मनी के तत्त्ववेत्ताओं के प्रभाव से हुआ। उन्हीं ने पहले कला की परिभाषा बतौर व्यञ्जना बड़ी सूक्ष्मता से की। इङ्गलैंड में इस परिभाषा को फैलाने का काम और कला का संबंध आलोचना से स्थापित करने का काम कारलाइल ने किया। वह अपनी 'स्टेट ऑफ़ जर्मन लिट्रेचर' में नई आलोचना का लक्ष्य यह बताता है, "आलोचना प्रेरित और अप्रेरित

के बीच में व्याख्याता का काम करती है, सिद्धपुरुष और उसके ऐसे श्रोताओं के बीच में व्याख्याता का काम करती है जो उसके शब्दों की सुस्वरता सराहते हैं और उन के वास्तविक अर्थ की कुछ झलक पा जाते हैं परन्तु उनके गहनतर अभिप्राय नहीं समझ पाते।" दोष निकालने वाली आलोचना को कारलाइल शंका की दृष्टि से देखता है। दोष को दोष ठहराने के लिये हमें दो बातें अच्छी तरह जान लेनी चाहिये। पहले तो हम अच्छी तरह समझ लें कि कवि का सचमुच क्या उद्देश्य था, उसका कार्यभार किस प्रकार उसके सम्मुख उपस्थित था, और कहाँ तक वह उपलब्ध साधनों से उसे पूरा कर पाया। दूसरे हम यह निश्चित कर लें कि कहाँ तक उसका कार्यभार हमारी व्यक्तिगत स्वैरभावनाओं से संमत नहीं, न उनकी स्वैरभावनाओं से संमत जो हमारे सहवर्गी हैं और जिनसे हम अपने नियम लेते अथवा जिन्हें हम नियम देते हैं, वरन् मानवी स्वभाव से और साधारणतः सब वस्तुओं के स्वभाव से संमत था, काव्यमय सौंदर्य के उन सिद्धान्तों से संमत था जो हमारी अपनी पुस्तकों में नहीं वरन् सब मनुष्यों के हृदय में लिखे हैं। यदि इन दोनों बातों पर हमें कवि संतुष्ट करता है तो उसकी कविता में कोई दोष नहीं। व्याख्यात्मक आलोचना का उद्देश्य इन दोनों बातों में कारलाइल ने पूरी तरह से स्पष्ट कर दिया है। कारलाइल के बाद आर्नल्ड ने व्याख्यात्मक आलोचना को लोकप्रिय बनाने का प्रयास किया। उसने अपने समय की अंग्रेजी आलोचना से क्षुब्ध होकर अंग्रेजी आलोचकों का ध्यान जर्मनी और फ्रान्स की आलोचना की ओर आकर्षित किया। उसने बताया कि ज्ञान की सब शाखाओं में जर्मनी और फ्रान्स का यही प्रयत्न रहा है कि जिस किसी वस्तु को आलोचक देखे उसे यथाभूत देखे, अंग्रेजी आलोचक ऐसा नहीं करता। आलोचना की व्याख्यात्मक पद्धति का पेटर ने आवेशमय अनुमोदन किया है। "कवि अथवा चित्रकार के गुण की अनुभूति, उसका पृथक्करण, उसकी शब्दों में अभिव्यञ्जना— आलोचक के कर्त्तव्य की यही तीन अवस्थाएँ हैं। सेण्टसबैरी जो अंगीकार करता है कि उसका आलोचनात्मक अभ्यास ऐसा ही रहा है पेटर के इस कथन की इस प्रकार व्याख्या करता है, "प्रथम अवस्था सुखानुभव की है जो आगे बढ़ कर जिज्ञासा में परिणत हो जाती है; दूसरी अवस्था जिज्ञासा का फलीभूत होना है; और तीसरी अवस्था फल का संसार को देना है।"

प्रत्येक कलात्मक रचना में तीन बातें होती हैं—पहले तो वह वस्तु जिसे अंतर्जगत अथवा बाह्यजगत प्रदान करता है; दूसरे कलाकार द्वारा इस वस्तु का मूल्यांकन, और तीसरे उपलब्ध साधनों द्वारा वस्तु और उसके मूल्याङ्कन पर आधारित समस्त अनुभव की अभिव्यञ्जना। इस विचार से व्याख्याता का कार्य यही निश्चित होता है कि वह कलाकृति संबंधी मूर्त्त सृष्टि का पुनरुत्पादन करे और फिर उस पुनरुत्पादन को तार्किक बुद्धि से शब्दों में व्यक्त करे। कृति को अच्छी तरह समझने के लिये व्याख्याता को चाहिये कि वह कृति को उसके वास्तविक रूप में देखे और ऐसी मानसिक दशा उत्पन्न करे जो कृति के

अनुकूल हो। यह काफ़ी कठिनाई का काम है। आई० ए० रिचार्ड्ज ने इसी हेतु एक विस्तृत क्रिया निश्चित की है। किसी लेख अथवा वक्तव्य के सम्पूर्ण अर्थ में भिन्न प्रकार की कई धाराएँ होती हैं। कार्यार्थ उन में से चार उल्लेखनीय हैं; आशय, भाव, ध्वनि, और उद्देश्य। आशय वही है जो कृति अथवा वक्तव्य में कहा जाता है। हम शब्द इसीलिये इस्तेमाल करते हैं कि सुनने वालों का ध्यान किसी वस्तुस्थिति की ओर आकर्षित किया जाय, कुछ बातें उनके मनन करने के लिये कही जायें, और इन बातों के संबंध में कुछ विचार उत्तेजित किये जायें। वैज्ञानिक लेखों में आशय प्रथम महत्त्व का होता है और कविता में द्वितीय महत्त्व का। कभी-कभी तो कविता इतनी भावमय हो जाती है कि आशय उसमें लेशमात्र भी नहीं रहता। बच्चों के बहलाने के लिये निरर्थक गीतों की रचना इसका ज्वलंत उदाहरण है। आशय के लिये शब्दकोष का सावधान प्रयोग, तार्किक तीव्रता, वाक्यरचना पर पूर्ण अधिकार, और प्रसंग की चेतना सहायक होते हैं। जिस वस्तुस्थिति का हम बोध कराना चाहते हैं उसके संबंध में हमारे कुछ भाव होते हैं। निर्दिष्ट वस्तुस्थिति की ओर हमारी कोई प्रवृत्ति होती है, कोई झुकाव होता है, किसी अनुराग का प्राबल्य होता है, भावों का कोई वैयक्तिक रंग अथवा स्वाद होता है; और इन भावों की अभिव्यञ्जना के लिये भी भाषा का उपयोग करते हैं; जब हम ऐसे शब्द पढ़ते अथवा सुनते हैं तो निहित भावों को ग्रहण कर लेते हैं। भाव कविता में प्रथम महत्त्व का होता है और विज्ञान में द्वितीय महत्त्व का, गणित में तो भाव का अभाव हो ही जाता है। भाव की अभिव्यञ्जना के लिये लेखक व्युत्पन्न विशेषण, क्रिया, और क्रियाविशेषण का प्रयोग करते हैं, उनकी भाषा सालंकार होती है। भाव को ग्रहण करने के लिये संवेदनशीलता और कल्पनात्मकता की आवश्यकता होती है। इससे परे, वक्ता अथवा लेखक अपने श्रोता अथवा पाठक की ओर कोई ध्वनि दिखाता है। जिस प्रकार के उसके श्रोता अथवा पाठक होते हैं अनजाने या जान बूझकर उसी प्रकार की उसकी भाषा हो जाती है। उसकी अभिव्यञ्जना ध्वनि में उसका अपने श्रोताओं अथवा पाठकों से जैसा संबंध होता है उसकी चेतना होती है। लैम्ब और स्टीवेन्सन के निबंधों में उनकी पाठक से घनिष्ठ परिचय की ध्वनि फ़ौरन मालूम हो जाती है। ग्रे और ड्राइडन की कविताओं का यही आकर्षण है। ध्वनि बातचीत में प्रधान होती है और अंग विक्षेपों और शब्दों से व्यक्त होती है। कविता में उसे ठीक ठीक पहिचानने के लिये सहिष्णुता और सूक्ष्म विवेक बुद्धि की आवश्यकता होती है। आशय, भाव, और ध्वनि से आगे वक्ता अथवा लेखक का उद्देश्य होता है, उसका चेतन अथवा अचेतन प्रयत्न, वह प्रभाव जो शब्दों द्वारा वह अपने श्रोताओं अथवा पाठकों पर डालना चाहता है। उद्देश्य सुभाषणकला में प्रधान होता है और साहित्य और कविता में गौण। यह भाषा को परिवर्तित कर देता है और उसका समझ[illegible] अभिव्यञ्जना की समस्त क्रिया का एक आवश्यक अंग है। श्रेष्ठ कला की

कृति में शारीरिक ऐक्य होता है, इसके अंगों में जीवनमूलक संबंध होता है जैसा पौधे अथवा जीवित प्राणियों के अंगों में, यांत्रिक नहीं होता जैसा घड़ी के पुरजों में। यदि घड़ी का कोई पुरजा खराब हो जाय तो उसकी जगह दूसरा पुरजा लगा सकते हैं और घड़ी फिर पहले की तरह काम करने लगती है। प्राणियों के एक अंग को काट कर दूसरा वैसा ही नहीं लगा सकते, बस वही पहला अंग ही ठीक काम कर सकता था। कलाकृति के अंगों में ऐसा ही संबन्ध होता है। कारलाइल ने अपने गटे पर आलोचनात्मक निबन्ध में इस सत्य को व्यक्त किया है, "प्रत्येक कविता अविभाज्य ऐक्य की दृष्टि उपस्थित करती है। उसके अर्थ का विकास विचारों और भावों की उर्वरा भूमि से स्वाभाविक रूप से इस प्रकार स्थिर हो जाता है जैसे अशोक का हजार वर्षीय वृक्ष जिसमें न कोई शाखा और न कोई पत्ती उद्रिक्त होती है।" कलाकृति में बुद्धिग्राह्य अर्थ के अतिरिक्त इन्द्रियग्राह्य अर्थ भी होता है। केवल शब्द ही विचारों और भावों के द्योतक नहीं होते, उनके स्वरों और गति में भी द्योतकता होती है। फिर कवि और अंतर्वेगपूर्ण गद्य के लेखक अपनी व्यञ्जनाशैली में अन्तर्दर्शी होते हैं वास्तविक संबन्ध देख लेने की उनमें विशेष क्षमता होती है, और जटिल अमूर्त विचारों का सहसा मूर्त पर्याय देने में वे प्रवीण होते हैं। अतः शब्दों के नाद और लय से व्यक्त अर्थ और प्रतिमाओं से प्रकाशित आशय इन दोनों की समस्त व्यञ्जना से संगीतता की व्याख्या करना यह व्याख्याता का अंतिम धर्म है।

व्याख्या की आदर्श गति, रुचि और प्रतिभा का ऐक्य है। व्याख्याता व्याख्या करते समय कृतिकार की प्रतिभा में सम्पूर्णता से लीन हो जाय। वह कृतिकार के उस अनुभव का ज्यों का त्यों पुनरुत्पादन करे जिससे कलाकृति का सृजन हुआ था। इस पुनरुत्पादक अवस्था में व्याख्याता के मन की प्रवृत्ति ग्रहणशील होनी चाहिये। इस प्रवृत्ति का विनाश करने वाली बहुत सी शक्तियाँ हैं। आई० ए० रिचर्ड्ज ने इनका विस्तृत वर्णन दिया है। पहले, असंगत स्मृतियाँ हैं। पाठक ने अपने जीवन में अंतर्वेगीय उत्थान अथवा पतन का अनुभव किया है, वह किन्हीं साहसिक घटनाओं का साक्षी रहा हो, किसी स्वानुभूत विचार श्रृंखला का उसके ऊपर दृढ़ाग्रह हो, किसी मिलती जुलती पहले पढ़ी हुई कृति की स्मृति सहसा जागृत हो जाय—इन अनुभवों और दृढ़ाग्रहों को अपने पठन में कृति से संयोजित कर देना एक साधारण सी बात है और अर्थ भंग होने में कोई संदेह नहीं हो सकता। दूसरे, सन्नद्ध प्रतिक्रियाएँ हैं। ये अर्थग्रहण में तब बाधा डालती हैं जब कि कृति में ऐसे अंतर्वेगों और विचारों का समावेश होता है जो पाठक के मन में पहले ही से पूरी तरह तैयार होते हैं। कला का कार्य जीवन को पुनर्व्यवस्थित करना है। रूढ़िगत सोचने की प्रणाली का उसे सहन नहीं। ग्रे की 'एलैजी' पढ़ने में सन्नद्ध प्रतिक्रियाएँ आधिक्य में अवश्य उठती हैं परन्तु उसमें भी ऐसे भाव हैं जो सब के हृदयों को एकरूपता से प्रभावित नहीं करते। हार्डी की कविताओं के

समझने के लिये सन्नद्ध प्रतिक्रियाओं को बड़े वेग से रोकने की आवश्यकता है। भावों और विचारों की मौलिकता उनमें एक दम दृष्टव्य है। कोई रूढ़िनियंत्रित पाठक हार्डी को अच्छी तरह नहीं समझ सकता। इस विषय में कुछ जटिलता है। वास्तव में कला में रूढ़ता और मौलिकता दोनों होती हैं। मौलिकता को समझने के लिये रूढ़ता से मुक्त होना पड़ता है। यह ऐसी बात है जिसे बहुत से पाठक नहीं कर सकते और न कर सकने के कारण ही वह कला के उचित ग्रहण में असमर्थ रहते हैं। तीसरे, अति भावुकता अथवा भावों का सहज में अधिक संचार है। भावुकता का प्रदर्शन कई तरह से माना जाता है। यदि किसी वस्तु से उठा हुआ भाव उचित न हो तो भावप्रदर्शक भावुक कहा जायगा। उस मनुष्य को भी भावुक कहेंगे जिसके भावों का संचार असाधारण तेजी से होता है। भाव की अपरिपक्वता अथवा असंस्कृतता भी भावुकता कही जाती है। एक सी बातों से सदा एक सी तरह प्रभावित होना अथवा प्रवृत्तियों की व्यवस्थित प्रसक्ति भी भावुकता कही जाती है। परन्तु अधिकतया वही मानसिक प्रतिक्रिया भावुक कही जाती है जिसमें चाहे प्रवृतियों की प्रसक्ति से चाहे भावों के एक दूसरे में प्रवेशन से प्रदर्शित भाव उस उचित मात्रा से अधिक हो जिस मात्रा में कोई वस्तु अथवा घटना उसे उत्तेजित करे। भावुकता अर्थग्रहण में बाधक होती है। बार्टन ने शेक्सपिअर की कृतियों की व्याख्या बहुत से स्थलों में ऐसी ही की है। चौथे निरोध (इनहिबीशन) आता है। इसके कारण हम बहुत से ऐसे अनुभवों को ग्रहण करने में असमर्थ होते हैं जिनसे हमें किसी दुःखमय घटना अथवा बीभत्स दृश्य की याद आ जाती है। वैसे तो मानसिक जीवन के लिये निरोध अनिवार्यतः आवश्यक है। यदि निरोध की शक्ति न हो तो मन में सब बातें एक साथ उपस्थित हों, जिसके माने यह है कि मन पूर्णतया भग्नक्रम होने से

धर्म पर उसका अवलंबन है उसमें विश्वास होना आवश्यक है। अविश्वास से उसकी मोहनशक्ति कम हो जाती है। दो तरह के विश्वास होते हैं: प्राज्ञ और अंतर्वेगीय। जब विश्वास ऐसे प्रत्यय से उत्पन्न होता है जो प्रत्ययों की व्यवस्थित राशि में तार्किक संगतता रखता है तो उसे प्राज्ञविश्वास कहते हैं। जब विश्वास ऐसी वासना से उत्पन्न होता है जो अंतर्वेग के लिये निर्गमद्वार खोल देता है तो विश्वास अंतर्वेगीय है। पहला अर्थ ग्रहण में तब बाधा लाता है जब पढ़ने वाले का उसमें विश्वास नहीं होता और अंतर्वेगीय विश्वास तब अर्थ ग्रहण में बाधा लाता है जब वह प्राज्ञ व्यवस्था में प्रविष्ट हो जाता है। यदि वह अपनी सत्ता स्वतंत्र रखने में समर्थ हो तो अर्थ ग्रहण में बाधक नहीं होता। कवि की प्रतिभा का चमत्कार इसी में है कि वह दोनों तरह के विश्वासों को स्वतंत्रता की प्रतीति दे। शेक्सपियर ने अपने नाटकों में ऐसा ही किया है। जब प्रेतों अथवा अलौकिक घटनाओं का अपने नाटकों में वह प्रवेश करता है तो दर्शक अथवा पाठक उनकी प्राज्ञपरीक्षा नहीं करता। वे हमारे अंतर्वेग ही से सम्बद्ध रहते हैं। छठे, रचना-कौशल-संबंधी पूर्वकल्पनाएँ आती हैं जब कभी कोई काम किसी विशेष ढंग से अच्छा हो जाता है तो भविष्य में यही आशा की जाती है कि वह काम सदा उसी ढंग से किया जाय और यदि वह काम उसी ढंग से नहीं होता तो हम निराश होते हैं। इसी प्रकार जब कोई काम किसी ढंग से अच्छा नहीं होता तो उस ढंग का हम उस काम के लिये अविश्वास करने लगते हैं। दोनों दशाओं में हम साधन को साध्य से अधिक महत्त्व देते हैं। मानदण्ड साध्य की प्राप्ति है, साध्य की विशेषता नहीं। इस बात पर ध्यान न देने से आलोचकों ने कविता पर बड़े कुठाराघात किये हैं। तुक शुद्ध होना चाहिये, पद के अंत में अर्थ समाप्त हो, महाकाव्य में पद्य षड्गणात्मक हो, सौनेट अष्टपदी और षट्पदी में विभक्त हो, दुखान्त से हास्य का बहिष्कार हो—ऐसी पूर्व कल्पनाओं से पाठक सुन्दर कृतियों से भी उदासीन हो जाते हैं। भारतीय कविता में रचना-कौशल पर बड़ा जोर दिया है। श्री जगन्नाथ प्रसाद अपनी 'छन्दः प्रभाकर' में लिखते हैं, "जैसे भौतिक सृष्टि में बिना पाँव के मनुष्य पंगु हैं, वैसे ही काव्यरूपी सृष्टि में बिना छंदःशास्त्र के ज्ञान के मनुष्य पंगुवत हैं। बिना छंदःशास्त्र के ज्ञान के न तो कोई काव्य को यथार्थगति समझ सकता है न उसे शुद्ध रीति से रच ही सकता है।" छंदःशास्त्र संबंधी पूर्व कल्पनाओं से काव्य की व्याख्या सदा उचित नहीं। सातवें और अन्त में साधारण आलोचनात्मक पूर्व धारणाएँ आती हैं। कविता के उद्देश्य और स्वभाव के विषय में हमारा अपना मत होता है; जैसे, कविता में गांभीर्य हो, कविता कोई संदेश दे, कविता में उत्तेजना देने वाले विचार हों, कविता सुख दे, कविता जीवन को पुनर्व्यवस्थित करे। ऐसी किसी एक पूर्वधारणा से सब प्रकार की कविताओं की व्याख्या करना न्याययुक्त नहीं कहा जा सकता। व्याख्याता को उपर्युक्त सातों बाधाओं से दूर रहना चाहिये। व्यक्तित्त्व पूर्ण होने से ही व्याख्याता में उचित व्याख्या की क्षमता आती है। व्यक्तित्त्व निष्कपटता (सिन्सियोरिटी) से

पूर्ण होता है। कन्फ्यूशस ने आत्मसंपूर्णता और निष्कपटता को एक माना है। निष्कपटता में अनुभवी उस गति को पहुँचता है जिसमें वह अपने अनुभव के विषय से ऐक्य स्थापित करता है और ऐसे ऐक्य से ही प्रबोध संभव होता है। निष्कपटता और प्रबोध समविस्तृत हैं। कन्फ्यूशस कहता है, "जब निष्कपटता से प्रबोध होता है, तो गति स्वभाव द्वारा प्राप्त मानी जाती है; जब प्रबोध से निष्कपटता आती है, तो गति शिक्षा द्वारा प्राप्त मानी जाती है। परन्तु यह निश्चय है कि जिस व्यक्ति में निष्कपटता होगी, उस व्यक्ति में प्रबोध होगा; जिस व्यक्ति में प्रबोध होगा, उस व्यक्ति में निष्कपटता होगी।" जब तक निष्कपटता द्वारा प्रबोध अथवा प्रबोध द्वारा निष्कपटता व्याख्याता में न आई हो तब तक वह व्याख्या करने का पूरा अधिकारी नहीं है।

व्याख्या और आलोचना दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं। व्याख्या आलोचना से पहले आती है। आलोचना कृति को पढ़ती है, फिर उसे ध्यान में रखती है, और तब उसके गुणों और दोषों पर अपना निर्णय देती है। व्याख्या उस कृति में जिस की वह व्याख्या करती है; प्रवेश कर जाती है और कृति के प्रबुद्ध ग्रहण से परे नहीं जाती। व्याख्या कलाकार की चित्तसृष्टि का पुनर्निमाण करती है, आलोचना ऐसी चित्तसृष्टि पर निर्णय देती है। व्याख्या तुलना से दूर रहती है, और यदि वह तुलना का प्रयोग करती है तो उसे कृति के प्रबुद्ध ग्रहण का एक साधन मानती है; आलोचना तुलना का बराबर उपयोग करती है, उसका एक उद्देश्य यह होता है कि देखें कि प्रस्तुत कृति दूसरी सदृश कृति से ज्यादा अच्छी है या बुरी है। व्याख्या ग्रहण शील होती है, वह नवीन अनुभव को स्वीकार करती है; आलोचना क्रियाशील होती है, वह पुराने और नवीन साहित्य को वर्तमान मानदण्डों से जाँचती है और भविष्य के मानदण्डों के लिये आधार अन्वेषण में सावधान रहती है और यह भी निश्चित करती है कि आगे साहित्य निर्माण कैसे होगा। निस्संदेह आलोचना व्याख्या से अधिक अग्रग है परन्तु वह संकुचित क्षेत्र में काम करती है। यदि आलोचना को किसी परम सुन्दर कृति का सामना करना पड़ता है तो उसकी क्रिया शांत हो जाती है; इसके अतिरिक्त व्याख्या प्रत्येक कृति का इस प्रत्याशा से आलिङ्गन करती है कि उससे ऐक्य प्राप्त कर अत्यानंद का अनुभव करे।

व्याख्या की भारतीय पद्धति भी विचारणीय है। जैमिनि कृत दर्शन में जिसे पूर्व मीमांसा कहते हैं, वाक्य, प्रकरण, प्रसंग या ग्रन्थ का तात्पर्य निकालने के बहुत सूक्ष्म नियम और युक्तियाँ दी गई हैं। मीमांसकों का यह श्लोक सामान्यतः तात्पर्य निर्णय के लिये प्रसिद्ध है :—

उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥

अर्थात् तात्पर्य-निर्णय के लिये सात बातें साधन स्वरूप हैं: उपक्रम अर्थात् आरंभ; उपसंहार अर्थात् अंत: अभ्यास अर्थात् बार-बार कहना, अपूर्वता अर्थात् नवीनता, फल अर्थात् ग्रन्थ का बताया गया हुआ परिमाण या लाभ; अर्थवाद नवीनता, किसी बात को चित्त में दृढ़ कर देने के लिये दृष्टान्त, उपमा, इत्यादि के रूप में जो कहा जाय और जो मुख्य बात के रूप में न हो; और उपपत्ति अर्थात् साधक प्रमाणों द्वारा सिद्धि। किसी ग्रन्थ का निर्माण, निर्माता अपने मन में कोई हेतु रखकर करता है। जब उस हेतु की सिद्धि हो जाती है तो ग्रन्थ समाप्त हो जाता है। ग्रन्थ के सब तत्त्व हेतु से निर्णीत होते हैं। इसी से आदि में अंत और अंत में आदि की झलक स्पष्ट होनी चाहिये। सम्बन्धतत्त्वों की तार्किक शृंखला होनी चाहिये। एरिस्टॉटल ने करुण के निर्माण के विषय में कहा है कि उसमें आदि, मध्य और अंत होने चाहिये। इन तीनों की परिभाषा उनमें इस प्रकार की है। आदि वह है जिसके पहले कुछ न हो पर पीछे कुछ हो; मध्य वह है जिसके पहले कुछ हो और जिसके पीछे भी कुछ हो और अंत वह है जिसके पहले कुछ हो और जिसके पीछे कुछ न हो; तीनों में और तीनों के संहृत तत्त्वों में अनुक्रम अनिवार्य हो। बस इसी प्रकार का निर्माण प्रत्येक श्रेष्ठ ग्रन्थ का होता है और उसकी व्याख्या के लिये उपक्रम और उपसंहार पर भलीभाँति विचार करना चाहिये। इनके पश्चात् अभ्यास अथवा पुनरुक्ति-स्वरूप पर विचार करना चाहिये। अच्छा लेखक प्रतिपादित विषय को बार-बार पाठक के सम्मुख लाता है जैसे सिनेमा स्टार को खेल में चित्रपट पर बार-बार दिखाया जाता है। पुनरुक्ति एक शब्द द्वारा हो सकती है या वाक्यांश या वाक्य द्वारा हो सकती है जिससे भी ग्रंथकार के मन की मुख्य बात स्पष्ट हो। इस पुनरुक्त शब्द अथवा वाक्यांश अथवा वाक्य को पकड़ लेना तात्पर्य-निर्णय में बहुत सहायक होता है। चौथा विचार अपूर्वता का है। कोई ग्रंथकार कुछ न कुछ नई बात कहना चाहता है। पुरानी बातों को दोहराना और उनसे एक पुस्तक निर्मित कर देना तो बहुत ही निम्न श्रेणी के लेखकों का काम है। अत: ग्रन्थ का सार समझने के लिये उसकी विशेषता अथवा नवीनता पर भी ध्यान देना चाहिये। पाँचवा विचार फल का है। जिस परिमाण अथवा लाभ के लिये ग्रन्थ लिखा है उससे भी ग्रंथ का आशय व्यक्त होता है। एरिस्टॉटल कहता है कि सब वस्तुओं के, चाहे वे प्रकृति द्वारा बनी हों चाहे कला द्वारा, भौतिक (मैटीरियल) कारण, प्रत्ययनिष्ठ (फौरमल) कारण, कार्यक्षम (एफ़ीशैंपट कारण और अंतिम (फ़ायनल) कारण होते हैं। उदाहरणार्थ मनुष्य का निर्माण, पहले वह वस्तु जिससे गर्भावस्थाविकास शुरू होता है, दूसरे प्रत्यय अथवा विशिष्ट प्रतिरूप जिसके अनुरूप भ्रूण अर्थात् गर्भस्थ बच्चा विकसित होता है, तीसरे जनन क्रिया, और चौथे इस क्रिया का फल अर्थात् एक नये मनुष्य का उत्पादन। गोकि दार्शनिक विचार वस्तुओं के यह चार कारण निश्चित करता है, साधारणतः पिछले दो को दूसरे में समावेश कर देते हैं। और वस्तु निर्माण

के दो ही कारण सिद्ध होते हैं : भौतिक और प्रत्ययनिष्ठ। भारतीय व्याख्या का साधन स्वरूप फल एरिस्टॉटल का चौथा कारण है। प्रतिपादित वस्तु को बताकर भी ग्रंथकार "प्रतिपादन के प्रवाह में दृष्टान्त देने के लिये, तुलना करके एकवाक्यता करने के लिये, समानता और भेद दिखलाने के लिये, प्रतिपक्षियों के दोष बतला कर स्वपक्ष का मंडल करने के लिये अलंकार और अतिशयोक्ति के लिये और युक्तिवाद के पोषक किसी विषय का पूर्व इतिहास बतलाने के लिये, और कुछ वर्णन भी कर देते हैं।" यह सब आगंतुक अविषयान्तर बातें केवल गौरव के लिये या स्पष्टीकारण के लिये होती हैं। इनका सिद्धान्त पक्ष के साथ कोई घना संबंध नहीं होता। ग्रंथकार इनके विषय में इस बात की भी परवाह नहीं करता कि यह सत्य हैं या असत्य। इन सब बातों को ही अर्थवाद कहते हैं और तात्पर्य निर्णय करने में इन्हें छोड़ देते हैं। अर्थवाद के पश्चात् उपपत्ति की ओर ध्यान दिया जाता है। किसी विशेष बात को सिद्ध करने के लिये बाधक प्रमाणों का खंडन करना और साधक प्रमाणों का तर्कशास्त्रानुसार मंडन करना उपपत्ति कहा जाता है। अर्थवाद से आनुषंगिक और अप्रधान विषयों का निश्चय हो जाता है, और उपपत्ति से हेतु द्वारा प्रस्तुत विषयों का निश्चय हो जाता है। इस प्रकार उपक्रम और उपसंहार दोनों के बीच का मार्ग अर्थवाद और उपपत्ति परिष्कृत कर देते हैं और तात्पर्य का निर्णय हो जाता है।

इन सिद्धान्तों की व्यापकता असंदिग्ध है। पाश्चात्य वाग्मिता और साहित्यशास्त्रों में प्राचीन काल से ही निर्माण और व्याख्या के नियम बड़े विस्तार से दिये गये हैं उल्लेखनीय एरिस्टॉटल की 'रेट्रिक' और क्विण्टीलियन की 'इन्स्टीट्यूट्स ऑफ ऑरेटरी' हैं।

## २

जब किसी कृति की व्याख्या के लिये व्याख्याता लेखक के समय के इतिहास का तथा उससे पहले के इतिहास का सहारा लेता है तो उसकी व्याख्या पद्धति ऐतिहासिक कहलाती है।

साहित्य, सामाजिक उत्पादन है। यह उस काल के जीवन को प्रतिबिंबित करता है जहाँ से उसका उद्गम होता है; काल की सूक्ष्मतर आत्मा को प्रतिबिंबित करता है, उसके स्थूल भौतिक वातावरण को नहीं। ऐसे प्रेरक हेतु जो काल की आर्थिक, राजनैतिक, और दार्शनिक पूर्वधारणाओं से निश्चित होते हैं साहित्य में नग्न प्रदर्शित किये जाते हैं। उदाहरणार्थ, एडवर्ड तृतीय के दरबार की रोमान्सवादी आदर्शवादिता तत्कालीन गिरजाघरों के दुराचार, और संस्कृत प्राधान्यवाद (ह्यूमैनिज्म), ये सभी प्रकृति और गृहस्थ जीवन सौन्दर्य की वर्धित चेतना में [illegible] हैं, चॉसर की कविता में स्पष्टतया अनुपादित हैं, एलीज़ेबेथ काल के साहित्य में अंग्रेजों की अभिभूत देशभक्ति भावना ही की छाया नहीं मिलती वरन्

उनकी आत्मा के उस विस्तार की भी जो पुनरुत्थान काल के धार्मिक सुधार, आविष्कृत छापेखाने द्वारा ज्ञान के प्रचार, और प्रदेशाख्यापन के प्रभावों से हुआ; पुनरानयन ( रेस्टोरेशन ) काल के साहित्य की गिरी हुई नैतिक ध्वनि चार्ल्स द्वितीय के दरबारियों की वास्तविकता और उनके व्यभिचार की द्योतक है, और उसकी नीरसता इस बात की कि प्रजा गंभीर उद्देश्यों से पूर्णतया उदासीन थी; रूसो के क्रान्तिकारी प्रकृतिवाद, जर्मनी के बोधातिरिक्त तत्त्वज्ञान और भूत के पुनःप्रवर्तन के प्रभाव उन्नीसवीं शताब्दी के रोमांसिक ( रोमाण्टिक ) साहित्य में भली प्रकार देखे जा सकते हैं, विक्टोरिया के काल का साहित्य प्रजातंत्रवाद की वृद्धि, मानवहित प्राधान्यवादी ( ह्यूमैनीटेरियनिज्म ) उत्साह विज्ञान की प्रगति और उसका धर्म से संघर्ष जीवन की वर्धमान जटिलताएँ और उनको सुलझाने की योजनाएँ और कला के पुनर्जन्म से अनुप्राणित है; और स्वमतासक्ति और विश्वास के विनाश से आई बेचैनी और घबराहट, विभिन्न प्रिय मतों की निष्फलता, और प्रतियोगी सत्यों के दावे आज कल के साहित्य में प्रदर्शित हैं।

प्राचीन संसार में साहित्य को तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक दशाओं से सम्बद्ध करने के प्रयास हुए थे। होमर कहता है, "दासता का दिन हमारे आधे गुण हमसे छीन लेता है। स्वामी दास के प्रति चाहे जितनी उदारता से व्यवहार करे, दासता आत्मा की संकीर्णता और उसकी निष्क्रियता का कारण होती है।" कोई दास न तो सुलेखक हो सकता है, न सुवक्ता, प्रजातंत्रवाद सब महान गुणों की खान है, शक्तिशाली साहित्यकार स्वतंत्र शासन में ही अपना यौवन प्राप्त करते हैं और उसके समाप्त होते ही अंत हो जाते हैं—यह प्राचीन जगत की जनता की आम पुकारें थीं। टैसीटस साहित्य कला को स्वातंत्र्य की पोष्यपुत्री कहता है। लॉञ्जायनस भी अपने समय में महान साहित्य के अभाव पर दृष्टि डालता हुआ मानता है कि इसका कारण प्रजातंत्रवाद से जो उत्तेजना मिलती है उसका अभाव हो सकता है, परन्तु वह जातिगत सांसारिक धंधों में लिप्तता को अधिक बलवान कारण समझता है। आधुनिक संसार में भी उस प्रभाव का अच्छा अध्ययन हुआ है जो ऐतिहासिक परिस्थितियों का साहित्य पर पड़ता है। बेकन के साहित्यिक इतिहास के विषय में बड़े ऊँचे विचार हैं। साहित्यिक इतिहासकार, उसके मतानुसार, साहित्य रचना को उसके उद्गम राजनीतिक और धार्मिक जीवन से संबंधित करता है, और साहित्य के विकास में प्रत्येक काल की प्रतिभा को चित्रित करता है। मिल्टन शास्त्रीय विचार को फिर से दृढ़ करता है कि राजनीतिक स्वातंत्र्य महान साहित्य के उत्पादन के लिये अति आवश्यक है। ड्राइडन का कथन है कि प्रत्येक जाति अथवा काल की अपनी प्रतिभा होती है, जलवायु का भी मनुष्य स्वभाव पर प्रभाव पड़ता है, और मनुष्यों की मानसिक वृत्तियाँ भिन्न-भिन्न कालों और स्थानों में भिन्न-भिन्न होती हैं और इसी विभिन्नता से रुचि और कला में विभिन्नता आती है। हॉब्स साहित्यिक रूपों का ऐतिहासिक विवरण देता है। वे वाह्य जगत के विभागों से निर्दिष्ट होते हैं : महाकाव्य और दुखान्त राजदर-

चारी जीवन से, सुखान्त और भी व्यंग्यपूर्ण कविताएँ नागरिक जीवन से, और जानपदकाव्य ( पैस्टोरल ) ग्राम्य जीवन से। उसका यह भी तर्क है कि शैली के तत्त्व मानवाचार के परिचय से आते हैं—मनुष्य स्वभाव के विशद, स्पष्ट, और घनिष्ट, ज्ञान से शैली में उपयुक्तता और वैशद्य आते हैं और चरित्र-चित्रण में औचित्य आता है; मनुष्य स्वभाव के विस्तृत ज्ञान से अभिव्यंजना में अपूर्वता और वैचित्र्य आते हैं। कारलायल की साहित्यालोचना का प्रधान रस ऐतिहासिक है; कविता जीवित इतिहास है, और कवि की निष्पत्ति उसके अपने इतिहास और जाति के इतिहास से होती है। मैथ्यू आर्नल्ड कहता है कि उत्कृष्ट साहित्य के उत्पादन के लिये मनुष्य की शक्ति अथवा प्रतिभा ही पर्याप्त नहीं है वरन् साथ ही साथ शक्तिवान् अथवा प्रतिभाशाली लेखक का जीवन ऐसे काल में हो जिसमें उत्कृष्ट भावों और विचारों का असामान्य मात्रा में संचार हो। संचारित भावों और विचारों की शक्ति को वह कालशक्ति कहता है। अपने पक्ष की पुष्टि में वह यूनान के पिण्डार और सौफोक्लीज़ और इङ्गलैण्ड के शेक्सपिअर के उदाहरण देता है। तीनों के महान् कवि होने का कारण यही है कि उनके समय के यूनान और इंगलैण्ड में ऐसे भावों और विचारों का संचार था जो रचनात्मक शक्ति के लिये उच्चतम परिमाण में पोषक और जीवनप्रद होते हैं। इसके विपरीत वह जर्मनी के हीन और इंगलैण्ड के बायरन की ओर संकेत करता है जो महान पद पाने में निष्फल रहे क्योंकि पहले कवि के संबंध में मानुषिक शक्ति और दूसरे कवि के संबंध में कालशक्ति का अभाव था। फ्रिरैड्रिक श्लैजिल उन चार शक्तियों का जिक्र करता है जो मनुष्यों को संबद्ध करती हैं और उनको और उनकी प्रकृतियों को निर्दिष्ट करती हैं, धन और व्यापार की शक्ति, राष्ट्रशक्ति, धर्मशक्ति, और प्राज्ञशक्ति। सबसे पिछली शक्ति को वह साहित्य मानता है। साहित्य उसकी राय में किसी जाति के प्राज्ञ जीवन का सर्वाङ्गी सार है। फलतः उसका निर्णय यही है कि साहित्यालोचन मनुष्य के प्राज्ञ जीवन के अध्ययन के अतिरिक्त कोई दूसरी बात नहीं है। टी० एस० इलियट का विचार है कि किसी काल की आलोचनात्मक शैली उस काल की सांस्कृतिक दशा से निश्चित होती है और इसी कारण से प्रत्येक नया काल अपनी आलोचना आप लिखता है और लेखकों और उनकी कृतियों के मूल्याङ्कन के लिये नये निर्देश देता है।

इस विषय में अंग्रेजी साहित्य के फ्रेंच इतिहासकार टेन का महत्त्व इतना भारी है कि हम उसका अलग से जिक्र करते हैं। वह ऐतिहासिक पद्धति का केवल स्पष्टीकरण ही नहीं करता वरन् उसका विस्तृत प्रयोग भी करता है। प्रत्येक कृति में उसके लेखक की भावात्मक और विचारात्मक रूढ़ि सुरक्षित रहती है। यदि हम लेखक के जीवन को भलीभाँति समझ लें तो उसकी कृति में सुरक्षित उसके भाव और विचार भलीभाँति समझ में आजायें। बस लेखकों का ऐतिहासिक अध्ययन आलोचना का परम कर्तव्य है। इतिहास को प्राणिशास्त्र की तरह अविकल रूप में लिया जाता ही नहीं है। पुनर्निचरण (रैवोल्यूशन) से धारणा

(कनसेशन) अथवा संकल्प रैजोल्यूशन की ओर जाना ही मानसिक विकाश का नियम है और पुनश्चित्रण से धारणा अथवा संकल्प की ओर जाने की क्रिया की विभिन्नता से ही मनुष्य स्वभाव की विभिन्नता निर्दिष्ट होती है। पुनश्चित्रण से धारणा अथवा संकल्प की ओर जाने की क्रिया की विभिन्नता तीन शक्तिओं से निश्चित होती हैं : जाति, परिस्थिति, और विशिष्ट काल। जाति से तात्पर्य उन जन्मजात और पैतृक प्रवृत्तियों से है जिन्हें लेकर मनुष्य इस जगत में पैदा होता है और जो शारीरिक निर्माण और मानसिक स्वभाव की विभिन्नता में निहित रहती हैं। यह प्रवृत्तियाँ जाति-जाति में भिन्न होती हैं। आर्यजाति की प्रवृत्तियाँ मुगल जाति की प्रवृत्तियों से और मुगल जाति की प्रवृत्तियाँ आर्य जाति अथवा सैमाइट जाति की प्रवृत्तियों से भिन्न मिलेंगी यद्यपि यह जातियाँ पृथ्वी के विस्तृत क्षेत्रों में फैली हुई हैं और अनेक उपजातियों में विभक्त हो गई हैं। आर्य जाति गंगा नदी से लेकर हैब्रीडीज द्वीपों तक फैली हुई है और उसकी उपजातियाँ विभिन्न देशों की जलवायु से और हजारों वर्षों की क्रान्तियों से एक दूसरी से भिन्न हो गई हैं तो भी वह अपनी भाषाओं, धर्मों, साहित्यों, और दर्शनों में रक्त और बुद्धि की समानता प्रदर्शित करती है। आद्य प्रवृत्तियाँ भौतिक और सामाजिक दशाओं से प्रभावित होती हैं। इन्हें टेन परिस्थिति कहता है। परिस्थिति और स्वभाव दोनों बहुत काल तक साथ-साथ क्रियाशील होकर ऐसे विचार, भावगतियाँ और स्फूर्तियाँ उत्पन्न करते हैं जो उस उपजाति की विशेषताएँ हो जाती हैं जिसमें वे विकसित होती हैं। आर्य जाति के स्वभाव की विभिन्नता जैसे जैसे वह भिन्न दशाओं में निर्णीत हुई उदाहरणीय है। जर्मन उपजाति में, जिस का निवास ठण्डे, आर्द्र देश में, ऊबड़ खाबड़ दलदले जंगलों में, अथवा एक प्रचण्ड महासागर के तट पर हुआ, हिंसा, अतिभक्षण और मदिरापान लड़ने और खून बहाने की प्रवृत्तियाँ आ गई हैं; यूनानी उपजाति ने जो रम्य प्रदेश में और चमकीले मनोहर समुद्रतट पर रहती आई है और जो सदा शांतिमय उद्यम में संलग्न रही है, कलात्मक और वैज्ञानिक स्वभाव की वृद्धि की है; जिस राष्ट्रनीति ने इटली की एक सभ्यता को लोलुप बनाया उसी ने दूसरी सभ्यता को विलासप्रिय बनाया; चिरकालीन अविरत आक्रमणों से निष्पन्न सामाजिक दशाओं ने हिंदुओं के मस्तिष्क में त्याग, अहिंसा, और विश्वव्यापी असारता के भाव भर दिये हैं; आठ शताब्दियों के राजनीतिक संस्थापन ने अंग्रेजों को उच्छ्रित और आदरणीय, स्वतंत्र और आज्ञाकारी और सार्वजनिक कल्याण के लिये सन्नद्ध बना दिया है। किसी जाति के लिये परिस्थिति वही काम करती है जो किसी व्यक्ति के लिये शिक्षा, जीवनवृत्ति और निवास स्थान। परिस्थिति में इन सब बाह्य शक्तियों का समावेश है जो मानव पदार्थ को रूप देती हैं। जाति और परिस्थिति की शक्तियों के अतिरिक्त एक तीसरी शक्ति है जो मानव मात्र के लिये सहायक होती है। इसे टेन, युग ( एपोक ) कहता है। यह शक्ति पहली दोनों शक्तियों से प्राप्त दशा के परिणाम रूप में प्रकट होती है। किसी विशेष समय तक

जो प्रगति हुई है उसका प्रभाव राष्ट्रीय प्रतिभा और परिस्थिति के प्रभावों से मिल जाता है, और यह सम्मिश्रित प्रभाव रचनात्मक मन को एक विशेष झुकाव और निर्देश दे देता है। कौर्निल के समय का फ्रान्सीसी दुखान्त वौल्टेअर के समय के दुखान्त से भिन्न है; एसकीलस के समय का यूनानी नाटक यूरीपीडीज़ के समय के नाटक से भिन्न है; डा० विन्साई के समय की इटली की चित्रकला गाइडो के समय की चित्रकला से भिन्न है। इसका कारण यही है कि यद्यपि दुखान्त का मूल स्वभाव अपरिवर्तित रहा है, उत्तराधिकारी को अग्रगामी लेखक की कृति का लाभ मिला है। उलटी तरह से यों समझ सकते हैं कि शेक्सपिअर आर्यों की उसी उपजाति का व्यक्ति होता हुआ और उसी प्रदेश में निवास करता हुआ यदि बीसवीं शताब्दी में पैदा होता तो वह उस तरह का नाटक न लिखता जैसा कि उसने सोलहवीं शताब्दी के अंत और सतरहवीं शताब्दी के आरम्भ में लिखा; युग प्रभाव से उसकी प्रतिभा और तरह की हो जाती। यह तीनों शक्तियाँ, जाति अथवा आन्तरिक शक्तिप्रभाव, परिस्थिति अथवा वाह्य बल, युग अथवा प्राप्त गतिवेग, सभी संभावित अथवा वास्तविक कारण हैं जिनसे मनुष्य की सांस्कृतिक प्रगति निश्चित होती है। टेन का मत है कि इन से परे और चौथी कोई शक्ति नहीं जिस से मनुष्य प्रभावित होता हो।

इन सिद्धान्तों का विवरण टेन अपनी 'हिस्ट्री ऑफ इंग्लिश लिटरेचर' की भूमिका में देता है। ये सिद्धान्त सर्वांगी नहीं हैं। यह विस्तृत, व्यापक, और निर्मायक शक्तियाँ जो मनुष्यों को आगे बढ़ाये लिये जाती हैं पर्याप्त नहीं हैं; प्रत्येक मनुष्य में एक ऐसा विशिष्ट गुण भी पाया जाता है जिसके कारण वह विचित्र और अनवगम्य होता है; और इसी विशिष्ट गुण से मनुष्य के व्यक्तित्व में वह अद्भुत विशेषता आ जाती है जिसका आविर्भाव ही साहित्य का प्रधान आकर्षण है। टेन ने इस पर ध्यान न देने से अपने अंग्रेज़ी साहित्य के इतिहास को दोषपूर्ण बना लिया। टेन क्रम से प्रत्येक काल की प्रतिनिध्यात्मक कृतियों और लेखकों का अध्ययन करता है, और उसकी सर्वोत्तम आलोचनाएँ अपने सिद्धान्तों की उपेक्षा में ही हैं।

व्याख्यात्मक आलोचक ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग साहित्य समझने के लिये करता है। वह इस पद्धति को वैज्ञानिक की तरह इस्तेमाल नहीं करता कि साहित्य के समाजशास्त्र विषयक तथ्य समझे और उन तथ्यों में निविष्ट हेतुओं की खोज करे। इस प्रकार की हेतुसिद्धि उसका मुख्य कर्त्तव्य नहीं है, यद्यपि अपने उद्देश्य की ओर बढ़ता हुआ वह यह भी कर सकता है। उसकी धारणा तो यह होती है कि समस्त साहित्य में जो पुराने समय से वर्त्तमान समय तक आया है, एक अनुभवी आत्मा दूसरी से समय की वृहत् खाड़ी पार करती हुई बोलती है। इस आत्मा के ठीक तात्पर्य को वह कल्पनात्मक सहानुभति की सहायता से ही उसके समय के जीवन का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके समझ सकता है।

अतः ऐसी दैविक सहानुभूति की वृद्धि से वह उन सर्वव्यापी शक्तियों का अध्ययन करता है जिनके खेल में पुरानी आत्माओं ने अपने मनों और कल्पनाओं में उस समय पृथ्वी और आकाश की एक विशिष्ट चित्तसृष्टि का निर्माण किया था।

३

साहित्य आगामी पाठकों के आनन्द के लिये प्रतिभाशाली लेखकों की भावनाओं का संचय करता है। इन भावनाओं की विशेषता निश्चित करने के लिये सर्वव्यापी शक्तियों का मूल्याङ्कन ही पर्याप्त नहीं है। जाति, परिस्थिति, और युग—यह तीनों सर्वव्यापी शक्तियाँ कृति में साहित्यकार के व्यक्तित्त्व द्वारा पुंजीभूत होती हैं। व्यक्तित्त्व द्वारा ही रचनात्मक प्रयास में रचना की सिद्धि होती है, और व्यक्तित्त्व का विकास जीवन द्वारा होता है, इसलिये साहित्यकार के जीवन का ज्ञान आवश्यक हो जाता है। जीवनचरित संबंधी व्याख्या पद्धति ऐतिहासिक व्याख्या पद्धति को पूर्ण करती है।

साहित्य का जीवनचरित संबंधी अध्ययन हाल ही में हुआ है। मध्यकालीन लेखक अधिकांश निम्न वर्ग के होते थे। और उनका कार्य प्राचीन सत्यों और परम्पराओं का संप्रेषण होता था। अतएव उनकी कृतियों और उनके जीवन में कोई महत्त्वपूर्ण संबंध नहीं होता था। सोलहवीं शताब्दी में जब साहित्य का पुनरुत्थान हुआ, तब ऐसे लेखकों की संख्या बढ़ी जिन्होंने साहित्य में अपनी स्वतन्त्र जीवन व्याख्या और जीवन दृष्टि व्यक्त की और ऐसे लेखकों की संख्या की वृद्धि के साथ-साथ ही लेखकों के जीवनचरित में रुचि बढ़ी। फिर भी आदि के जीवनचरितकार, वाल्टन, फ़ुलर, एडवर्ड फ़िलिप्स, ऑब्रे, वुड, ओल्ड्स, और किवर, कवियों के जीवन की मनोरंजक सामग्री के रूप में ही प्रयोग करते हैं। कभी-कभी तो वे कवियों के विषय में बड़ी अमूल्य सूचना देते हैं, परन्तु ज्यादातर उल्लिखित बातें तुच्छ, ऊपरी, और आकस्मिक होती हैं; ऐसी बहुत कम होती हैं जो गौरवपूर्ण, आभ्यंतर, और सारभूत हों और उनकी कृतियों पर प्रकाश डालती हों। आशानुसार ड्राइडन असाधारण है। उसके लिखे हुए लूशियन और प्लूटार्क के जीवनचरितों में जीवनचरित और आलोचना का वह अपूर्व सम्मिश्रण मिलता है जो डॉक्टर जॉनसन की आलोचना की विशेष देन है। अपने प्रस्तावनात्मक कथनों में भी पहले पहल वह ही उन प्रभावों का निरूपण करता है जिनसे साहित्यिक व्यक्तित्त्व बनता है। 'फ़ेब्ल्स' के प्राक्कथन में वह लिखता है, "मिल्टन स्पैंसर का सच्चा काव्यमय पुत्र था, और मिस्टर वॉलर, फ़ेअरफ़ैक्स का, क्योंकि हम कवियों की भी जाति, परिवार, और वंशपरम्परा वैसी ही होती हैं जैसी और लोगों की। स्पैन्सर अनेक बार संकेत देता है कि चॉसर की आत्मा उसके शरीर में निविष्ट थी और चॉसर ने अपनी मृत्यु के दो सौ वर्ष बाद उसे जन्म दिया।" जैसा पहले संकेत कर चुके हैं जॉनसन की 'लाइव्ज़ ऑफ़ द पोइट्स' में लेखक के जीवन का उसकी कृतियों से निकटतम

संबंध दिखाया गया है। कवियों के जीवन के विषय में जब वह तथ्यों का वर्णन करता है तो वह प्रसंगानुकूल चाहे जितने उपाख्यान दे व्यर्थ के प्रलाप में नहीं पड़ता; उनके चरित्रों का विश्लेषण सारपूर्ण होता है, और यदि जॉनसन के आलोचनात्मक संप्रदाय का ख्याल न करें, उनकी कृतियों की आलोचना न्यायपूर्ण होती है। जॉनसन हैजलिट जैफ्रे, हैलप, मैकौले, कार्लायल और अन्य ऐसे आलोचकों तथा लेखकों का पथप्रदर्शक है जिन्होंने लेखकों के जीवन को उनकी कृतियों की टीका-टिप्पणी माना है।

आलोचना की जीवन चरित संबंधी पद्धति के प्रतिपादन में सेएट ब्यूव का वही स्थान है जो ऐतिहासिक पद्धति के प्रतिपादन में टेन का स्थान है। दोनों व्याख्यात्मक विवरण में एक सी उपयुक्तता और विद्वत्ता का प्रदर्शन करते हैं। सेएट ब्यूव को अपनी जीवन चरित संबंधी पद्धति को वैज्ञानिक विस्तार देने की सूझ नवशास्त्रीय मत के विच्छेद से हुई, जब कि आलोचकों ने सब नियमों का परित्याग कर दिया था और आलोचनात्मक संसार में कोलाहल मच गया था। कलाकार ने वाह्य प्रमाण अथवा निर्देश का सहारा बिल्कुल छोड़ दिया और अपनी प्रतिभा ही को अपनी काव्य रचना का नियम समझने लगा। आलोचक ने भी अपने विचारों को कलाकार के अनुरूप कर लिया। आत्मीय रुचि और वैयक्तिक निर्णय में उसे पूर्ण आश्वासन मिला। यदि वह उचित समझे तो सार्वजनिक भावना के अनुकूल अपनी आलोचना करे और पठनशील जनता के मंत्री की हैसियत से उसके मत का संपादन करे। यहाँ तक ही रुढ़िगत आलोचना के लिए सेएट ब्यूव की रियासत है। नहीं तो वह रुचि के ऐसे नये मंदिर के निर्माण के पक्ष में है जहाँ किसी वस्तु का बलिदान न हो, जहाँ उचित गौरव का ह्रास न हो न सर्वमान्य अधिकार का वहिष्कार हो, जहाँ, चाहे शेक्सपिअर हो चाहे पोप, चाहे मिल्टन हो चाहे शैली, सब को योग्यतानुसार स्थान मिले। आलोचक का तो कर्त्तव्य यही है कि वह कृति को पढ़े और जाने और अपने पठन और ज्ञान से दूसरे का पठन और ज्ञान सुगम करे। परन्तु कृति का पढ़ना और जानना कृतिकार के जीवन से संबद्ध है। कृति उसी प्रकार कृतिकार का जीवन मूलक विस्तार है जिस प्रकार फल पेड़ का जीवनमूलक विस्तार है। और जैसे फल को जानने के लिये हमें पेड़ का जानना आवश्यक है उसी प्रकार कृति को जानने के लिये हमें कृतिकार को जानना आवश्यक है। कृतिकार के विकास का नियम एक ऐसा नियम है जिसे कृति माने बिना नहीं रह सकती। बस विज्ञान की सहायता से सेएट ब्यूव ने ऐसी प्रणाली का अनुसन्धान किया जिसके द्वारा कृतिकार के जीवन विकास का ठीक-ठीक ज्ञान हो गया।

पहले, टेन की रीति के अनुसार, आलोचक लेखक की जाति और बाह्य परिस्थिति का अध्ययन करे। उसके पूर्वजों उसके माता पिता, उसके भाई बहन, उसके संबंधी और मित्र, उसके गुरु और अध्यापक, उसके काल के महान्

व्यक्ति जिनका प्रभाव सर्वव्यापी होता है—सब का ज्ञान प्राप्त करे। माता-पिता में आलोचक माता की ओर अधिक ध्यान दे क्योंकि प्रतिभाशाली पुरुष माता से पिता की अपेक्षा अधिक प्रभावित होता है। द्वितीयतः आलोचक उस मंडली की ओर ध्यान दे जिसमें उसका विषय उठती जवानी में अपनी स्वतन्त्र इच्छा से बातचीत करता था। यह ऐसा समय है जिसमें होनहार लेखक की प्रतिभा खुलती है, जिसमें भावों के अंकुर जमते हैं, और जिसमें मस्तिष्क, मस्तिष्क की ओर आकर्षित होता है। मित्र मंडली की काव्यगोष्ठी में भावों और विचारों का जल्दी जल्दी आदान प्रदान होता है और समान योग्यता के कारण मनों में प्रतिस्पर्धा जागृत होती है, प्रतिभाशाली युवक समझ लेता है कि उसकी रुचि किस प्रकार की है और उसके अनुरूप अपने आंतरिक गुणों के विस्तार के लिये मार्ग ढूँढ़ निकालता है। मित्र मंडली कोस के प्रभाव को सेण्ट ब्यूव बड़े महत्त्व का बताता है, वह वृन्द ( ग्रूप ) कहता है और उसकी परिभाषा इस प्रकार करता है; "मैं वृन्द से चतुर मनुष्यों के उस आकस्मिक और कृत्रिम समुदाय को नहीं समझता जो किसी उद्देश्य पर सहमत होते हैं। मेरा वृन्द से मतलब उस स्वाभाविक और स्वेच्छित साहचर्य का है जिसकी ओर ऐसे नये मस्तिष्कों और नये कौशलों की प्रवृत्ति होती है जो न तो एक दूसरे के बिल्कुल सदृश्य होते हैं और न बिल्कुल एक जाति के होते हैं परन्तु एक ही नक्षत्र में पैदा होकर एक सी उछल और उड़ान दिखाते हुये उद्यम और रुचि की विभिन्नता के साथ साथ एक ही कार्य में संलग्न होते हैं। वृन्द का महत्त्व भारतीय काव्य मीमांसा में भी माना गया है। राजशेखर ने इसे काव्य की एक माता माना है। उपयोगी विद्याओं तथा उपविद्याओं के पठन और अनुशीलन के अतिरिक्त कवि की रुचि सत्संग, देशज्ञान, लोकव्यवहार, विदग्धवाद, और विद्वानों की गोष्ठी की ओर होनी चाहिये। कवि की दिनचर्या में दोपहर के भोजन के बाद काव्यगोष्ठी के अधिवेशन में कवि को सम्मिलित होने की राय दी गई है। अंग्रेज़ी साहित्य के इतिहास में ऐसे वृंद विख्यात हैं जिन्होंने अपने समय के प्रतिभाशाली लेखकों को काव्य के सिद्धान्तों से विवाद द्वारा परिचित किया, पहला वृंद सतरहवीं शताब्दी के आदि में मर्मेड टैवर्न का था और दूसरे वृंद कॉफीहाउजेज़ में एकत्रित विद्वानों के थे। पाश्चात्य टेब्लटॉक्स और सिम्पोजिया उपर्युक्त भारतीय काव्यगोष्ठी के प्रतिरूप हैं। तृतीयतः व्याख्यात्मक आलोचक को लेखक के प्रथम काव्यात्मक अथवा आलोचनात्मक केन्द्र का अध्ययन करना चाहिये। इस केन्द्र को सेन्टब्यूव वह गर्भाशय बताता है जिसमें लेखक अपना रूप धारण करता है। कोलरिज ने शेक्सपिअर के व्यक्तित्त्व को समझने के लिये उसकी पहली दोनों कृतियों 'वीनस एण्ड एडोनिस' और 'ल्यूक्रेसी' को उसका काव्यात्मक केन्द्र माना। इन दोनों में हमें शेक्सपिअर दौर्बल्य का साक्ष्य ही नहीं मिलता कि कहाँ किसकी स्वच्छन्द कल्पना की गति अवरुद्ध होती है, कहाँ वह केवल भरने के लिये अलंकार की अवांछनीय प्रवृत्ति दिखाता है, कहाँ कहाँ उसकी व्यञ्जना अनियंत्रित

हो जाती है, उसके रूपक कृत्रिम हो जाते हैं और वह स्वयं अतिशयोक्ति के हाथ में विवश हो जाता है; किन्तु इन्हीं में हमें उसकी शक्ति का भी साक्ष्य मिलता है कि उसकी प्रतिभाएँ कितनी सुस्पष्ट हैं, उसका आवेग कैसा व्याप्त है, और उसके विचार कितने गहरे और प्रबल हैं। इन्हीं दोनों कृतियों में हमें शेक्सपिअर के दुखान्त भाव का अंकुर मिलता है कि अनिष्ट दृढ़ाग्रह से होता है : वीनस, बड़ी कामातुर स्त्री, सुन्दर और पवित्र युवक एडोनिस पर आसक्त होकर नाश को प्राप्त होती है; टार्किन ल्यूक्रेसी के सतीत्त्व भंग करने पर उतारू होकर उसकी आत्म-हत्या और अपने निर्वासन का कारण हो जाता है। दोनों दशाओं में काम-चेष्टा का दृढ़ाग्रह ही दुःखमूलक है। शैली का आलोचनात्मक केन्द्र उसकी 'क्वीन मैब' में मिलता है। इस काव्य में जैसा पीछे से 'प्रौमीथ्यूस अनबाउण्ड' से प्रकट है, अनिष्ट का कारण एक ऐसी स्वेच्छाचारी क्रिया माना गया है जिसके निर्मूलन से मनुष्य और प्रकृति दोनों पूर्णता प्राप्त करते हैं। चतुर्थतया, व्याख्यात्मक आलोचक को लेखक के जीवन चरित की प्रगति का अध्ययन करना चाहिये, कब-कब उसको सफलता प्राप्त हुई और कब कब असफलता और उन सफलताओं और विफलताओं का उसकी विचारगति पर क्या प्रभाव पड़ा, इस अध्ययन में आलोचक को लेखक के धार्मिक विचारों पर; उसकी मित्रताओं पर, और प्रकृति प्रेम, और द्रव्य की ओर उसकी भावनाओं पर पूरा ध्यान देना चाहिये। डाउडन ने शेक्सपिअर की रचनाओं का क्रम उसकी बदलती हुई विचारगतियों के अनुसार बड़ी आश्चर्यजनक स्पष्टता के साथ किया है। आदि के हास्य नाटक उल्लसित हास से परिपूर्ण हैं; अगले हास्यों और ऐतिहासिक नाटकों के अंकों में दुर्निग्रह हर्ष का प्रदर्शन मिलता है, इनसे भी अगले करुण नाटक गाढ़ निराशावाद से भरे हुए हैं, और अंत के रोमान्सवादी हास्य जीवन समस्याओं पर स्वच्छ प्रकाश डालते हैं।

किसी लेखक का उपर्युक्त रीति से अध्ययन करने के लिये आलोचक में बहुत से विशेष गुणों की आवश्यकता है। उसमें वैज्ञानिक की जैसी पर्यवेक्षण शक्ति, कलाकार का जैसा अंतरवबोध, और ऋषि की जैसी विषयनिष्ठता होनी चाहिये। इन गुणों से सम्पन्न वह किसी ऐसे सूत्र को न छोड़े जिससे लेखक के व्यक्तित्त्व का स्पष्टीकरण हो। व्यक्ति की परिभाषा ही आलोचक का अंतिम धर्म है। जैसे ही व्यक्ति की परिभाषा निश्चित हुई, उसकी कृति की परिभाषा निश्चित हो जाती है, क्योंकि परिभाषा से कृतिकार की उस व्यक्तिगत शक्ति का पता चल जाता है जो उसकी कृति में प्रवाहित होती है। आलोचक एक ऐसा विशेषज्ञ है जिसमें सब संगत तथ्यों को खोजने और उनकी परीक्षा करने की योग्यता होती है और जो इस योग्यता से साहित्यिक वंशों और जातियों की परम्परा निश्चित कर देता है। सेन्ट ब्यूव ने अपना कर्तव्य इसी तरह समझा। शैतोब्रायां पर अपने निबंध में जहाँ उसकी रीति वर्णित है वह साफ कहता है कि लेखक का व्यक्तित्त्व बिल्कुल नहीं परिभाषित हो सकता है। वह स्वयं शैतोब्रायां को विश्वजनीन कल्पना वाला

भोगासक्त पुरुष कहता है। इसी प्रकार आर्नल्ड शैली को एक ऐसा सुन्दर परन्तु प्रभावहीन देवदूत कहता है जो अंतरिक्ष में अपने परों को व्यर्थ में फड़फड़ाता है। इसी प्रकार मिडिल्टन मरे शेक्सपिअर की प्रतिभा को ऐसे गुण से सम्पन्न मानता है जिसके द्वारा उसे सुख-दुःख, भलाई-बुराई, और सफलता-विफलता सब एक से ग्राह्य थे। हिन्दी में, सूर वात्सल्य और सख्य भाव से शुद्धाद्वैत की भक्ति का चित्रण करता है, तुलसी में दासदैन्य भाव से विशिष्टाद्वैत की भक्ति प्रधान है; और कबीर निर्गुणोपासक होते हुए भी माधुर्य या दाम्पत्य भाव की भक्ति के साथ शुद्धप्रेमनिष्ठ एकेश्वरवादी हठ योगी हैं। काव्यरचनाओं की परिभाषाएँ पहले से ही बड़ी सही हो रही थीं : जैसे होमर के 'इलियड' की मुख्य विचारधारा है कि लड़ाई मनुष्य जीवन का अनिष्ट है; मिल्टन के 'पैरैडाइज़ लॉस्ट' की मुख्य विचारधारा निश्चित भाग्य या मुक्त इच्छाशक्ति की समस्या है जैसे उसके 'पैरैडाइज़ रिगेण्ड' की मुख्य विचारधारा सांसारिक लिप्तता पर आत्मा की विजय है; और गटे के 'फ़ौस्ट' की मुख्य विचारधारा है कि ज्ञान की प्रगति अनिष्टकारी है और उसकी तृष्णा दण्डनीय है। 'महाभारत' में ऐतिहासिककारों की उपासना प्रधान है; "गीता वह नीतिशास्त्र अथवा कर्त्तव्यधर्मशास्त्र है जो ब्रह्मविद्या से सिद्ध होता है," जैसा परमहंस श्रीकृष्णानंद स्वामी के इन शब्दों से स्पष्ट है, "तस्मात् गीतानाम ब्रह्मविद्यामूलं नीतिशास्त्रम्।" और 'रामचरितमानस' में सर्वांगपूर्ण सगुणोपासना का निरूपण है। लेखकों की इतनी सही परिभाषाएँ पहले नहीं होती थीं। आलोचना की इस ओर दृष्टि खींचना सेण्ट ब्यूव की विशेषता है।

सेण्ट ब्यूव ने टेन की आलोचना ठीक की है। वह कहता है कि टेन ने निस्संदेह लेखक की उस शरीर-रचना की नस-नस और रग-रग तक बड़ी निकट परीक्षा की है जिसमें आत्मा का प्रवेश हुआ, जहाँ उसने अपना खेल खेला और अपने व्यक्तित्व का विकास पाया। परन्तु वह प्रतिभा के ज्योतिविन्दु तक पहुँचने में असमर्थ रहा। इस ज्योतिविन्दु को अपने प्रकाश में दिखाने का साहस सेण्ट ब्यूव ने किया। परन्तु सेण्ट ब्यूव की जीवनचरितसंबंधी पद्धति में कई स्वाभाविक कठिनाइयाँ निहित हैं। पहली कठिनाई यह है कि जीवनवस्तु पर इस प्रकार प्रयोग नहीं किया जा सकता जिस प्रकार वैज्ञानिक प्रयोगशाला में प्रकृतिवस्तु पर किया जाता है, न उसके निरीक्षण की वैसी सुविधाएँ हैं। साधारण रूप से देखने में ऐसा भी मालूम होता है कि उक्त पद्धति के अंगों में दोष हैं। पैत्रिक प्रभाव को ही लीजिये। हम जानते हैं कि मार्लो एक मोची का लड़का था; स्पेन्सर का बाप एक जुलाहा था जो दिन प्रतिदिन कपड़ा बेचकर जीवन निर्वाह करता था; बैन जॉन-सन एक राज के घर में पला था; मिल्टन एक मुन्शी का लड़का था; वर्ड्सवर्थ एक ग्रामीण परकार्यसाधक का पुत्र था; और कीट्स का बाप एक परिवेषधारी साईस था। कालिदास एक गरीब ब्राह्मण का लड़का था जिसे छः वर्ष की अवस्था से अनाथ रह जाने के कारण एक बैल हाँकने वाले ने पाला था; कबीरदास ने आदि ग्रन्थ में अपने को जुलाहा लिखा है, "तू ब्राह्मण मैं काशी का जुलाहा बूझहु मोर

गियाना "और सूरदास, तुलसीदास, और मलिक मुहम्मद जायसी सब बड़े दरिद्र घरों में पैदा हुए थे। गॉल्टन अपनी 'हैरैडिटैरी जीनियस' नामक पुस्तक में इस आशय का प्रस्ताव पेश करता है कि प्रतिभाशाली पुरुष के वंश में अवश्य कोई प्रतिभाशाली पुरुष रहा होगा। ऐसा होता है कि प्रतिभा के जीवाणु कई पुश्तों तक विना विकसित हुए प्रवाहित रहें और प्रतिभाशाली पुरुष के माता पिता में प्रतिभा का कोई अप्रच्छन्न चिह्न न दीख पड़े। अकस्मात् प्रतिभावान् पुरुष में प्रतिभा के जीवाणु उचित स्थान पाकर विकसित हो जाते हैं और अपना चमत्कार दिखाने लगते हैं। परन्तु इसकी कोई वैज्ञानिक जाँच नहीं है। फिर आलोचनात्मक परीक्षा की जीवनचरित संबंधी पद्धति ऐसे लेखकों के विषय में विफल होती है जो अपने को अपनी कृतियों में व्यक्त नहीं करते। शैली, ज्यॉर्ज इलियट, और आर० एल० स्टैवैनसन जैसे लेखक अपने जीवन की कृतियों और घटनाओं से समझ में आ सकते है; परन्तु शेक्सपिअर और वर्ड् सवर्थ ऐसे भी लेखक हैं, जो अपनी काव्य-कृतियों से अपने जीवन चरित्रों को बिल्कुल अलग रखते हैं। अंत में जीवचरित-संबंधी पद्धति ऐसे मृत लेखकों के विषय में तो असम्भव ही है जिनके बारे में उनकी काव्यकृतियों के अतिरिक्त हमारे पास कोई किसी प्रकार की सूचना ही नहीं है।

४

कुछ रचनाएँ ऐसी हैं जिनमें मनोवैज्ञानिक अनुराग होता है। हैम्लैट के विषय में अर्नेस्ट जेम्स का मत है कि वह एडीपस ग्रन्थि की क्रियाशीलता के कारण किंकर्त्तव्यविमूढ़ हुआ। उसके आरंभिक मातृप्रेम में एक अव्यक्त कामवासना थी। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् उसे यह देखना असह्य हुआ कि उसके चचा क्लॉडिअस ने उस स्थान को ले लिया जिस पर वह स्वयं होना चाहता था। उसके अचेतन ने अपने पिता की मृत्यु को अपनी माता के पुनर्विवाह से संबंधित कर रखा था। अतः वह अपने चचा को सफल प्रतियोगी पाकर घृणा की दृष्टि से देखने लगता है। स्थिति यह हो जाती है कि वह अपने चचा की खुल्लम खुल्ला भर्त्सना इस डर से नहीं कर सकता कि कहीं अपनी मां की ओर अपनी प्रच्छन्न कामवासना न खोल बैठे, और क्लॉडिअस की हत्या से इस विचार से हिचकने लगता है कि ऐसा करने से उसकी मां को, जिसके प्रति उसका कोमल भाव वर्तमान है, क्लेश हो जायगा। इन वृत्तियों के निरोध का फल संकल्पाघात हो जाता है। विण्डहम लैविस का दृढ़ विचार है कि शेक्सपिअर की दुखान्त रचना में चित्तविक्षेप एक साधारण तत्त्व है, और हैम्लेट, लीअर, ऑथेलो, और टाइमन सब ग्रसित हैं। डाक्टर समरविल ने शेक्सपिअर के पात्रों का बड़ी सावधानी से मनोविश्लेषण किया है और प्रत्येक के विक्षेप को अपनी 'मैडनैस इन शेक्स-पीयरन ट्रैजेडी' नाम की पुस्तक में बड़ी सूक्ष्मता से वर्णित किया है: हैम्लेट ऐसी प्रकृति का [illegible] मनुष्य है जो कभी-कभी असामान्यतः भड़क जाता है और कभी-कभी असामान्यतः शांत हो जाता है; मैक्बैथ शक्ति और महत्त्व के

भ्रम से मतांध है और इसी से उत्ताप की दशा में भूत प्रेत देखने लगता है; ऑथैलो हिजड़ा है और अपनी पेशियों और सैनिक प्रतियोगिता में प्राप्त पुरस्कारों से अधिक प्रेम करता है, डेस्डैमोना से कम; लीअर तीव्र एक चित्तता से रुग्ण है; टायमन को अहंकारोन्माद है और उपदंश रोग का बीमार है। प्रेम तत्त्व के आधिक्य के कारण उपन्यासों और आख्यायिकाओं में मनोविश्लेपण का समावेश अनिवार्य है; रिचार्डसन 'क्लैरिसा हार्लो' में स्त्री चित्त की चंचलता अंकित करता है; एन्थनी ट्रौलोप 'द वार्डन' में एक वृद्ध अध्यक्ष की सद्विवेक बुद्धि का विश्लेपण करता है; मिसिज़ गैस्कल अपने 'रूथ' में वाह्य घटनाओं का आंतरिक विचारों और भावनाओं से संबंध स्थापित करती है; ज्यॉर्ज इलियट डैनियल डिरोंडा के भद्र ज्यू मौर्डिकाई और इसकी मृदु पुत्री मीरा से आकर्षण में अचेतन पैत्रिक प्रभाव का बल दिखाती है; ज्यॉर्ज मैरिडिल अपने उपन्यासों में हमारे अदृश्य जीवन की घटनाओं को हमारी बोधशक्ति के सम्मुख तर्कपूर्ण स्पष्टता से रखता है; आर० एल० स्टीवैन्सन अपने 'मारखेम' और 'डॉक्टर जैकिल एण्ड मिस्टर हाइड' में मानव स्वभाव के द्वित्व का अध्ययन करता है कि कैसे मनुष्य कभी भलाई की ओर और कभी बुराई की ओर प्रवृत्त होता है; शारलौट यंग अपनी पुस्तकों में बड़े घराने की कुमारियों की प्रेमवासना की उत्कृष्ट शोधि वर्णित करती है; और डी० एच० लॉरेन्स जो अपने नायकों के लिये संकल्प सिद्धि का उद्देश्य निर्धारित करता है, जेम्सजॉयस की तरह, उनकी चेतन कल्पनाओं को ही नहीं वरन् उनकी अचेतन उन्मुक्त कल्पनाओं को भी चित्रपट पर लाता है। आज कल मनोविश्लेपण का प्रयोग गद्य कथाओं में बढ़ता ही जाता है और जो अतीत में वाह्य दृश्य का महत्त्व था वह अब आंतरिक दृश्य का महत्त्व होता जाता है। समकालीन उपन्यासकार अपने पात्रों के निर्णयावसरों में मानसिक गति के प्रदर्शन के हेतु इतना परिश्रम करता है कि पुराने उपन्यासकार की तरह वह असंगत घटनाओं के चित्रण से कथा प्रवाह को रोक देता है।

ऐसी कृतियों की व्याख्या जो आंतरिक यथार्थ पर आधारित हैं मनोवैज्ञानिक ही होगी। परन्तु इस प्रसंग में "मनोवैज्ञानिक" संज्ञा का संकेत वस्तु की ओर है, व्याख्या पद्धति की ओर नहीं। पिछले खण्डों में "ऐतिहासिक" और "जीवन-चरित संबंधी" संज्ञाएँ पद्धति की सूचक थीं, वस्तु की नहीं। अतः मनोवैज्ञानिक कृतियों की आलोचना दूसरे अर्थ में मनोवैज्ञानिक समझनी चाहिये। जब संकेत पद्धति की ओर हो तो मनोवैज्ञानिक व्याख्या वह व्याख्या कही जायगी जिसमें कृति का संबंध कृतिकार के मस्तिष्क से स्थापित किया जाता है।

जब से मनोविश्लेपण में अनुराग की वृद्धि हुई तब से मनुष्य स्वभाव के अध्ययन को बड़ी उत्तेजना मिली है। फ्रायड ने तीन प्रकार के स्वभावों का वर्णन किया है; मौखिक, गुदासंबंधी, और जनेन्द्रिय संबंधी। इन तीनों संज्ञाओं की व्युत्पत्ति मुख, गुदा, और जनेन्द्रिय से है जिनके द्वारा मनुष्य अपनी कामवासना तृप्त करता है। फ्रायड काम प्रवृत्ति का उदय यौवन काल नहीं मानता और उसकी

समाप्ति परिवर्तन(क्लाइमक्टैरिक) नहीं मानता। उसकी धारणा है कि बच्चे का जीवन पैदा होने के कुछ दिन पीछे ही लिङ्गमूलक हो जाता है क्योंकि वह माँ का दूध चूसने में आनंद की अनुभूति करता है। फिर उसे गुदा से विष्टा निकालने की क्रिया में आनंद आने लगता है। और फिर धीरे-धीरे उसका आनंद जनेन्द्रिय में संकेन्द्रित हो जाता है, यह यौवन काल में होता है। यदि बच्चे को दूध चूसने में विशेष आनंद आया है तो बड़ा होकर भी वह यह प्रवृत्ति दिखायेगा, यदि उसे गुदा से विष्टा फेंकने की क्रिया में विशेष आनंद आया है तो बड़े होने पर भी वह यह प्रवृत्ति दिखायेगा। बचपन की यह दोनों प्रवृत्तियां यौवन काल में जनेन्द्रिय तृप्ति के साथ मिलकर लिंगमूलक जीवन को उत्तेजित करती हैं। यदि किसी व्यक्ति को बचपन में दूध चूसने में विशेष आनंद आया है तो उसका स्वभाव मौखिक होगा। मौखिक स्वभाव के दो रूप है—यदि उसे चूसने में पूरी तृप्ति हुई है तो वह स्वभाव का मौजी और आशावादी होगा और यदि चूसने में उसे माता के स्वभाव से अथवा उसकी व्यस्तता से रुकावट हुई है तो वह स्वभाव का ग्रहिल और अवलंबी होगा। आम तौर से मौखिक स्वभाव जल्दबाज, अशांत, और अधीर होता है और इन्हीं कारणों से उसकी नये विचारों तक पहुँच होती है। यदि किसी व्यक्ति को बचपन में निष्क्रमण क्रिया में विशेष आनंद आया है, तो उसका स्वभाव गुदा संबंधी होगा। गुदा-संबंधी स्वभाव के प्रधान गुण सुव्यवस्थिति, कृपणता, और हठीलापन हैं। कभी-कभी इस स्वभाव के साथ निर्दयता भी मिला दी जाती है। यह मिश्रित स्वभाव कामाग्नि के उत्तेजित होने पर दूसरों पर सख्ती या ज्यादती करने में आनंद लेता है। गुदासंबंधी स्वभाव मौखिक स्वभाव के विपरीत दीर्घोद्यमी और हठाग्रही होता है; और जैसे मौखिक स्वभाव नूतनप्रेमी होता है, गुदासंबंधी स्वभाव नूतनद्वेषी होता है। यौवन काल में ये दोनों तृप्तियाँ साधारणतः जनेन्द्रिय-संबंधी तृप्ति के अधीन हो जाती हैं क्योंकि इस तृप्ति का संबंध मनुष्यजाति के उत्पादन और संरक्षण से संबंधित है। जनेन्द्रिय संबंधी स्वभाव यथादर्श होता है। यह स्वभाव पहले दोनों स्वभावों से वे तत्त्व ले लेता है जो व्यक्ति को सामाजिक व्यापारों में सहूलियत देते हैं; मौखिक स्वभाव से उसे स्फूर्ति और आशायुक्तता मिलती है, और गुदासंबंधी स्वभाव से उसे संचालन और सहिष्णुता मिलती हैं। मौखिक अथवा गुदासंबंधी स्वभाव का प्राबल्य सामाजिक अनुपयुक्तता का चिह्न है। कलाकार का स्वभाव जनेन्द्रिय स्वभाव से मौखिक और गुदासंबंधी स्वभाव की ओर विचलित होगा। यह रहा फ्रायड का वर्गीकरण। यूंग का मानसिक स्वभावों का वर्गीकरण अधिक विस्तृत है। वह पहले मन की ज्ञानात्मक, भावात्मक, अंतरवबोधात्मक, और संवेदनात्मक चार क्रियाओं के अनुरूप चार प्रकार के स्वभाव निश्चित करता है। व्यक्ति में बाह्य जगत में अपने को उपयुक्त करने में जिस मानसिक क्रिया का प्राधान्य होगा उसके अनुरूप उसका स्वभाव माना जायगा। ज्ञानात्मक और भावात्मक क्रियाएँ तर्कमूलक हैं, और अंतरवबोधात्मक क्रियाएँ अतर्कमूलक हैं। ज्ञाना-

त्मक स्वभाव भावकता में कमज़ोर होता है और हर एक स्थिति का बहुत सोच समझ कर सामना करता है। भावात्मक स्वभाव वस्तुओं के प्रति अपनी रुचि अथवा अरुचि प्रकट करता है और कभी-कभी तो केवल वस्तुजनित भावगति से ही संतुष्ट हो जाता है। संवेदनात्मक स्वभाव अंतरवबोध में कमज़ोर होता है और तत्कालिक और तत्स्थानीय यथार्थ से सीमित रहता है। अंतरवबोधात्मक स्वभाव संवेदना में कमज़ोर होता है और वस्तु के अस्तित्व से पराङ्मुख हो उसके संभाव्य की ओर देखता है; कोई घटना वास्तव में कैसी है इससे कोई मतलब नहीं, आगे कैसी हो सकती है इसकी ओर मानसिक दृष्टि प्रवृत्त होती है। इन चारों स्वभावों में से हर एक को अंतर्मुखी या वहिर्मुखी होने के आधार पर फिर विभक्त किया जाता है। वहिर्मुखत्त्व में जीवनशक्ति बाहर की ओर वस्तु तक गतिशील होती है; और अंतर्मुखत्त्व में वस्तु से परे भीतर की ओर प्रवाहित होती है। इस प्रकार यूंग के स्वभाव के प्रकार आठ हो जाते हैं। पहला वहिर्मुखी ज्ञानात्मक स्वभाव है। वह अपना जीवन ऐसे तार्किक निष्कर्षों से व्यवस्थित करता है जो वास्तविक अनुभवों के तथ्यों पर या मान्य सिद्धान्तों पर आधारित होते हैं। उस का विचार अवैयक्तिक और निर्णायक होता है और जीवन के उन दृश्यों पर अपना अभिनय करता है जहाँ पदार्थनिष्ठ निर्णायक योग्यता की आवश्यकता होती है। इस स्वभाव का मनुष्य भौतिक, वैज्ञानिक, राजनीतिज्ञ, धनाधिकारी, वकील, अथवा एन्जिनियर होता है। दूसरा अंतर्मुखी ज्ञानात्मक स्वभाव है। जब विचार अंतर्मुखी स्वभाव का निर्देश देता है तो विचार आत्मिक हो जाता है, अनात्मिक नहीं रहता। अंतर्मुखी विचार मन में पड़ी हुई प्रतिमाओं के सम्पर्क में आता है और जब यह प्रतिमाएँ अचेतन से जागृत होकर चेतन में आती हैं तो मन उन्हें अनात्मिक तथ्यों पर आरोप कर देता है। फलतः इस स्वभाव का मनुष्य कल्पनाशील, रचनात्मक, और रहस्यवादी होता है। इस वर्ग में आदर्शवादी दार्शनिक और उन्मुक्त कल्पना को प्राधान्य देने वाले लेखक पड़ते हैं। तीसरा वहिर्मुखी भावात्मक स्वभाव है। इस स्वभाव का मनुष्य अनात्मिक होता है अर्थात् उसका भाव स्वयं पदार्थ पर या मूल्यांकन के परम्परागत मानदण्डों पर निर्भर होता है। वह उसी चीज़ को पसंद या नापसंद करता है जिसे सब पसंद या नापसंद करते हैं और उसे वही सत्य, शिव, और सुन्दर लगता है जो सब को सत्य, शिव, और सुन्दर लगता है। उस का भाव उसके विचार के अधीन होता है और वहीं उत्तेजित होता है जहाँ उसके विचार से वह उत्तेजित होना चाहिये। इस स्वभाव का मनुष्य मिलनसार और सर्वप्रिय होता है। काव्य में अमौलिक शास्त्रीय रचयिता इस वर्ग में पड़ते हैं। चौथा अंतर्मुखी भावात्मक स्वभाव है। इस स्वभाव के मनुष्य का भाव आत्मिक होता है और प्रायः वस्तु की उपेक्षा करता है। वह बड़ा संवेदनशील होता है परन्तु अपनी संवेदनाओं और भावों को व्यक्त नहीं कर पाता। इसीलिये दूसरे आदमी उसे ठीक ठीक नहीं समझ सकते। यदि काव्य में ऐसा पुरुष आत्माभिव्यञ्जना करे तो वह अद्भुत श्रेणी का स्वच्छंदवादी लेखक होगा। पाँचवी वहिर्मुखी संवे-

दनात्मक स्वभाव है। यह दूसरे वहिर्मुखी स्वभावों की तरह अनात्मिक है। वास्तविक स्थूल पदार्थ ही उसके मूल तथ्य हैं और उनसे जो संवेदनाएँ उसे प्राप्त होती हैं वे ही उसके लिये जीवन का मूल्य हैं। वस्तुएँ उसके भोग और सुख के लिये वर्तमान हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि वह लंपट और अशिष्ट हो। उसके भोग और सुख शुद्ध हो सकते हैं और सौन्दर्य का सच्चा अनुभव हो सकता है। फिर भी संवेदनाएँ ही उसके लिये जीवन सार हैं। कीट्स उठती जवानी में ऐसे स्वभाव का कवि था। वह संवेदनाओं के जीवन पर विचारों को न्योछावर करने के लिये उद्यत रहता था। छठा अंतर्मुखी संवेदनात्मक स्वभाव है। इस स्वभाव का मनुष्य अनात्मिक नहीं होता। वह वस्तु से अलग रहता है और अपने और उसके बीच में अपना आत्मिक अवबोध, अपना आत्मिक विचार ले आता है। वह वस्तु में ऐसे गुणों का समावेश कर देता है जो उसमें नहीं होते और वस्तु-जनित उनका सुख अनुपस्थित और परिवर्धित होता है। सातवाँ वहिर्मुखी अंतर-वबोधात्मक है। जबकि संवेदनात्मक स्वभाव का मनुष्य स्थूल वस्तु को जैसी है वैसी ही देखता है, अंतरवबोधात्मक स्वभाव जैसी वस्तु उसके सामने है वैसी उसे नहीं देखता वरन् उसमें उसका भविष्य सम्भाव्य देखता है। संवेदना अंधोटे लगे हुए घोड़े की तरह है जो सड़क को अपने अगले पैरों के नीचे ही देख सकता है और उससे आगे नहीं; अंतरवबोध उस घोड़े की तरह है जो अपनी टांगों के नीचे की सड़क नहीं देख सकता क्योंकि उसकी आँखें निरंतर आगे लगी हुई हैं। इसीलिये वहिर्मुखी अंतरवबोधात्मक स्वभाव के मनुष्य की लालसा वाह्य घटनाओं के संभाव्यों की ओर रहती है। वह वस्तु के वर्तमान मूल्य की उसके भविष्य के हेतु उपेक्षा करता है। भविष्य मूल्य के निदर्शन में उसका दिमाग यथाभूत तथ्य को नये संयोग में और नये रूपों में देखता रहता है। इस वर्ग में उच्च कोटि के कवि, आविष्कारक, और वैज्ञानिक पड़ते हैं। आठवाँ अंतर्मुखी अंतरवबोधात्मक स्वभाव है। इस स्वभाव का मनुष्य वाह्य वस्तुओं से कोई प्रयोजन नहीं रखता। उसका अवबोध आत्मिक है और अचेतन की प्रतिमाओं पर निर्दिष्ट होता है। वे ही उसकी कल्पनाओं की उपकरण सामग्री बनती हैं। उसके लिये आन्तरिक प्रतिमाओं का वही मूल्य होता है जो वहिर्मुखी स्वभाव के मनुष्य के लिये वाह्य जगत् की प्रतिमाओं के लिये होता है। यदि इस स्वभाव का मनुष्य कलाकार हो तो उसकी कृतियाँ स्वच्छंद, विलक्षण और तर्कहीन होंगी। फ्रायड और यूंग दोनों के स्वभाव वर्गीकरण आलोचनात्मक मस्तिष्कों को अग्राह्य हैं। वास्तव में स्वभावों का कोई स्थैर्य नहीं। स्वभाव बने भी रहते हैं और साथ ही साथ रूपांतरित भी होते रहते हैं। यह उक्ति भले ही सत्य न हो कि प्रत्येक व्यक्ति भोजन के पहले आत्मनिग्रही और भोजन के पीछे एपीक्यूरस हो जाता है; परन्तु इसमें संदेह नहीं कि शारीरिक अवस्थाएँ संवेदना शक्ति ही में नहीं वरन् अंतरवबोधात्मक सहज [illegible] मूल्यांकन, और प्राज्ञ निर्णय में भी अंतर पैदा कर देती हैं। शरीर और मन वास्तव में एक हैं; अपनी निकृष्टतम दशा में मन शरीर

हो जाता है और शरीर अपनी सर्वोत्कृष्ट दशा में मन हो जाता है। हमारी सब प्रतिक्रियाएँ शरीर-और-मनमय होती हैं। इस तरह बहिर्मुखत्व और अंतर्मुखत्व एक दूसरे के बहिष्कारी नहीं हैं। एक ही व्यक्ति की वृत्ति कभी बहिर्मुखी और कभी अंतर्मुखी हो सकती है। यदि कोई मनुष्य बहुत समय तक इच्छित वस्तु से वंचित रहे तो वह अंतर्मुखी हो जाता है; और वही मनुष्य यदि उसे इच्छित वस्तु प्राप्त हो जाय तो बहिर्मुखी हो जाता है। ऐसे वर्गीकरणों का उद्देश्य केवल यही है कि इनके द्वारा वह चेतन अवस्था परिभाषित हो जाती है जिसका प्राधान्य व्यक्ति की वृत्ति का जीवन और जीवन के व्यापारों में निश्चित करता है।

मनुष्य मन के स्वभाव का यह विस्तृत हाल इस कारण दिया है कि मनोवैज्ञानिक आलोचना कृति का स्रोत कृतिकार के मन में देखती है जैसे कि जीवनचरितसंबंधी आलोचना कृति का स्रोत कृतिकार के जीवन में ढूंढ़ती है और ऐतिहासिक आलोचना कृति का स्रोत कृतिकार के समय के इतिहास में देखती है। जैसे जीवनचरितात्मक आलोचना ऐतिहासिक आलोचना को पूरा करती है वैसे ही मनोवैज्ञानिक आलोचना जीवनचरितात्मक आलोचना को पूरा करती है। बस बात यह है कि जीवनचरितात्मक आलोचना का निर्देश ऐतिहासिक आलोचना के निर्देश की अपेक्षा अधिक सीमित होता है जैसे मनोवैज्ञानिक आलोचना का निर्देश जीवनचरितात्मक आलोचना के निर्देश की अपेक्षा अधिक सीमित होता है।

आलोचक को जीवित लेखक के मन को समझने की सुविधाएँ प्राप्त हैं। परंतु पुराने लेखक के मन का पुनर्निर्माण उतना ही कठिन है जितना कि उसके जीवन का पुनर्निर्माण। यहाँ भी आलोचक की सहायता विज्ञान ने की है। विज्ञान में विश्लेषण संश्लेषण से पहले आता है। पहले वैज्ञानिक किसी पदार्थ के घटनावयवों का विश्लेषण करता है और फिर उन्हें मिलाकर उसी पदार्थ का पुनर्निर्माण करता है। किस प्रकार पानी का विश्लेषण ऑक्सीजन और हाइड्रोजन में होता है और किस प्रकार ऑक्सीजन और हाइड्रोजन का मिलकर फिर पानी में संश्लेषण हो जाता है, विज्ञान का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है। जब तक वैज्ञानिक विश्लेषण और संश्लेषण में सफल नहीं होता तब तक वह पदार्थ के विषय में अपने ज्ञान को पूरा नहीं मानता। आलोचना ने भी वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग आरंभ किया है। लेखक का व्यक्तित्व उसकी कृति में प्रविष्ट होता है और उसके स्पष्टतम चिह्न उन स्थलों में मिलते हैं जहाँ वह बार बार एक ही बात कहता है या जहाँ वह मानव स्वभाव के गहनतम स्तरों तक पहुँचता है, क्योंकि ऐसे स्थलों में वह अवश्य आत्मानुभूति से बोलता है। ऐसे चिह्नों को एकत्रित करके आलोचक अपने कार्यार्थ लेखक के उस मन का पुनःसृजन करता है जो बहुत सी धाराओं में कृति में प्रवाहित हुआ। पुनःसृजन की सफलता पुनःसृजित मन का दूसरे स्थलों में अथवा उसकी रचित दूसरी कृतियों में प्रयोग करने से जाँची जा सकती हैं। समस्त रीति का सत्यापन इन जीवित लेखकों पर प्रयोग

करने से भी हो सकता है जिनके मन को हम अपने अनुभव से भी जानते हैं और उनकी रचनाओं से भी जान सकते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी से पहले मनोवैज्ञानिक आलोचना बहुत कम मिलती है। बैन जॉनसन अपनी 'डिस्कवरीज़' में कहता है कि शेक्सपिअर एक ऐसा व्यक्ति था जो अपनी प्रतिभा का नियंत्रण करने में असमर्थ था। इसकी पुष्टि वह 'जूलियस सीज़र' में प्रयुक्त एक व्यंग्यार्थ से करता है। इस दोष के लिये बाद के और भी बहुत से आलोचकों ने शेक्सपिअर को अपराधी ठहराया है। विशेषतया डॉक्टर जॉनसन ने अनुचित श्लेषप्रियता के लिये। ड्राइडन भी कवियों की व्याख्या के लिये कभी कभी मनोविज्ञान तक चला जाता है। शेक्सपिअर कल्पनासृष्टि और पात्रनिरूपण में प्रवीण था, इसका कारण यही है कि उसकी प्रतिभा बड़ी विशाल और सर्वांगी थी। बैन जॉनसन के नाटकों में काट छाँट और परिवर्तन के लिये बहुत कम गुंजाइश है, वे इतने दुरुस्त हैं; इसका कारण यही है कि वह अपने अंतःकरण का स्वयं बड़ा योग्य परीक्षक था। वह अपने दृश्यों में प्रेम को बहुत कम स्थान देता है और आवेगों का बहुत कम प्रदर्शन करता है, क्योंकि उसकी प्रतिभा बड़ी रुष्ट और निरुल्लास थी। मिल्टन के विषय में एडीसन का मत है कि वह महत्त्वाकांक्षी पुरुष था, और इसी कारण वह अपने महाकाव्य में पांडित्य प्रदर्शन करता है, यहाँ वहाँ प्रारब्ध अथवा युक्त संकल्प की समस्या पर अपने विचार प्रकट करने लगता है, इतिहास; ज्योतिष और भूगोल विद्याओं के विषयों में उन्मार्गगमन कर जाता है, और पारिभाषिक शब्दों तथा शास्त्रीय उल्लेखों की भरमार कर देता है। डॉक्टर जॉनसन का काउली के बारे में कथन है कि वह बड़े संकीर्ण चित्त का मनुष्य था और बजाय इसके कि अपने आनंद के स्रोत अपनी आत्मा में देखे वह अचिरकालिक भावनाओं में अनुरक्त रहता था; इसी कारण उसकी कविता में वे सब दोष विद्यमान हैं जो कृत्रिम कल्पना की कविता में पाये जाते हैं, जैसे, पांडित्य प्रदर्शन, असहज और निसर्गविरुद्ध रूपक, घृणास्पद अतिशयोक्तियाँ, अविश्वसनीय कथाएँ, कोरी नवीनता की खोज, और सामयिक अभद्रता। अठारहवीं शताब्दी के अंत में काण्ट के आलोचनात्मक दर्शन के प्रभाव से यूरोप के साहित्य में व्याख्या के लिये मनोविज्ञान का प्रयोग बढ़ने लगा। आलोचना का स्थान संवेदनात्मकतावाद और प्रज्ञात्मकतावाद के मध्य में है। जबकि संवेदनात्मकतावाद यह दृढ़ करता है कि हमारे सब बोध (आईडिया) इन्द्रियजनित हैं और बुद्धि उन्हें केवल ग्रहण करती है परन्तु उन्हें उत्पन्न नहीं करती, और जबकि प्रज्ञात्मकतावाद यह दृढ़ करता है कि हमारे सब बोध बुद्धिजनित हैं, आलोचना यह दृढ़ करती है कि हमारे बोधों की वस्तु संवेदनाजन्य है और उनका रूप बुद्धिजन्य है। इस प्रकार प्रत्येक बोध में एक भौतिक तत्त्व होता है जिसे इन्द्रियाँ प्रदान करती हैं और एक रूपात्मक तत्त्व होता है जिसे बुद्धि प्रदान करती है। कोलरिज अपनी 'बाइग्रेफिया लिट्रेरिया' में यह स्वीकार करता है कि कोनिग्सबर्ग के प्रख्यात ऋषि काण्ट की आलोच-

नात्मक व्यवस्था ने उसकी बुद्धि को वांछनीय बल और अनुशासन दिया। इस स्वीकृति का यही अभिप्राय है कि कोलरिज पहले ही से दार्शनिक प्रवृत्ति का था। उसे अपने जीवन के आरंभ काल में कविता पढ़ने का बड़ा शौक था और सब प्रकार की कविता पढ़ने के पश्चात् वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि समस्त कविता में भाव की अंतर्धारा विद्यमान है, कि सच्ची कविता हृदय और मस्तिष्क में सख्य-भाव पैदा करती है। इस निश्चय की पुष्टि वर्ड्सवर्थ की कविता ने बलपूर्वक की। एक समय जब वर्ड्सवर्थ ने अपनी एक कविता स्वयं पढ़कर कोलरिज को सुनाई तो वह इतना प्रभावित हुआ कि वह उच्च स्वर से बोला कि वर्ड्सवर्थ को कल्पना शक्ति अपने उच्चतम और गूढ़तम अर्थ में प्राप्त थी, उस अर्थ में प्राप्त थी जिसमें वह विरोधी गुणों का एकीकरण करती है, परिचय और अपरिचय, अंतर्वेग और व्यवस्था, अवधारणा और भाव का सख्यकरण करती है। कविता के ऐसे निजी अनुभव ने कोलरिज को कल्पना का एक नया सिद्धान्त बनाने की क्षमता दी और इस सिद्धान्त का जर्मनी के आलोचनात्मक दर्शन ने समर्थन किया। कार्लायल को गटे का मस्तिष्क यूरोप भर में श्रेष्ठ प्रतीत होता था क्योंकि उसने द्वन्द्व द्वारा शान्ति प्राप्त की थी और ऐसा ही मस्तिष्क उसके 'फ़ौस्ट' में प्रतिबिम्बित है। आर्नल्ड की कीट्स की कविता की परीक्षा मनोवैज्ञानिक आधार पर है। कविता जीवन की व्याख्या दो रूप में करती है, या तो उसकी नैसर्गिका-वस्था में या उसकी नैतिकावस्था में। आर्नल्ड का निर्णय है कि कीट्स अनुभव की न्यूनता के कारण जीवन की पहले रूप में ही व्याख्या करने की योग्यता रखता था दूसरे रूप में नहीं। पेटर ने कोलरिज के लेखों का संबंध उसके मन से स्थापित किया है। कोलरिज ने अपना सारा जीवन अपेक्षावाद के प्रतिरोध में व्यतीत किया, वह अपनी दृष्टि सदा निरपेक्ष की ओर लगाये रहता था; इसी से जो वर्ड्सवर्थ को स्थायीभाव अथवा मूलप्रवृति मालूम होती थी, वही कोलरिज को दार्शनिक बोध मालूम होता था। कोलरिज की ऐसी मनोवृत्ति ही उसे इस विश्वास की ओर ले गई कि कविता का मुख्य उद्देश्य आंतरिक जीवन की प्रत्येक अवस्था को उसका मूल्य और उसका उचित स्थान निश्चित करना है। परन्तु क्योंकि मन अपनी समस्त अवस्थाओं से ऊपर है मन की अगणित अवस्थाओं में से किसी एक का एकान्तीकरण कलात्मक अनुराग को अशांत करना ही नहीं है प्रत्युत् उसका नाश करना है। कलाकार को अपने भाव और बोध अनेकान्तिक वृति से ग्रहण करने चाहिये। कोलरिज के दार्शनिक स्वभाव ने उसके अधिकांश गद्य और पद्य को उस वशीकरण से वंचित कर दिया है जो उनमें होता यदि वह संसार की संचित ज्ञान राशि को हास्यप्रिय दृष्टि से देखता। वर्तमान शताब्दी में साहित्य की मनोवैज्ञानिक व्याख्या अधिक सुव्यवस्थित होती जा रही है। फ्रैंक हैरिस का 'द मैन शेक्सपिअर' निश्चित मति से मनोवैज्ञानिक है। वह शेक्सपिअर की कृतियों की पूर्ण परीक्षा के बाद उसे मंद-वैषयिक कवि-दार्शनिक कहता है। अपनी युवावस्था में वह अशिष्ट था और उसके मनोवेग

उसके शासन में नहीं थे। वह अपने तुच्छ साथियों के बहकावे में आकर एक पार्क में घुस गया और वहाँ एक हिरन के मारने का अपराधी ठहराया गया। वह बंधनमुक्त था और सब तरह की शरारतें करता था। उसने एन हैथेवे की प्रेमोपासना की और उसे वश में करने के पश्चात् उसे उससे विवशता से शादी करनी पड़ी। एन हैथेवे बड़ी ईर्ष्यालु और कर्कशा स्त्री थी। शेक्सपिअर उससे घृणा करता था। १५८५ ई० के बाद एन हैथेवे से उसके कोई संतान उत्पन्न नहीं हुई और लंदन में अपना निवास स्थान बनाने के बाद आठ नौ वर्ष तक वह घर नहीं लौटा। यहाँ १५६७ ई० के लगभग वह एलीजैबेथ की सखी मैरी फिटन के चक्कर में पड़ गया। मैरी फिटन पर उसका प्रतिपालक लॉर्ड हर्बर्ट भी आसक्त था। यह घटना शेक्सपिअर के घोर मानसिक क्लेश का कारण बनी, परन्तु अंत में उसके सहनशील स्वभाव ने अपने प्रतिद्वन्द्वी को क्षमा प्रदान की। शेक्सपिअर की कामातुरता इस घटना से और विवाहसंबंधी व्यभिचार से ही पुष्ट नहीं हो जाती वरन् और भी दो घटनाएँ हैं जो इसे पुष्ट करती हैं। उसका डेवनैण्ट की दूसरी स्त्री से जो बड़ी सुन्दर और रुचिर वृत्ति की थी अवैध प्रेम था और एक समय उसने अपने मित्र रिचर्ड बर्बेज को एक दुराचारिणी स्त्री के विषय में हास्यास्पद बनाया था। शेक्सपिअर की शरीर रचना कोमल थी। वह उन्निद्र होने के कारण बेचैन रहता था, शराब पीने से दुर्बल हो जाता था, और कामासक्ति के आधिक्य से डरता था। उसकी भोगासक्ति और उसके शारीरिक दौर्बल्य ने और शायद उसके व्यवसाय की लज्जा ने उसे स्नायुव्यतिक्रमग्रस्त बना दिया था। इसमें शक नहीं कि उसमें कलात्मक और स्नायुव्यतिक्रमग्रस्त स्वभाव के बहुत से गुण और दोष थे। यदि उस समय के लंदन के अशिष्ट और जोखिमी जीवन में उसका भाग्य उसे नाट्य व्यवसाय हेतु वहाँ न ले जाता और उसे बहिर्मुखी न बनाता तो वह बिल्कुल अंतर्मुखी हो जाता और स्नायुव्यतिक्रम के कारण चूर्ण हो जाता। लंदन के जीवन में उसका प्रवेश करना ही संसार को हितकारी साबित हुआ, क्योंकि उसकी उत्कृष्ट कृतियाँ उसके मानसिक प्रतिरोधों की शोध हैं। हमें शेक्सपिअर का प्रतिरूप कुछ कुछ रोमियो जैक्वीज़, मैक्बैथ, विन्सेन्शियो, और प्रास्पैरो में मिलता है परन्तु उसका निकटतम सादृश्य हेम्लेट में मिलता है। ब्रैडले और फ्रैंक हैरिस दोनों हेम्लेट के विषय में कहते हैं कि शेक्सपिअर के सब पात्रों में हेम्लेट ही उसके सब नाटकों को लिख सकता था। यदि हम किसी दूसरे पात्र में शेक्सपिअर के व्यक्तित्व की छाया पाते हैं तो हमें निश्चय हेम्लेट की याद आ जाती है। हेम्लेट में शेक्सपिअर की प्रकृति के सभी गुण उपस्थित हैं; उस का मननशील स्वभाव, उसकी ऐसे आदमियों की प्रशंसा जिनमें आवेग और विवेक का समुचित सम्मिश्रण होता है, आकाश और पृथ्वी के वैभव तथा मनुष्य के विस्मयकारक गुणों का उसका काव्यात्मक प्रत्युत्तर, उसकी धर्मनिष्ठता, निपुणता, हास्यरसपूर्णता, उदासीनता, और रहस्यात्मकता—शेक्सपिअर के इन गुणों में से किसी का अभाव हेम्लेट में नहीं है।

मनोवैज्ञानिक आलोचना का अंतिम और सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हर्बर्टरीड है। अपनी आलोचना में वह सर्वत्र कृतिकार के मन को निश्चित करके कृति में उस की क्रियाशीलता के ढंग की व्याख्या करता है। स्विफ्ट के विषय में वह अंशतः एलिस रोबर्ट्स के इस निष्कर्ष को स्वीकार कर लेता है कि लेखक में स्नायु दौर्बल्य के सभी पक्के चिह्न थे, परन्तु उसका स्वतंत्र विश्लेषण उसे इस निष्कर्ष पर ले जाता है कि लेखक एक ऐसा बुद्धिमत् आदर्शवादी था जिसने संसार को धीरे-धीरे प्रयत्न और भ्रान्ति द्वारा समझा था और जिसकी यह निष्पन्न समझ यश की तृष्णा और आशाओं के निरन्तर भंग होने से निष्फल हो गई थी। स्मौलैट तत्त्वतः एक बहिर्मुखी था। गूढ़ विचार उसके मन में घुसते ही नहीं थे और स्थूल से सूक्ष्म की ओर आना उसके स्वभाव के विरुद्ध था। उसका मन ऐसी घटनाओं की चेतना से भरा था जो उसने देखी थीं या जो उससे बीती थीं। इसी कारण उसकी अभिव्यञ्जना का विशेष गुण हास्यकत्व है, श्लेष और वक्रोक्ति नहीं। हौथौर्न यद्यपि स्वयं रहस्यवादी न था फिर भी वह रहस्य और रहस्यपूर्ण विषयों में तल्लीन रहता था। उसके मन पर सदा यह दृढ़ाग्रह रहता था कि मनुष्य की शक्ति सीमित है और परमसत्ता असीमित है। इस प्रकार का मन अभिव्यञ्जना के लिये किसी सुसंगठित और विश्वव्यापी धर्म का सहारा लेता है; परन्तु क्योंकि हौथौर्न को कोई ऐसा धर्म सुलभ नहीं तो उसे उसकी जगह लक्षण पद्धति का सहारा लेना पड़ा। वर्ड्सवर्थ में जो १७६८ ई० से आगे दस वर्ष तक काव्योद्गार हुआ उसे हर्बर्टरीड उस अंतर्वेगीय संकट की प्राज्ञ प्रतिक्रिया समझता है जिसका निवारण ऐनैट से बाकायदा पृथक् होने में हुआ। हर्बर्टरीड की अधिकतम विस्तृत मनोवैज्ञानिक आलोचना शैली का परिपोषण है। आर्नल्ड शैली के विषय में कहता है कि उसमें सारपूर्ण वस्तु की पूर्ण कमी है और टी० एस० इलियट का कथन है कि शैली के विचार युवकों के से हैं। दोनों उस पर दुराचार का दोषारोपण करते हैं। साथ ही साथ दोनों उसकी प्रतिभा के चमत्कार से आकृष्ट होते हैं। शैली के व्यक्तित्व का निकटतम अध्ययन करने के पश्चात् हर्बर्टरीड का यह निर्णय है कि ये दोनों आलोचक बड़े प्रहिल हैं। कोई कवि हमें वह संतुष्टि नहीं दे सकता जिसका देना उसकी प्रकृति के बाहर है। शैली समलिङ्गरत अवस्था में स्थिर हो गया था। ऐसी स्थिरता के उसमें सब चिह्न मिलते हैं। उसके जीवन और लेखों के यह तीन मुख्य लक्षण हैं : पहला लक्षण यह है कि जब तब वह रोगात्मक मतिविभ्रम का प्रदर्शन करता है; दूसरा लक्षण यह है कि उसकी रचनाओं में अगम्यगमन का प्रयोग मिलता है, उदाहरणार्थ 'द रिवोल्ट ऑफ़ इस्लाम' की पहली प्रति, 'रौज़लिण्ड एण्ड हैलन', और 'द सेन्साई' में; और तीसरा लक्षण यह है कि उसके आत्माभिव्यञ्जना के साधारण ढंग में वास्तविकता का अभाव है जिसकी सिद्धि इस प्रकार होती है कि उसमें न तो मूर्तिकला और न वास्तुकला के उत्कृष्ट उदाहरणों के सौन्दर्य की प्रशंसा करने की क्षमता थी। इन सब लक्षणों का संबन्ध समलिङ्गरति से है। समलिङ्गरति का प्रादुर्भाव बच्चे की आत्मरति की अवस्था में होता है जब वह अपनी माँ को देखते देखते

अचेतन रूप से अपने शरीर से प्रेम करने लगता है। अपने शरीर से प्रेम करना अपने लिङ्ग वाले व्यक्तियों से प्रेम करना है। यही मनोविज्ञान में समलिङ्गरति कहलाती है। अचेतन समलिङ्गरति जब किसी बच्चे की प्रधान वृति हो जाती है तो उसमें मानसिक व्यतिक्रम अथवा परिवर्द्धित आत्मिकता आ जाती है, और आगे चल कर यह उसके स्वभाव को भ्रमात्मक बना देती है। आत्मरति की अवस्था के पश्चात् वह अवस्था आती है जिसमें बच्चा अपने आस पास के व्यक्तियों में अपनी कामवासना संबन्धी मुक्त कल्पनाओं की सिद्धि चाहता है। क्योंकि बच्चे की माँ और बहिनें ही सदा उसके समीप रहती हैं उसमें अगम्यगमन की भावना वर्द्धमान हो जाती है। परन्तु समाज इस भावना की सिद्धि का निषेध करता है और बच्चा बार बार रोके जाने के कारण उसका दमन करने लगता है। इस दमन से बाद में या तो बच्चे के हृदय में अगम्यगमन के प्रति घृणा पैदा हो जाती है या वह अगम्यगमन की कल्पनाओं से अपने दिल को बहलाने लगता है, विशेषतया जब बच्चा समलिङ्गरत रहा आता है। ऐसा बच्चा जो समलिङ्गरति की अवस्था में स्थिर हो जाता है अपनी सांसारिक उपयुक्तता में अवास्तविकता का प्रदर्शन भी करता है। यदि वह जीवन में कवि हो जाता है, तो उसकी अवास्तविकता उसकी प्रतिमाओं और उसके शब्दविन्यास में साफ दीख पड़ती है। समलिङ्गरत व्यक्ति दूसरे लिङ्ग के व्यक्ति के साथ समागम नहीं चाहता, उसकी कामना एक ऐसे साधारणीकृत ऐक्य की होती है जिस में व्यक्ति अपने को विस्तृत जगत से पृथक् नहीं समझता। इससे शैली की परहितनिष्ठा भी स्पष्ट हो जाती है, जैसे इससे ऊपर के विवेचन से उसकी और तीनों विशेषताएँ स्पष्ट हो जाती हैं। इस विवेचन में शैली को समलिङ्गरत कहा गया है। इसके विरुद्ध कहा जा सकता है कि वह जीवन भर दूसरे लिङ्ग के ऐसे व्यक्तियों की खोज में रहा जो उसे पूरी तुष्टि दें। परन्तु उसके इन कई प्रेमव्यापारों को हम अनात्मिकता की अवस्थाएँ नहीं मान सकते, क्योंकि उसकी अभिलाषा प्रत्येक स्त्री में अपनी आदर्श आत्मा का प्रतिरूप देखने की रहती थी। और यह प्रतिरूप उतना ही दूर चला जाता था जितना निकट वह अपनी प्रिया के पास आता था। प्लेटो ठीक था जब उसने पार्थिव प्रेम को अपार्थिव प्रेम की प्राप्ति का साधन माना था। शैली मूर्ख था जब उसने अपनी आदर्श आत्मा की प्रतिमा स्त्री के शरीर और स्वभाव में देखने की कोशिश की और उसकी यही मूर्खता उम्रभर उसकी विपत्तियों का कारण बनी।

पं० रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं कि संस्कृत और हिन्दी में किसी कवि या पुस्तक के गुणदोष या सूक्ष्म विशेषताएँ दिखाने के लिये एक दूसरी पुस्तक तैयार करने की चाल पहले थी ही नहीं। फिर उसकी मनोवैज्ञानिक परीक्षा में विस्तृत लेख लिखने की तो बात ही क्या। परन्तु ऐसी परीक्षा के लिये संस्कृत और हिन्दी में बड़ा क्षेत्र है क्योंकि इन भाषाओं के कवि बहुधा दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक मतों से सहानुभूति रखा करते थे। 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरानन्द'

की विचारधारा में गहन प्रवेश कर अश्वघोष के मस्तिष्क का पुनर्निर्माण करना और फिर उसे उनकी इन्हीं और दूसरी कविताओं में घटाना कितने आलोचनात्मक अनुराग का विषय होगा। कालिदास की सांख्य धार्मिक मनोवृत्ति और जीवन के प्रति उसकी शास्त्रसंमत दृष्टि और शृंगार रस का संचार करने वाली उसकी अद्भुत प्रतिभा उसके 'रघुवंश,' 'कुमारसंभव' और 'शकुन्तला' में भली भाँति मिल सकती है जैसे भारवि की पौराणिक वीरोपासना उसके 'किरातार्जुनीय' में। सूरदास की सख्यभावपूर्ण कृष्णोपासना की मनोवृत्ति जैसे वह वल्लभाचार्य से प्रभावित हुई थी उनके गीतकाव्य में देखी जा सकती है, जैसे तुलसीदास की रचनाओं में राम के प्रति उनकी दास्यभावपूर्ण भक्ति प्रदर्शित है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' में बहुत से लेखकों के मन को निश्चित करके उनकी कृतियों को उससे संबंधित किया है। कबीर के मन का विकास कई तत्त्वों के संश्लेषण से हुआ था। साधारणतः कबीर को निर्गुण ब्रह्म का उपासक कहा जाता है, परन्तु उनके अंतःकरण पर भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफ़ियों के भावात्मक रहस्यवाद, हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद, और वैष्णवों के अहिंसावाद तथा प्रपत्तिवाद इन सब का प्रभाव था। मलिक मुहम्मद जायसी के मन को शुक्लजी ने बड़ा कोमल और प्रेम की पीर से भरा हुआ कहा है और इन्हीं विशेषताओं के कारण उन्हें उस हृदयसाम्य की प्राप्ति हुई जिसे कबीर पूरी तरह न पा सके। यदि कबीर को परोक्षसत्ता की एकता का आभास हुआ तो मलिक मुहम्मद जायसी को प्रत्यक्ष जीवन की एकता का आभास हुआ। इसी से हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य का जो सफल भाव जायसी की रचनाओं के पढ़ने से उत्पन्न होता है वह कबीर की रचनाओं से नहीं।

रचना शक्ति और काव्य सिद्धान्तों के प्रतिपादन में तो मनोवैज्ञानिक रीति का प्रयोग काफ़ी रहा है। पं० गंगानाथ झा अपने 'कवि-रहस्य' में प्राचीन मतों के आधार पर लिखते हैं कि कवि की श्रेष्ठता उसकी प्रतिभा पर निर्भर है। प्रतिभा तीन प्रकार की होती है: सहजा, आहार्या, और औपदेशिक। सहजा प्रतिभा पूर्वजन्म के संस्कारों से उत्पन्न होती है, और अपना चमत्कार सहज ही में दिखाती है, उद्भूत होने के लिये अधिक परिश्रम नहीं चाहती। आहार्या प्रतिभा इस जन्म के संस्कारों से प्राप्त होती है और उद्भूत होने के लिये अधिक परिश्रम चाहती है। औपदेशिक प्रतिभा मन्त्रों और शास्त्रज्ञान द्वारा प्राप्त होती है और बड़े परिश्रम से मामूली चमत्कार दिखाती है। इन तीन प्रतिभाओं के अनुसार तीन तरह के कवि होते हैं: सारस्वत, आभ्यासिक, और औपदेशिक। "जन्मान्तरीय संस्कार से जिसकी सरस्वती प्रवृत्त हुई है वह बुद्धिमान सारस्वत कवि है। इसी जन्म के अभ्यास से जिसकी सरस्वती उद्भासित हुई है वह आहार्यबुद्धि आभ्यासिक कवि है। जिसकी वाक्यरचना केवल उपदेश के सहारे होती है वह दुर्बुद्धि औपदेशिक कवि है।" स्पष्ट है कि इन तीनों प्रकार के कवियों में पहला दूसरे से और दूसरा तीसरे से अधिक प्रसिद्ध होता है। प्रतिभा

के साथ-साथ यदि कवि में व्युत्पत्ति अथवा उचित अनुचित का विवेक कराने वाली शक्ति भी रहे तो वह अधिक उत्कृष्ट होता है।

हम पीछे रचनात्मक प्रक्रिया के प्रसंग में इस सिद्धान्त का मनोवैज्ञानिक विवरण दे चुके हैं। यहाँ हम पं० रामदहिन मिश्र के 'काव्य दर्पण' से रस और मनोविज्ञान का यह संबंध उद्धृत करते हैं : "मानसशास्त्र की दृष्टि से एक काव्य-पाठक के मानस-व्यापार का विचार किया जाय तो तीन मुख्य बातें हमारे सामने आती हैं। एक तो है उत्तेजक वस्तु (स्टिमुलस)। यह है काव्य अर्थात् काव्य के विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव आदि। दूसरी उस उत्तेजक वस्तु के संबन्ध में प्रत्युत्तरात्मक क्रिया का करने वाला सचेतन प्राणी। यह है सहृदय पाठक। और तीसरी उस प्रत्युत्तरात्मक क्रिया (रैस्पौन्स) का स्वरूप है उस की सुखात्मक मनोऽवस्था। यह सुखात्मक मनोऽवस्था रसिकगत रस है जो पाठक के कंप, नेत्रनिमीलन, आनन्दाश्रु से प्रगट होता है।" मिश्रजी का रस का यह मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अच्छा है परन्तु जैसे वे कहते हैं रसिकगत ही है। हम उपर्युक्त प्रसंग में रस का रचयितागत मनोवैज्ञानिक विश्लेषण दे चुके हैं।

५

वैज्ञानिक शब्द का प्रयोग आलोचना की विषय-वस्तु के संबंध में हम पहले कर चुके हैं। इस शब्द का प्रयोग पद्धति के संबंध में भी हो सकता है। विज्ञान व्यवस्थित ज्ञान है और ज्ञान को व्यवस्था देने के लिये आगमन अधिक से अधिक फलदायक रीति है। जब साहित्य के अध्ययन में आगमनात्मक पद्धति का प्रयोग किया जाता है तो फल होता है आगमनात्मक आलोचना अथवा व्याख्या।

आगमनात्मक पद्धति क्या है? आगमनात्मक पद्धति में पहली क्रिया प्रदत्त का एकत्रीकरण है। इसके लिये अवलोकन की आवश्यकता है जो सही और न्यायसंगत हो। एकत्रित तथ्य वे हों जो प्रकृति में मिलें न कि वे जो निरीक्षक को उपयुक्त लगें। नियतत्व (प्रीसीशन) पर जितना जोर दिया जाय उतना ही थोड़ा है। विज्ञान का प्रत्येक पण्डित जानता है कि किस प्रकार नियतत्व पर आग्रह करने से एक नई गैस आर्गन की खोज हुई। दूसरी क्रिया प्रदत्त का क्रमबद्ध करना है जो विश्लेषण और संश्लेषण द्वारा होता है और जिसका उद्देश्य अन्योन्यान्वय और अनुक्रम की एकरूपताओं का ज्ञान है। तीसरी क्रिया कल्पना की सृष्टि है। प्रयोग और परीक्षा के पश्चात् कल्पना सिद्धान्त के पद पर पहुँचती है। सिद्धान्त तभी पक्का माना जाता है जब वह तथ्यों का पूरी तरह वर्णन करता है, जब [illegible] और प्रयोग द्वारा स्पष्ट हो जाते हैं, और जब वह साक्ष्य पर ही आधारित होता है।

मौल्टन का मत है कि साहित्यालोचन का आगमनात्मक विज्ञान संभव है। प्रत्येक विज्ञान तीन अवस्थाओं से निकलने पर अस्तित्व में आता है; विषय-वस्तु का [illegible], निरीक्षण और वर्गीकरण, और व्यवस्थापन। ज्योतिष बहुत काल तक

नभश्चरों और तारागणों के अवलोकन में व्यस्त रही। वह दूसरी अवस्था को तब प्राप्त हुई जब उसने सौर, चांद्र, ग्रहविषय, और धूम्रकेतु विषयक वस्तुओं का अलग अलग अध्ययन किया। वह नियमित विज्ञान तब बना जब उसने गति और केन्द्राकर्षण के नियमों द्वारा अपना ज्ञान व्यवस्थित किया। इसी प्रकार भाषा विज्ञान तब तक पहली अवस्था में रहा जब तक वह शास्त्रीय भाषाओं का ज्ञान संचित करता रहा। ग्रिम के व्यंजन परिवर्तन सिद्धान्त ने संचित ज्ञान को क्रमबद्ध करके उसे दूसरी अवस्था तक पहुँचाया। वह अपनी अन्तिम अवस्था को स्वरशास्त्रविषय विलोपन के सिद्धान्त ( प्रिन्सीप्ल ऑफ़ फ़ौनेंटिक डिके ) की सहायता से पहुँचा। साहित्यालोचन का विज्ञान अब भी अपने संचित ज्ञान को क्रमबद्ध कर रहा है और अभी दूसरी अवस्था से आगे नहीं बढ़ा। वह अपनी तीसरी अवस्था को तभी प्राप्त होगा जब वह उन नियमों का अन्वेषण कर लेगा जो इस बात को स्पष्ट करेंगे कि तरह-तरह की साहित्यिक कृतियाँ किस प्रकार अपने प्रभावों को पैदा करती हैं। इस बीच में साहित्यालोचन को वैज्ञानिक कठोरता से अन्वेषण और वर्गीकरण के काम को अग्रसर करना चाहिये।

आलोचक को साहित्य का निरीक्षण वैज्ञानिक वृत्ति से करना चाहिये। वह अपने तथ्य कृति के ब्यौरों में ढूंढ़े। परन्तु कुछ शास्त्रज्ञों का कहना है कि साहित्य की विषय-वस्तु में कोई निश्चितता नही है। साहित्य का एक तथ्य उतने तथ्य हो जाते हैं जितने पाठक होते हैं। इसके उत्तर में मोल्टन की दलील है कि यह कठिनाई और विज्ञानों में भी मिलती है। भय की एक वस्तु दर्शकों को तरह-तरह से प्रभावित करती है, कोई आत्मसंयम दिखाता है तो कोई मूर्छा से विवश हो जाता है। फिर भी मनोविज्ञान संभव हुआ है। प्रश्न केवल यह उठता है कि तथ्य से प्रभावित होने की विभिन्नता कैसे दूर की जाय। साहित्य में यह विभिन्नता किताब की ओर बार-बार ध्यान देने से निकाली जा सकती है क्योंकि तथ्य उसी में निश्चित है। जब तथ्य ऐसे शुद्ध रूप में एकत्रित किये जाते हैं, तो उनके आधार पर साधारणीकरण संभव हो सकता है। मान लो हमें मैक्बैथ के चरित्र की व्याख्या करनी है। हम नाटक को अनात्मिकता से पढ़ें; उसमें मैक्बैथ जो कुछ कहता है या करता है और उसके विषय में जो कुछ दूसरे कहते या महसूस करते हैं, इन बातों पर और दूसरी ऐसी बातों पर ध्यान देकर मैक्बैथ के विषय में हम अपनी मति निर्धारित करें। बस यही मैक्बैथ के चरित्र की आगमनात्मक व्याख्या होगी। इस व्याख्या की सत्यता से हम तभी प्रभावित होंगे जब वह उन सब ब्यौरों को स्पष्ट कर देगी जो मैक्बैथ के चरित्र के संबंध में नाटक में मिलते हैं। यह व्याख्या चरित्र के निहित उद्देश्य को विदित करेगी, चरित्र के शरीर अथवा अंतर्जात उद्देश्य को, ऐसे किसी उद्देश्य को नहीं जो स्वयं नाटककार का अभिप्रेत हो। वैज्ञानिक आलोचक इस बात को मानता है कि कला प्रकृति का अंश है। जैसे प्रकृति के नियम प्रकृति ही देती है, उनका आरोप बाहर से किसी शक्ति द्वारा प्रकृति पर नहीं होता, वैसे ही साहित्य के नियम साहित्य देता है,

बाहर से कोई व्यक्ति उन्हें निश्चित नहीं करता। यह नियम धार्मिक अथवा राजनीतिक नियमों से भिन्न होते हैं। केंचुए का उद्देश्य धरती फाड़कर उसे उपजाऊ बनाना है। क्या कोई बाहर से केंचुए को इस उद्देश्य की पूर्ति की शिक्षा देता है? इसी तरह फूलों के रंग बिरंगे होने का उद्देश्य कीड़ों को आकृष्ट करना है। कौन फूलों की पूर्वप्रबोध के लिये प्रशंसा करता है। ऐसे ही उद्देश्य साहित्य के होते हैं और ऐसे ही उद्देश्यों और नियमों की खोज वैज्ञानिक आलोचक साहित्य में करता है। जिस नियम की उसे उपलब्धि होती है वह रचना-विस्तार विषयक व्यापार का वर्णन होता है। यदि वैज्ञानिक आलोचक को निश्चित नियम से हटा हुआ कोई दृष्टान्त मिलता है तो वह उसे किसी नये वंश का सूचक मानता है। साहित्यिक वंशों का अंतर निरूपण ही मोल्टन के मतानुसार वैज्ञानिक आलोचना का मुख्य कर्त्तव्य है। वह इस बात को मानती है कि साहित्य में असीम परिवर्तन और नानाविधित्व की पूरी क्षमता है और इसी क्षमता के फल-स्वरूप उसकी वृद्धि होती है। और क्योंकि साहित्योत्पादन आलोचना के आगे आगे चलता है, आलोचना का फर्ज़ यही है कि वह उसके पीछे पीछे चले और उसकी उत्पादित नई वस्तुओं की व्यवस्था करे।

आगमनात्मक आलोचना पुराने समय से चली आ रही है। अरिस्टॉटल आगमनात्मक आलोचक था। उसने उस यूनानी साहित्य का जो उसके समय से पहले लिखा जा चुका था पूरा अध्ययन किया था। कविता, करुण, और महाकाव्य के संबंध में उसके साधारणीकरण हमें उसकी 'पोइटिक्स' में मिलते हैं; और गद्य और सुभाषणकला के संबंध में उसके साधारणीकरण हमें उसकी 'रैटॉरिक' में मिलते हैं। उसके प्रदत्त में आख्यायिकों की कमी थी। इसी से उसने कविता को आत्मिक रूप की जगह अनुकरणात्मक तत्त्व कहा। फिर भी करुण और महाकाव्य के क्षेत्रों में उसके साधारणीकरण अब तक बड़े उपयोगी साबित हुए हैं। करुण की कई बातों पर तो उसका कथन अंतिम है। बेकन ने कविता के रूपों की परीक्षा करके उनको तीन वर्गों में विभक्त किया; कथात्मक, प्रतिनिध्यात्मक, और लाक्षणिक। अठारहवीं शताब्दी के अंग्रेजी साहित्य की विवेचना में पैरी का यह दृढ़ विश्वास है कि साहित्य का विकास उतना ही नियमबद्ध है जितना कि समाज का विकास। पोसनैट ने साहित्य की प्रगति चिह्नित करने के लिये स्पैंसर के वैज्ञानिक अनुसंधानों की सहायता ली है। उसका यह निष्कर्ष है कि साहित्य पहले कुलसंबंधी था, फिर नगरप्रजातंत्र संबंधी हुआ, फिर संसारसंबंधी हुआ, और अंत में राष्ट्रीय हुआ। ब्रुनैटियर ने साहित्यिक प्रकारों के विविधत्व की परीक्षा स्पेन्सर के विकासवादी सिद्धान्त के अनुसार की है; उनके रूपांतर की परीक्षा टेन के [illegible] सिद्धान्त के अनुसार की है, और उनके परिवर्तन की परीक्षा डार्विन के जीवनहेतु संघर्ष और प्राकृतिक चुनाव के सिद्धान्तों के अनुसार की है। मोल्टन को आगमनात्मक आलोचना में पथप्रदर्शक नहीं कह सकते। अपनी 'शेक्सपियर एज़ ए ड्रैमैटिक आर्टिस्ट' नाम की पुस्तक में जिसमें उसने शेक्सपियर के नौ

नाटकों के आधार पर उसकी आगमनात्मक व्याख्या की है, वह साफ़ कहता है कि साहित्यिक आलोचना में आगमनात्मक काम काफ़ी हुआ है; खेद इसी बात का रहा है कि आलोचकों ने अपने काम को आगमनात्मक कह कर घोषित नहीं किया है

आगमनात्मक आलोचना में मनोवृत्ति पूर्ण सहानुभूति की रहती है। और सहानुभूति ही वास्तविक व्याख्याता है। निर्णयात्मक क्रिया में सहानुभूति सीमित हो जाती है। निर्णय की भावना ही चाहे जितनी ग्रहणशील क्यों न हो पक्षपातपूर्ण होती है। इसी से मोल्टन आगमनात्मक आलोचना को निर्णयात्मक आलोचना से उच्चतर कहता है। परन्तु साहित्यिक अध्ययन की आगमनात्मक पद्धति के आवेश में आकर वह अपने सिद्धान्त की उपेक्षा करता है। आलोचना उसी साहित्य का एक अंश है जो सदा वृद्धि की ओर अग्रसर होता है। निर्णयात्मक आलोचना साहित्य में अपना अस्तित्व रखती है और वैज्ञानिक गवेषणा का विषय उसी तरह बन सकती है जिस तरह शेक्सपिअर का नाटक मोल्टन बड़ी दृढ़ता से इस बात की पुष्टि करता है कि साहित्यिक व्यापारों-का विज्ञान उतना ही न्याय्य है जितना कि वनस्पति व्यापारों का अथवा वाणिज्य व्यापारों का। यदि वनस्पति शास्त्र और अर्थशास्त्र संभव है तो आलोचना शास्त्र भी संभव है। गुण और दोष के सवाल आलोचना के बाहर हैं। कोई भूगर्भविज्ञानवेत्ता इस चट्टान को बुरा और उस चट्टान को भला कहते हुए नहीं सुना गया। उसे सब चट्टानें एक समान ग्रहणीय हैं और सब का वह आगमनात्मक रीति से अध्ययन करता है। उसी वृति से आलोचना साहित्यिक तथ्यों का अध्ययन करती है। परन्तु भूगर्भविज्ञान अथवा वनस्पति विज्ञान में वैयक्तिक तत्त्व का लोप हो जाता है। साहित्य में व्यक्तित्व प्रधान होता है। दूसरी बात यह है कि साहित्य कला की हैसियत से जीवन का चित्रण करता है। जब तक साहित्यिक तथ्यों की मानुपिक और रचनाप्रक्रिया-विषयक संगतता का मूल्य न निर्धारित किया जाय तब तक ठीक आलोचना संभव नहीं और ऐसी संगतता के मूल्य निर्धारण से आगमनात्मक आलोचक विमुख रहता है। फिर भी आगमनात्मक आलोचना की उपयोगिता है। किसी कृति अथवा कृतिकार की आलोचना उस के सम्यक् बोध के बाद ही आ सकती है। आगमनात्मक आलोचना हमारा ध्यान उन सिद्धान्तों पर एकाग्र करती है जो साहित्यिक कृतियों के ब्योरों को सम्बद्ध करते और उनका एकीकरण करते हैं। ऐसे सिद्धान्तों की पकड़ के अतिरिक्त क्या कोई और तरीका ऐसा है जिससे कृति का ज्ञान अधिक पूर्णता से हो जाय ?

———

कलाकार अपने माध्यम के अन्तर पर विजय प्राप्त करता है, वहाँ तक ही उसे सफल कहा जा सकता है। होमर के बाद यूनानी आलोचना में कूटतार्किकों (सोफिस्ट्स) का स्थान है। वे व्याकरण और वाग्मिता में निपुण होते थे। इसी से उन पर यह आक्रमण होता था कि वे नवयुवकों को वाक्चपल बनाकर उन्हें भ्रष्ट करते थे। परन्तु उनके छोटे नगरराज्य में जनसत्तावादी वक्ता की आवाज़ कान में गूंजती थी और सुभाषणकला में चातुर्य्य दिखाने की प्रवृत्ति प्रत्येक नागरिक में देखी जाती थी। इस कारण से आलोचना का एक ओर तो सुभाषणकला कौशल में अनुराग बढ़ा और दूसरी ओर उसी कला की विषयवस्तुओं में। बस, आलोचनात्मक मूल्यांकन के दो मानदण्ड भली भाँति परिभाषित हो गये। जो लेख अथवा वक्तव्य जितना अलंकारयुक्त, व्यंग्यार्थपूर्ण, और प्रभावशाली हो वह उतना ही सुन्दर है। और उसकी विषयवस्तु जितनी शिक्षाप्रद हो वह उतना ही महान्। यूनानी मस्तिष्क पर धर्म और जनतंत्रीय राजनीति का दृढ़ाग्रह था और इन्हीं दोनों गुणकों ने यूनान के साहित्य का विकास निश्चित किया। यूनानी मत के अनुसार साहित्य का उद्देश्य मनुष्यों को सत्य, धर्म्यता, और नागरिकता का उपदेश देना है। सभी यूनानी आलोचक इस बात पर सहमत हैं कि साहित्य का कर्तव्य पढ़ाना है, परन्तु क्या पढ़ाया जाय और कैसे पढ़ाया जाय इन बातों पर मतभेद है। साहित्य उपदेशात्मक हो, इस मत का सब से बली प्रकाशक प्लैटो था। प्लैटो आदर्शवादी सुधारक था और वह प्रत्येक ऐथैन्स निवासी को आदर्श नागरिक बनाना चाहता था। मनुष्य के दो धर्म हैं। बतौर विशिष्ट व्यक्ति के उसे सत्य की प्राप्ति में संलग्न रहना चाहिये और बतौर समाज के सदस्य के उसे सदाचारी होना चाहिये। सत्य और सदाचार की प्राप्ति ज्ञान द्वारा संभव है. ज्ञान जीवन के अनुभव के अतिरिक्त साहित्य द्वारा भी आता है। यह जानने के लिये कि साहित्य द्वारा प्राप्त ज्ञान एथैन्स के नवयुवक को लाभदायक था अथवा हानिकारक था उसने यूनानी साहित्य की कड़ी परीक्षा की। उसने होमर के महाकाव्य के बहुत से अंशों को पावित्र्यदूषक और झूठा साबित किया। पावित्र्यदूषकता का तो साहित्य में व्यापक दोष है। इसका कारण यह है कि साहित्यकार अपने काव्यों में भले आदमियों को दुःखी और बुरे आदमियों को सुखी करके चित्रित करता है। नाटक में तो बहुधा यही मिलता है। कविता भी मनोवेगों को दबाने के बजाय उन्हें उत्तेजित करती है और पाठक की बुद्धि पर अंधकार का आवरण आच्छादित करती है। झूठेपन का दोष भी साहित्य में व्यापक है। प्लैटो का विश्वास था कि लौकिक सत्य अलौकिक सत्य की छाया है। कलाकार लौकिक सत्य का अनुकरण करता है और जिस सत्य को वह अपनी कला में चित्रित करता है वह लौकिक सत्य की छाया है। इस प्रकार कला का सत्य दैविक अथवा सारभूत अथवा शुद्ध सत्य की छाया है। अब यह बात सिद्ध हो जाती है कि साहित्य नागरिक को न तो सत्य की शिक्षा देता है और न नीति की। इसी विचार से प्लैटो ने अपने आदर्शप्रजातन्त्र राज्य में कवि को कोई स्थान नहीं दिया। परन्तु इस विचार

को प्लेटो का अंतिम विचार नहीं समझना चाहिये। यदि कोई कवि दार्शनिक मनन में व्यस्त रहता हुआ आध्यात्मिक अनुशासन का जीवन व्यतीत करे और ब्रह्मनिष्ठ गति को प्राप्त करके दैविक सत्य का अनुभव करने में समर्थ हो और ऐसे अनुभवों को अपनी कविता में चित्रित करे, तो ऐसा कवि मानव जाति का सच्चा पथप्रदर्शक होगा और उसकी कविता मानवजाति की वांछित विपुल धन-राशि होगी। दोनों पक्षों में जब वह कवि का बहिष्कार करता है और जब कवि को सच्चा पथप्रदर्शक कहता है, प्लैटो का निष्कर्ष यही है कि कविता अथवा कला वही उत्कृष्ट मानी जायगी जो नैतिक और दार्शनिक सत्य पर आधारित होगी। प्लैटो की कलात्मक उत्कृष्टता के मूल्यांकन का मानदण्ड सत्य की अनुकूलता है। प्लैटो कला को उपदेश के अधीनस्थ करके उसकी उपेक्षा करता है। अरिस्टॉटल उसे कल्पनात्मक आदर्शीकरण से संबंधित करके उसका स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित करता है। प्लैटो ने सुन्दर और शिव का समीकरण किया। अरिस्टॉटल ने सुन्दर को शिव से अधिक विस्तृत माना। उसने कहा कि कल्पनात्मक अनुकरण तो चाहे बुराई का हो चाहे कुरूपता का सदा सुखदायक होता है और उपलब्ध सुख सदा मानसिक शोध का होता है। इस बात को उसने करुण की परिभाषा के अन्तिम भागों में स्पष्ट किया है कि वह करुणा, दया और भय के भावों को उत्तेजित करके उनका शोध करता है। इस विचार से कला पर पावित्र्यदूषकता का दोषारोपण करना वृथा है। झूठेपन का दोषारोपण भी सर्वथा निरर्थक है। कला का सत्य, भाव का सत्य होता है, तथ्य अथवा इतिहास का सत्य नहीं। अमुक पुरुष अमुक परिस्थिति में अमुक चारित्रिक विशेषताओं के कारण ऐसा करेगा, यह कलात्मक सत्य है। एलकीबियेडीज़ ने यह किया, यह ऐतिहासिक सत्य है। इस विचार से यह निश्चित हुआ कि अरिस्टॉटल का कला के मूल्यांकन का पहला मानदण्ड कलात्मक आदर्शीकरण है। कला के मूल्यांकन का अरिस्टॉटल का दूसरा मानदण्ड रूप सौष्ठव है। इस का स्पष्टीकरण उसने करुण के विवेचन में किया है। करुण के छः घटकावयव होते हैं: वस्तु अथवा घटनाओं का विन्यास; चरित्र अथवा संकल्पात्मक वृत्ति का बाह्य प्रदर्शन; वाक्सरणि जिस के द्वारा पात्रों के विचार व्यक्त होते हैं; भाव जिनसे वे उत्तेजित होते हैं; रंगमंच पर अभिनेताओं का खेल; और संगीत। इन छहों में वस्तु करुण की जान है और कवि को उस के निर्माण में बड़ी सावधानी दिखानी चाहिये। वस्तु का आदि, मध्य, और अंत हो और समस्त वस्तु में ऐक्य हो। उसका घटना विन्यास संभाव्य और अनिवार्यता के सिद्धान्तों पर हो। नायक के भाग्य में एक परिवर्तन हो सकता है, सुख से ही दुख की ओर; और दो परिवर्तन भी हो सकते हैं, सुख से दुःख की ओर और फिर दुख से सुख की ओर, परन्तु नाटककारों को एक परिवर्तन वाली वस्तु को अधिक पसंद करना चाहिये। वस्तु का विकास अनुवृत्ताधार पर हो। नायक की परिस्थिति, उस के मित्रों और शत्रुओं के वर्गों के विवरण के पश्चात धीरे-धीरे नायक का भाग्य

उच्चतम स्थान तक उत्कृष्ट हो और फिर वहाँ से शात्रव शक्तियों के बल पकड़ जाने के कारण धीरे-धीरे उस के भाग्य का पतन हो यहाँ तक कि उसका दुःखमय परिणाम में अंत हो। पात्रों में चार विशेषताएँ होनी चाहिये—वे पुण्यात्मा और उत्कृष्ट वृत्ति के हों; उन में विप्रतिपत्ति न हो; उन में यथार्थता हो; और अन्त तक उन के विकास में संगीत हो। करुण और भयानक रसों की उत्पत्ति के लिये नाटककार अभिनय और संगीत का सहारा न ले वरन् चरित्र और संघर्ष की विशेषताओं का। पात्र बड़े घराने का हो और अनजाने किसी घातक भूल के कारण विपत्ति में फंसे। संघर्ष निकट संबंधियों में हो। शैली विशद और उत्कृष्ट हो। शब्द साधारण बोलचाल के हों, वैदेशिक शब्दों का प्रयोग किया जा सकता है; उपयुक्त अलंकार भाषा को रोचक और आकर्षक बनाएँ। करुण का यह विवेचन जिसे वह महाकाव्य के विषय में भी ठीक समझता है इस बात का पूरा साक्ष्य है कि अरिस्टॉटल रूपसौष्ठव को कविता की परीक्षा में कितने महत्त्व का समझता था। अरिस्टॉटल ने करुण के विषय में विशिष्ट सुख का उल्लेख किया था जो हमें रंगमंच पर उस के अभिनय अथवा घर में उस के पढ़ने से मिलता है, परन्तु उसने इसे इतने महत्त्व का नहीं समझा था कि उसे कविता की परीक्षा का महत्त्वपूर्ण मानदण्ड माने। यूनान के अंतिम महान् आलोचक लॉञ्जायनस का ध्यान इसी ओर गया। वह अपनी 'एट्रीटिज़ कन्सर्निङ्ग सब्लीमिटी' नामक पुस्तक में लिखता है कि साहित्य में अत्युदात्तत्व सदा भाषा की उच्चता और वैशिष्ट्य है। इसी गुण के कारण कवि और गद्य लेखक यशस्वी और अमर हुए हैं। असाधारण प्रतिभा के गद्यांश और पद्यांश हमें बोध ही प्रदान नहीं करते वरन् हमें अलौकिक चमत्कारक आनन्द का आस्वादन कराते हैं। रचना कौशल और अनुक्रममूलक व्यवस्थापन तो समस्त रचना में रचयिता परिश्रम से ले आता है, परन्तु अत्युदात्तत्व उचित समय पर आकर विषय वस्तु को इधर और उधर अलग कर देता है और रचयिता की समस्त शक्ति को बिजली की जैसी एक चमक में प्रकाशित करता है। साहित्य में अत्युदात्तत्व पाँच तत्त्वों से आता है। पहला तत्त्व है महान् और ऊँचे विचारों को सोचने और ग्रहण करने की शक्ति जो नैसर्गिक प्रतिभा का फल होती है। अत्युदात्तत्व का स्वर महानात्मा से ही निकलता है। महान् शब्द अनिवार्यत: महान् प्रतिभा से ही उत्पन्न होते हैं। दूसरा तत्त्व है प्रबल और द्रुतक्रम मनोवेग जिसकी क्षमता भी प्रकृति देती है। तीसरा तत्त्व है शब्दालंकार और अर्थालंकार का उपयुक्त प्रयोग। चौथा तत्त्व है पदरचना अथवा वाक्शैली। पांचवाँ तत्त्व है चमत्कारक प्रग्रथन। इन सब गुणों से सम्पन्न अत्युदात्तत्व की पहचान यह है कि इस से मनुष्य की आत्मा सत्व के उद्रेक से आनन्दमय हो उत्कृष्ट होती है। वही महान् साहित्य है जो नये मनन के लिये उत्तेजना देता है; जिसके प्रभाव को रोकना असंभव हो जाता है; जिस की स्मृति शक्तिवान और अमिट होती है। यह मानी बात है कि अत्युदात्तत्व के वही सुन्दर और सच्चे प्रभाव हैं जो

सब कालों में और सब देशों में सहृदयों को आनन्द देते हैं। अत्यानन्दमय प्रभावोत्पादकता ही लॉञ्जायनस का साहित्यिक गुण जांचने का मानदण्ड है।

सेण्ट्सबेरी के कथनानुसार तुलना ही उच्चतर और श्रेष्ठतर आलोचना का जीवन और प्राण है। रोम के आलोचकों को तुलना का लाभ था, क्योंकि उनके सामने यूनानी साहित्य उपस्थित था। इस लाभ के परिणामस्वरूप वे यूनान की आलोचना से अधिक सयुक्तिक आलोचना छोड़ सकते थे। परन्तु रोम की प्रतिभा व्यवहार कौशल में चाहे जितनी उत्कृष्ट हो, तत्त्वतः शौर्यहीन थी और यूनानी प्रतिभा की अपेक्षा अपने को तुच्छ समझती थी। रोम ग्रीस को साहित्यिक बातों में अपना शिक्षक और पथप्रदर्शक समझता रहा। और जिस उपयोगिता के दुराग्रह ने यूनानी आलोचना को पथभ्रष्ट किया उसी दुराग्रह ने रोम के आलोचकों को और भी पथभ्रष्ट किया। सिसरो और क्विण्टोलियन दोनों वाग्मिता पर जोर देते हैं। वे किसी साहित्य को वहीं तक ऊँचा समझते हैं जहाँ तक वह सुभाषणकला के लिये लाभकारी हो। सुभाषणकला ही उनका प्रधान हित है और साहित्य गौण। रोम के आलोचकों में एक हौरेस अवश्य ऐसा आलोचक है जो साहित्य को ही प्रधान हित मानता है। हौरेस कवि आलोचक था और कवि आलोचक कोरे आलोचक से सदा अधिक विश्वसनीय होता है, क्योंकि वह कविता का अभ्यास करने के कारण कविता के सब नियमों को अपने भीतर देखने की क्षमता रखता है। परन्तु हौरेस भी हमें निराश करता है। साहित्य के किसी रूप का उसे गहरा ज्ञान नहीं है। उसके सारे नियम ऐच्छिक हैं और वे पूर्वगामी आलोचकों से लिये गये हैं। जिस बात पर उसका जोर है वह रचनाकौशल में व्यावहारिक बुद्धि का प्रदर्शन है। उसके नियम उसके 'दि एपीसल टू द पीसोज़ अथवा आर्ट ऑफ़ पोयट्री' में वर्णित हैं। औचित्य का ध्यान रखो। ऐसा न करो कि स्त्री का सर घोड़े की गर्दन और किसी पक्षी के शरीर पर रख दो। हाँ, कवियों को सब प्रकार के साहस का अधिकार प्राप्त है। फिर भी प्रकृति और व्यावहारिक बुद्धि असंगत बातों को मिलाने से रोकती है। अलंकरण विषयानुकूल होना चाहिये। इन बातों का ध्यान रखो कि कहीं संक्षेप होने में अस्पष्ट न हो जाओ, स्पष्टता के प्रयास में बलहीन न हो जाओ, उड़ान के पीछे बृहच्छब्दस्फीत न हो जाओ, सादगी का गौरव प्राप्त करने में नीरस न हो जाओ, और विभिन्नता के उद्देश्य की पूर्ति में अमर्यादित न हो जाओ। विषय अपनी शक्ति को ध्यान में रख कर बाँटो। शब्दों की छाँट में रिवाज का ख्याल रखो। जिस प्रकार की कविता में जैसा छंद का प्रयोग चला आ रहा है उससे न हटो। काव्यों के पात्र अब तक जैसे चित्रित होते आये हैं वैसे ही चित्रित होते रहने चाहिये, एकीलीज़ को सदा असहिष्णु, कठोर, और घमण्डी चित्रित करना चाहिये और मैडी को रुधिरप्रिय और प्रतिशोधनोत्सुक चित्रित करना चाहिये। नये विषयों की अपेक्षा पुराने विषय अधिक अच्छे हैं। पुराने विषयों पर नया प्रकाश डाल कर मौलिकता दिखाना ज्यादा ठीक है। किसी प्रबंध का आदि शब्दाडम्बरपूर्ण शैली में नहीं

होना चाहिये। आग जलाकर धुंए में अन्त करने से धुंए से आग जलाना अधिक चित्तवशकर होता है। अपने पाठक को धीरे-धीरे ऊपर उठाना चाहिये। जीवन चित्रण में साधारणीकरण सविवेक हो, बच्चे को बुडढे के गुण देना और बुड्ढे को जवानों के गुण देना अनुचित है। प्रत्येक नाटक में पांच अंक होने चाहिये और एक दृश्य में तीन पात्रों से अधिक न बोलें। कार्य की कमी को गायकगण पूरी करें, उनके भाव नैतिक और धार्मिक हों। हास्य और करुण का सम्मिश्रण अनुचित है। हर प्रकार के लेख को जितना माँजा जाय उतना अच्छा। अचिन्तित और प्रेरित रचना की चर्चा सारहीन है। जीवन और दर्शन का कवि को जितना ज्ञान हो उतना ही थोड़ा। (राजशेखर भी अपनी 'काव्यमीमांसा' में कहता है कि विना सर्वज्ञ हुए कवि होना असम्भव है) कवि शिक्षा दे, अथवा सुख दे, अथवा शिक्षा और सुख दोनों दे। दोषों से बिल्कुल बचने की कोशिश ज्यादा आवश्यक नहीं, पर दोषों से जितना बचा जाय उतना अच्छा। (इस विषय में लॉञ्जायनस की यह उक्ति ध्यान में रखने के योग्य है कि मनुष्य की श्रेष्ठता उस ऊँचाई से जानी जाती है जिस तक वह चढ़ जाता है और उस नीचाई से नहीं जिस तक गिर जाता है) मध्य श्रेणी की कविता असह्य है। कविता या तो उदात्त ही होती है नहीं तो दूषित और घृणित ही। अपनी रचना को प्रकाशित करने की जल्दी न करो परन्तु अपनी और दूसरों की आलोचना से उसे ठीक करते रहो। इन नियमों में बड़ी ऊँची बातें नहीं हैं और इन नियमों का पालन करके कोई मध्यम श्रेणी का कवि ही बन सकता है। फिर भी पुनरुत्थान और नवशास्त्रीय कालों में हौरेस का बड़ा आदर था; नवशास्त्रीयकाल में तो उसका अरिस्टॉटल से भी अधिक आधिपत्य था। इन नियमों से हौरेस ने शास्त्रीय मत की स्थापना की।

मध्यकालीन विचार सामूहिक था, स्वतंत्र और वैयक्तिक न था। स्वभावतः आलोचना के अनुकूल न था। बीथियस का मानदण्ड प्लैटो का है। काव्य देवियाँ मनुष्यों को मधुर विष पिलाती हैं, बुद्धि के प्रचुर फल का विनाश करती हैं, और दर्शन देवी को आते देखकर खिसक जाती हैं। सेण्ट ऑगस्टिन भी साहित्य के सुख को राक्षसी सुख बताता है। डाण्टे अकेला ही आलोचना का ऐसा महान् उदाहरण है जिसने बिना धार्मिक पक्षपातों के साहित्य की परीक्षा की। वह हौरेस से काव्य शक्ति और आलोचनात्मक प्रेरणा में कहीं बढ़ा चढ़ा था। उसके निर्णयात्मक मानदण्ड उसकी 'डे वल्गैराई एलोक्विओ' की दूसरी पुस्तक से निकाले जा सकते हैं। इस पुस्तक में वह कविता के लिये सांस्कृतिक भाषा की उपयुक्तता की माँग करता है। उसके विचार ये हैं। उत्कृष्ट कविता सांस्कृतिक भाषा ही में हो सकती है। उत्कृष्ट कविता के विषय युद्ध, प्रेम, और धर्म होते हैं। कवियों के अभ्यास में भी यही स्पष्ट है और दार्शनिक विचार से भी। मनुष्य—पौधा-जातीय-पशुजातीय बौद्धिक प्राणी है। पौधाजातीय होते हुए बढ़वार के लिये रक्षा चाहता है जिसके लिये उसे शत्रुओं से लड़ना पड़ता है; पाशविक होते हुए भिन्न

लिङ्ग पर आसक्ति की उसमें प्रवृत्ति है; और बौद्धिक होते हुए धर्म और नीति के पालन करने में तत्पर होता है। उत्कृष्ट कविता का पद ग्यारह मात्रा का होता है। डाण्टे कविता की परिभाषा ऐसे करता है, "कविता वाग्मितापूर्ण पद्यबद्ध कल्पित कथा के अतिरिक्त और कोई चीज नहीं है।" इस परिभाषा में कल्पित कथा जातिसूचक है और वाग्मिता और पद्यात्मकता पार्थक्यसूचक हैं; कल्पना और पद्यात्मकता इस प्रकार कविता के दो मुख्य लक्षण हो जाते हैं। महान् शैली के लक्षण डाण्टे के अनुसार चार हैं; अर्थगुरुता जो युद्ध, प्रेम, और धर्म उपर्युक्त विषयों के प्रयोग से आती है; पद्यचमत्कार जो ग्यारह मात्राओं के पद के प्रयोग से आता है; शैली की उत्कृष्टता जो सालंकार भाषा के प्रयोग से आती है; और शब्दसंग्रह की श्रेष्ठता जो मध्य आकार के शब्दों के प्रयोग से आती है। डाण्टे मुख्यतः रूप का आलोचक है गोकि जैसा स्पष्ट है विषय वस्तु की ओर भी वह ध्यान देता है। यदि कविता रूप सौष्ठव में उच्च श्रेणी की है तो वह ही सराहनीय है। इस विषय में उसकी दो उक्तियाँ स्मरणीय हैं। पहली है कि जो कुछ संगीत के नियमों के अनुसार पदों में व्यक्त हो चुका है एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवादित नहीं हो सकता। इससे स्पष्ट है कि डाण्टे को रूप सौष्ठव का ज्यादा ख्याल है क्योंकि अनुवाद में विषय तो ज्यों का त्यों रहता है परन्तु रूप सौष्ठव की हानि होती है। दूसरी उक्ति है कि किसी भाषा की आन्तरिक शक्ति उसकी गद्य में आंकी जाती है न कि उसकी पद्य में। भारतीय विचार के अनुसार भी गद्य को कवि की कसौटी कहते हैं, गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति। यहाँ भी डाण्टे का ध्यान अर्थ की अपेक्षा शब्द और शब्द योजना की ओर अधिक है। काव्यगुण निर्णय करने का डाण्टे का मानदण्ड रूप का सौन्दर्य है।

पुनरुत्थान के समय कई प्रभाव ऐसे क्रियाशील थे जिन्होंने योरोपीय मस्तिष्क को स्पष्टतया आलोचनात्मक मनोवृत्ति प्रदान की। जागीरदारी की प्रथा का केन्द्रित राज्य में परिवर्तन, प्राचीन शास्त्रों का अध्ययन, भ्रष्ट पादरी जीवन का स्पष्ट विरोध—ये ऐसी बातें थीं जिन से राजनीतिक, सांस्कृतिक, और धार्मिक क्षेत्रों में क्रान्ति पैदा हो गई। क्रान्तिकारी वृत्ति जो आलोचना से उत्तेजित होती है स्वयं आलोचना को वृद्धि भी देती है। शैतान ही तो पहला आलोचक था जिस ने भगवान के विरुद्ध स्वर्ग में क्रान्ति फैलाई और जिसने फिर नरक में पहुँच कर अपने अनुयायियों को आलोचनात्मक व्याख्यान दिये। पुनरुत्थान में मुद्रणकला द्वारा विचारों के प्रसार ने आलोचनात्मक प्रक्रिया को और प्रवर्तक-शक्ति दी। साहित्य में आलोचनात्मक प्रवृत्ति को नई भाषाओं की कमजोरी, ग्रीक और लैटिन आलोचना की पुनर्प्राप्ति, और प्योरीटन आक्रमणों के विरुद्ध प्रतिवाद ने और मदद दी। पुनरुत्थान की पहली अवस्थाओं में इटली आलोचनात्मक संस्कृति का घर था और इटली के आलोचक योरोप भर में तब तक सम्मानित रहे जब तक कि फ्रांस के आलोचक सत्तरहवीं शताब्दी में उच्चतर पद को न प्राप्त हुए। विडा का मत है कि कवियों को शास्त्रीय

लेखकों का अनुकरण करना चाहिये, विशेषतया वर्जिल का जो कि होमर से बढ़ा चढ़ा था। वह वर्जिल को सब गुणों का प्रतिमान और सब श्रेष्ठताओं का आदर्श मानता है। डैनीलो सुख और शिक्षा देने के अतिरिक्त कविता का उद्देश्य आवेग और सानन्दाश्चर्य का उत्तेजित करना भी मानता है। फ्राकैस्टौरो अरिस्टॉटल के अनुकरणात्मक सिद्धान्त के प्रत्ययात्मक तत्त्व को स्पष्ट करता है, कवि वस्तुओं के सादे और तात्विक सत्य का वर्णन करता है, वह नग्न वस्तु का वर्णन नहीं करता वरन् सब प्रकार के आभूषणों से सजा कर उस के प्रत्यय का वर्णन करता है। फ्राकैस्टौरो के समय तक सौंदर्य के तीन विचार प्रचलित थे। पहला शुद्ध अनात्मिक विचार था जिसके अनुसार सौंदर्य स्थिर और रूपात्मक माना जाता है, वही वस्तु सुन्दर कही जा सकती है जो किसी यांत्रिक अथवा रेखागणित विषयक रूप के समान हो जैसे गोलाकार, सम-चतुर्भुजाकार और सारल्य। दूसरा प्लैटो संबंधी विचार था जिस के अनुसार शिव, सत्य, और सुन्दर को समान माना जाता है; तीनों दैविक शक्ति के प्रकटन हैं। तीसरा सौंदर्य शास्त्रसम्बन्धी विचार था जिसके अनुसार सौंदर्य को उन सब उपयुक्तताओं के अनुरूप माना जाता है जो किसी वस्तु से सम्बन्धित की जा सकती हैं। यह विचार आधुनिक विचार के निकट आ जाता है जिसके अनुसार सौंदर्य किसी पदार्थ के वास्तविक लक्षण का प्रत्यक्षीकरण है अथवा उसके अस्तित्व के नियम की सिद्धि है। इतिहासकार अपने लेख को इतिहास सम्बन्धी सौंदर्य ही दे सकता है, दार्शनिक दर्शन सम्बन्धी सौंदर्य दे सकता है, परन्तु कवि अपने लेख को सब प्रकार के सौंदर्य से सजा सकता है। वह किसी एक क्षेत्र के सौंदर्य ही की धारणा नहीं करता, वरन् उन सब सौंदर्यों की जो किसी वस्तु के शुद्ध प्रत्यय से सम्बन्ध रखती हैं। इस प्रकार कवि और सब लेखकों से श्रेष्ठ है क्योंकि वह अपनी वर्णित वस्तु को सम्पूर्ण सौंदर्य में प्रदर्शित करता है। मिन्टरनो के मतानुसार कवि को सदाचारी और विद्वान् पंडित होना चाहिये। यदि वह प्रतिभाशाली हो तो नियमों का उल्लंघन कर सकता है। स्कैलीगर कवि के पाण्डित्य पर ज़ोर देता है। जिराल्डी सिन्थियो करुण और हास्य पर अपने विचार व्यक्त करता है। करुण के पात्र ऊँची पदवी के होते हैं और हास्य के साधारण और नीची पदवी के। करुण महान् और भयानक घटनाओं का वर्णन करता है और हास्य सुजान और घरेलू बातों का। करुण सुख से दुःख की ओर परिवर्तित होता है और हास्य बहुधा दुःख से सुख की ओर। करुण की शैली और वार्त्तालाप उत्कृष्ट और उदात्त होती है और हास्य की अपकृष्ट और सालापिक। करुण के विषय अधिकांश ऐतिहासिक होते हैं और हास्य के कवि के आविष्कृत। करुण का वातावरण अधिकतया निर्वासन और रक्तपात का होता है और हास्य का प्रधानतः प्रेम और संग्रहण का। कैस्टेलवैट्रो का ध्यान भी नाटक की आलोचना की ओर जाता है। वह उसी नाटककार को सफल मानता है जो अपने नाटक में वस्तुसंकलन, कालसंकलन, और देशसंकलन तीनों में से

नियमों को भंग नहीं करता और जो रंगमंचीय सत्याभास देता है। टासो ने रोमांटिक महाकाव्य का आदर्श निश्चित किया है। उसमें विषय की आनन्दप्रद विभिन्नता के साथ-साथ महाकाव्य का वास्तविक वस्तु संकलन भी होता है। रोमांटिक वीर काव्य की यह विशेषताएँ बताया है। विषय ऐतिहासिक होना चाहिये। ऐतिहासिकता से काव्य में सत्य का आभास होने लगता है और पाठक को भान होता है कि लिखित बातें सब प्रामाण्य हैं। वीर काव्य में सच्चे धर्म का अर्थात् ईसाई मत का वृत्तांत होना चाहिये, झूठे मत का नहीं; यूनानी धर्म की बातें वीर काव्य के लिये ठीक नहीं क्योंकि उसमें अद्भुत तत्त्व तो है परन्तु संभाव्य नहीं और वीर काव्य के लिये दोनों आवश्यक हैं। काव्य में धर्म की ऐसी कट्टर बातों का समावेश न होना चाहिये जिनका थोड़ा बहुत परिवर्तन कर देना अधर्म का दोष ले आवे और कवि की कल्पना बाधित हो जाय। विषय वस्तु न तो अधिक प्राचीन हो, न अधिक आधुनिक हो; क्योंकि यदि बहुत प्राचीन हुई तो उस में ऐसे अनोखे रीति रिवाजों का वर्णन आवेगा जिसमें पाठक का अनुराग कठिनाई से हो सकता है और यदि विषय वस्तु बहुत आधुनिक हुई तो उसमें सम्भाव्य सहित अद्भुत बातों का लाना कठिन हो जायगा। शार्लमेन और आर्थर के काल उचित माने जा सकते हैं। घटनाएँ महत्त्वपूर्ण होनी चाहिये। नायक भद्र और आदिपालक होना चाहिये। पैट्रिज़ी का कहना है कि कविता किन्हीं विशिष्ट विषयों से सीमित नहीं है, उसमें कला, विज्ञान, इतिहास सब विषयों का निरूपण हो सकता है, बस बात यह है कि शैली काव्यमय हो।

पुनरुत्थान काल की अंग्रेज़ी आलोचना न इतनी प्रचुर है, न इतनी प्रभावशाली और विनिश्चयापूर्ण है जितनी कि इटली की। परन्तु उसका अध्ययन इस बात को स्पष्ट कर देता है कि पुनरुत्थान काल में आलोचनात्मक सिद्धान्त उपलब्ध थे और इस उपलब्धि में इंगलैण्ड का भी पूरा भाग था। दूसरी बात जो यह अध्ययन स्पष्ट करता है वह यह है कि किस प्रकार अंग्रेज़ी आलोचना में शास्त्रीयता का प्रचार बढ़ा। अंग्रेज़ी आलोचना के विकास की पहली अवस्था में आलोचकों ने आलंकारिकता, रूप, और शैली की ओर ध्यान दिया। दूसरी अवस्था में भाषा और पद्ययोजना के प्रश्नों को हल किया। तीसरी अवस्था में कविता का दार्शनिक विचार से अध्ययन, विशेषतया इस हेतु से कि किस प्रकार उसे प्यूरिटनों के आक्रमण से बचाया जाय जो कविता को झूठी और कलुषीकारक कह कर दूषित करते थे। चौथी अवस्था में कविता का अध्ययन काव्य रचना और आलोचनात्मक सिद्धान्तों के समर्थन के उद्देश्यों से हुआ। इस काल के सिडनी, बैन-जॉन्सन, और बेकन तीन ऐसे आलोचक हैं जिनसे साहित्य परीक्षा के मानदण्ड मिलते हैं। सिडनी कविता को अरिस्टॉटिल की तरह अनुकरण मानता है। आलंकार भाषा में उसे बोलती हुई तस्वीर कहता है जिसका उद्देश्य सुख और शिक्षा देना है। छंद कविता के लिये तात्त्विक नहीं है, वह उसका आवश्यक आभूषण है। कविता नीति की शिक्षा देती है, और मनुष्य के जीवन को उन्नत कर

तक ले जाने में समर्थ होती है। कविता नैतिक ज्ञान ही नहीं देती वरन् नैतिक जीवन व्यतीत करने की उत्तेजना भी देती है। कवि तत्त्ववेत्ता और इतिहासकार दोनों से उच्चतर है। तत्त्ववेत्ता तो नीति और अनीति का स्पष्टीकरण करता है और अपने अनुयायियों को आदेश देता है, परन्तु कवि नैतिक आदेश को एक कल्पित व्यक्ति के जीवन में अनुप्राणित कर एक प्रभावोत्पादक उदाहरण पेश करता है। इतिहासकार किसी सांसारिक महान् व्यक्ति के जीवन का वृतान्त देता है जिसको पढ़कर पाठक को यह विश्वास नहीं हो पाता कि जिन नियमों का पालन करके उस महान् व्यक्ति ने यश और गौरव पाया वे व्यापक महत्त्व के हैं, परन्तु कवि साधारणीकरण शक्ति के द्वारा पाठक को नियमों का प्रभाव कारण-कार्य रूप में दिखाता है। इतिहास में कभी कभी बुरे आदमी सफल हो जाते हैं और कभी कभी भले आदमी विफल हो जाते हैं और साहित्यकार उनके जीवन को वैसे ही वर्णित करता है, परन्तु कवि भले आदमी को सदा सफल कर दिखा सकता है और बुरे आदमी को सदा विफल कर दिखा सकता है। इसी विशेषता से कविता को अज्ञानी पुरुष झूठा कह देते हैं। वे ऐतिहासिक सत्य और काव्य-मय सत्य में भेद नहीं कर सकते। बैनजॉन्सन की रुचि व्यवस्था, एकरूपता, और शास्त्रीयता की ओर थी। उसने बड़े पाण्डित्य से उन सब बातों को कह डाला है जिन्हें अंग्रेजी आलोचक ऐस्कन से लेकर पटनहम तक कहने का प्रयास कर रहे थे और वह ड्राइडन, पोप, और जॉन्सन के मत की रूप रेखा निश्चित करता है। नाटक प्रणयन में वह शास्त्रीय मत का प्रकाशक है और नियमों का बड़ा निर्भीक प्रतिपादक है, गो कि अभ्यास में वह काल और देश संकलन और गायकगण-संबंधी नियमों का उल्लंघन करता है। करुण के लेखक को नियमों के पालन के साथ साथ वस्तु की सत्यता, पात्रों की गंभीरवृत्ति, वक्तृत्व की उत्कृष्टता सारपूर्ण वाक्यों की बहुतायत पर ध्यान देना चाहिये। बैनजॉन्सन ने करुण की अपेक्षा हास्य का अधिक विस्तृत विवरण दिया है। हास्य के अंग वे ही हैं जो करुण के हैं और करुण की तरह हास्य का उद्देश्य भी सुख और शिक्षा देना है। हास्य मनुष्य के छोटे छोटे दोषों को रंगमंच पर खोल दिखाकर उन्हें उपहास्य बताता है ताकि दर्शक लोग अपने ऐसे दोषों पर स्वयं दृष्टि डालें और उन्हें छोड़ें। जैसे करुण शोक और भय द्वारा नैतिकता का उद्देश्य पूरा करता है वैसे ही हास्य छोटे परिमाण के कमीनेपन और बेवकूफी की हँसी उड़ाकर नैतिकता का उद्देश्य पूरा करता है। दोनों में क्रिया सुधारक है, बस उपकरण का अंतर है। करुण ऊँची और असाधारण बातों से मतलब रखता है और हास्य छोटी बातों से, जो साधारण अनुभव की होती हैं; हास्य में अंतर्वेगों का द्वन्द्व और घटनाओं का भाग्य से और उनका परस्पर संघर्ष दिखाया जाता है, करुण में [illegible] का भेद और कूटयुक्तियों की सफलता अथवा विफलता दिखाई जाती है। हास्य में [illegible] की विशेषता यह है कि उसका कोई बाह्य आधार नहीं होता, [illegible] का आन्तरिक प्रभाव ही कृत्य का रूप दृढ़ करता है। ऐसे

सादृश्य के आधार पर ही बैन जॉन्सन ने हास्य का विवेचन किया। हास्य का मुख्य उद्देश्य हँसी और विनोद नहीं, वे उसके साधक हैं। हास्य के लेखक को उन्हें मुख्य उद्देश्य बनाने के विलोभन से बचते रहना चाहिये। यदि इस विलोभन में पड़ गया तो संभव है कि वह घोर पापों का प्रदर्शन कर उनकी ओर हँसी दिलाने की चेष्टा करने लगे। इससे हास्य का उद्देश्य मारा जायगा क्योंकि घोर पापों की ओर घृणा उत्पन्न करना चाहिये न कि हँसी। हँसी उत्पन्न करने के विलोभन में यह भी खतरा है कि हास्य का लेखक अतिवाद में पड़ जाय; और अतिवाद प्रहसन (फार्स) में ठीक है, हास्य में गलत। प्रचलित सुखान्त हास्य को बैन जॉन्सन निंदनीय मानता है। ठीक हास्य समाज का सुधारक होता है। इस धारणा से उसने स्वभाव (ह्यूमर) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। पृथ्वी, जल, वायु, और अग्नि इन चार तत्त्वों के अनुरूप मनुष्य के शरीर में कृष्ण पित्त, कफ, रक्त, और पित्त इन चार द्रव्यों का संचार है। जब ये चारों द्रव्य ठीक ठीक अनुपात में किसी मनुष्य में विद्यमान होते हैं तो मनुष्य का मानसिक और नैतिक स्वास्थ्य अच्छा रहता है। यदि इनमें से किसी एक द्रव्य का अनुपात अधिक हो जाय तो मनुष्य का स्वभाव अधिक मात्रा वाले द्रव्य की विशेपता दिखायेगा। यदि मनुष्य में कृष्ण पित्त अधिक हुआ तो उसका स्वभाव निरुत्साह होगा, यदि उसमें कफ का अनुपात ज्यादा हुआ तो उसका स्वभाव मंद होगा, यदि उसमें रक्त का अनुपात ज्यादा हुआ तो उसका स्वभाव उल्लसित होगा, यदि उसमें पित्त का अनुपात ज्यादा हुआ तो उसका स्वभाव क्रोधी होगा। हास्य का उद्देश्य मनुष्य के व्यवहार में उन तत्त्वों का निरीक्षण करना है जो या तो उसमें नैसर्गिक रूप से प्रधान होते हैं या जो जीवन व्यापार में उत्तेजना पाने पर दूसरे तत्त्वों को दबाकर अपनी सीमा से बढ़ जाते हैं। ऐसा निरीक्षण भिन्न भिन्न स्वभाव वाले बहुत से मनुष्यों में किया जाय और जब बिगड़े हुये स्वभावों का एक दूसरे से संघर्ष हो तो इन व्यतिक्रमों का अनैतिक प्रभाव प्रदर्शित किया जाय। मान लो कि हम किसी आदमी को लोभी कहते हैं क्योंकि लोभ उसकी विशेपता है और उसके लिये लोभ स्वाभाविक है, यह आदमी जीवन व्यापार में इस प्रकार काम कर सकता है कि लोभ की प्रवृत्ति उभरने न पाये, और मूर्खों अथवा शैतानों के बीच में पड़ जाने से ऐसा भी व्यवहार कर सकता है जिससे उसकी लोभ की प्रवृत्ति दूसरी प्रवृत्तियों पर आधिक्य पा जाये। पहली दशा में मनुष्य अपने स्वभाव के अंतर्गत कहा जायगा और दूसरी दशा में अपने स्वभाव के बहिर्गत कहा जायगा। दोनों दशाओं में हास्य को अवकाश है और प्रश्न केवल परिमाण का है। पिछली दशा नाटककार को अधिक प्रिय है क्योंकि आधिक्य रंगमंच पर अधिक प्रभावोत्पादक होता है और आधिक्यों के संघर्षों का प्रदर्शन अधिक शिक्षाप्रद होता है। इस सिद्धान्त पर हास्य लिखने में पात्र कठपुतली की तरह रूक्ष और एक रूप हो सकते हैं और वे सरल तो हो ही जाते हैं, और वे आन्तरिक-शक्ति की न्यूनता के कारण जीवित से भी प्रतीत नहीं होते।

परन्तु बैनजॉन्सन का हास्य विषयक मानदण्ड यहाँ स्पष्ट है। कविता के विषय में पहली बात जो बैनजॉन्सन की आलोचना में एकदम द्रष्टव्य है वह कवि की नैतिकता है। बिना सदाचारी हुए कवि अच्छी कविता नहीं कर सकता। अपनी 'डिसकवरीज़' में कवि की आवश्यकताओं का वर्णन देते हुए बैनजॉन्सन कहता है कि कवि में उपयुक्त स्वाभाविक बुद्धि हो, क्योंकि बहुत सी दूसरी कलाएँ नियमों और आदेशों के परिपालन से भी आ सकती हैं, परन्तु कवि जन्मना ही होता है। दूसरी आवश्यकता कवि में जन्मप्राप्त बुद्धि का अभ्यास है। बहुत से पद जल्दी लिख डालने से ऊँची श्रेणी की कविता नहीं आ सकती। काट छांट और पदों को धीरे-धीरे मांजना आवश्वक है। अच्छा लिखने से जल्दी लिखना आता है न कि जल्दी लिखने से अच्छा लिखना। वर्जिल कहा करता था कि वह अपनी कविताओं को पीछे से ऐसे रूप देता था जैसे रीछनी अपने बच्चों को डालकर फिर चाट चाट कर उन्हें रूप देती है। तीसरी आवश्यकता अनुकरण की है। किसी महान् कवि को छाँट कर उसका ऐसे अनुकरण करना कि धीरे धीरे स्वयं उसी कवि के समान हो जाना, जैसे वर्जिल और स्टेटिअस ने होमर का अनुकरण किया था। अनुकरण दास तुल्य न हो। चौथी आवश्यकता अध्ययन की सूक्ष्मता और विस्तार, ऐसा अध्ययन जो जीवन का अंश हो जाय और उचित समय पर काम आ जाय। पाँचवीं आवश्यकता नियमों का ज्ञान है, क्योंकि बिना नियमों के ज्ञान के प्रतिभा का नियंत्रण और उससे पैदा हुए भावों का व्यवस्थापन संभव नहीं। इस प्रकार लिखी हुई कविता को कवि ही जाँच सकता है, कविता की समीक्षा की शक्ति कवियों में ही होती है। बेकन ने इतिहास का निर्देश मेधा से, दर्शन का ज्ञानशक्ति से, और कविता का कल्पना से मान लेने में परम्परा का अनुसरण किया। नाटक को उसने सारंगी बजाने वाले का गज़ कहा जिससे निकली हुई तान द्वारा बड़े बड़े मस्तिष्क प्रभावित हो सकते हैं। रंगशाला में नाटक के अद्भुत प्रभाव का कारण सामूहिक मनोवृति बताई। जब बहुत से दर्शक एक जगह एकत्रित होते हैं तो उनमें रस का संचार आधिक्य पा जाता है। कविता कल्पनामय ज्ञान है। उसका स्रोत मनुष्य की इस संसार से असन्तुष्टि है। सांसारिक गौरव, सांसारिक व्यवस्था सांसारिक विभिन्नता मनुष्य को सन्तुष्ट नहीं करती और वह अपनी कल्पना से वास्तविक गौरव से अधिक श्रेष्ठ गौरव, वास्तविक व्यवस्था से अधिक पूर्ण व्यवस्था और वास्तविक विभिन्नता से अधिक सुन्दर विभिन्नता सोच सकता है। कविता वस्तुओं के रूप को मानसिक इच्छाओं के अनुरूप परिवर्तित कर देती है। बेकन का मानदण्ड कल्पनात्मक गुण है।

सत्रहवीं शताब्दी के फ्रान्सीसी आलोचकों के नियम फ्रान्स ही में नहीं वरन् समस्त यूरोप में सम्मानित थे। इनमें से तीन अधिक माननीय हैं, बोयलो, रैपिन, और ली बौसू। बोयलो की 'एल आर्ट पोयटीक' से यह मत यहाँ उल्लेखनीय है। [illegible] विषय में चाहे वह मोदजनक हो चाहे उदात्त, विवेक अवश्य

होना चाहिये । पद-रचना से अधिक मूल्यवान विवेक ही है और इसी से काव्य में गुण और चमक पैदा होती है । बहुत से कवियों को इस बात का मान होता है कि उन की कविता में ऐसी अद्भुत बातें हैं जो आज तक किसी दूसरे ने नहीं लिखीं । यह सब अनुचित है । कविता विवेकपूर्ण होनी चाहिये ।.. ...कविता में कोई अविश्वसनीय बात नहीं होनी चाहिये, जिस बात में विश्वास नहीं उससे मन कैसे प्रभावित हो सकता है ।.. ...यदि तुम अपनी कविता को प्रिय बनाना चाहते हो तो तुम्हारी काव्य-शैली आनन्दपूर्ण होनी चाहिये । सौरस्य के साथ-साथ सार और उपयोगिता भी होनी चाहिये ।.....प्रकृति ही हमारा अध्ययन होनी चाहिये ।.... हम प्रकृति से कभी विमुख न हों । बोयलो का मत इस बात पर आधारित है कि प्रत्येक साहित्यिक रूप की सम्पूर्णता की चरम सीमा अथवा मर्यादा है । रचनात्मक कलाकार इस मर्यादा को पूरी तरह समझे और आलोचक इसी के मानदण्ड से साहित्य समीक्षा करे । इस मत में वस्तु के विषय में प्रार्थना की कचहरी विवेक अथवा प्रकृति है और प्रणयन के विषय में प्रार्थना की कचहरी रुचि है। रैपिन अपनी 'रिफ्लेक्शन्स सर ला पोयटीक' में कविता पर अपने विचार प्रकट करता है । वह प्लेटो और अरिस्टॉटिल के इस मत का प्रतिवाद करता है कि कविता में चित्तक्षिप्ति का प्रवेश होना चाहिये । चित्तविक्षेप का कविता से कोई संबंध नहीं ।.....कविता गुण का प्रयोग उपदेश के लिये करती है ।.........
अरिस्टॉटिल के नियम प्रकृति के व्यवस्थापन हैं ।.....यदि किसी नाटक में संकलन त्रय न हो तो उसमें सत्याभास भी नहीं आ सकता । ले बोस्यू महाकाव्य में अरिस्टॉटिल और हौरेस को नियमों के संबंध में और होमर और वर्जिल को आधार के संबंध में सब अधिकार देता है ।

नवशास्त्रीय काल की रूप रेखा बेन जॉन्सन और बोयलो में निश्चित हो जाती है । आलोचनात्मक एकरूपता इस काल की मुख्य विशेषता है । मिल्टन कहता है कि शिक्षणपूर्णता में कविता तर्क और वाग्मिता से दूसरी श्रेणी की है और शिक्षणपूर्ण होने के लिये कविता सरल, इन्द्रियमूलक, और आवेगमय होनी चाहिये । ड्राइडन आलोचना को शिक्षण के उद्देश्य से बचाकर उसे सैद्धान्तिक, तुलनात्मक, और ऐतिहासिक बनाता है । वह कवि आलोचक था । साहित्य में उस का सच्चा अनुराग था, उसने प्राचीन ग्रीक और रोमी साहित्य खूब पढ़ रखा था, और तत्कालीन यूरोप के साहित्य का भी उसे अच्छा ज्ञान था । नाटक को ड्राइडन जीवन का जीवित चित्र मानता है । इसी कारण वह ऐसे नाटकों से जो नियमों का पालन करते हों पर जीवन चित्रण में कृत्रिम हो जाते हों उन नाटकों को ज्यादा अच्छा समझता है, जिनमें नियमों का चाहे उल्लंघन हो, परन्तु उनमें अकृत्रिमता हो । वह करुण-हास्य के पक्ष में है । करुण-हास्य अधिक सुखमय होता है । यह बात नहीं मानी जा सकती कि करुण और प्रमोद एक दूसरे को निष्फल बना देते हैं, सच यह है कि सम्मिश्रण में वे एक दूसरे को और फलीभूत कर देते हैं । यदि वस्तु के साथ किसी नाटक में उपवस्तु भी हो और उपवस्तु के

होने से अस्तव्यस्तता न आये तो उपवस्तु का प्रयोग दोष की जगह गुण माना जायगा। नाटक के चित्रित कृत्य और वर्णित कृत्य में ठीक सामञ्जस्य हो, एलीज़ैबैथ के काल का नाटक कृत्य को अधिक दिखाता है और फ्रान्स का नाटक कम दिखाता है; नाटककार को दोनों के बीच का रास्ता पकड़ना चाहिये। करुण की भाषा के विषय में ड्राइडन का मत है कि वह पद्यात्मक होनी चाहिये, पहले तो तुकान्त पद्य के पक्ष में था और पीछे से अतुकान्त के पक्ष में हुआ। वह पद्यात्मक भाषा के प्रयोग का समर्थन इस विचार से करता है कि उसके द्वारा एक ऐसा वातावरण तैयार हो जाता है जिसमें काव्य की आदर्शवादिता अच्छी तरह ग्रहणीय होती है। इसमें शक नहीं कि पद्यात्मक भाषा से अकृत्रिमता तो आ ही जाती है क्योंकि जीवन में पद्यात्मक भाषा नहीं बोली जाती है और नाटक जीवन का अनुकरण होता है। नाटक के विषय में ड्राइडन का मत नियमों के कठोर बंधन से मुक्त होने का है। वह 'डिफ़ेन्स ऑफ़ दी ऐसे' में बिना हिचक के स्वीकार करता है कि कविता का प्रधान उद्देश्य सुख देना है, शिक्षा गौण। 'प्रैफ़ैस टू एन ईवनिङ्ग्ज़ लव' में हास्य और प्रहसन (फ़ार्स) में यह भेद लक्षित करता है। हास्य में पात्र निम्न श्रेणी के होते हैं पर उन के चरित्र और कृत्य निसर्गज होते हैं, उसमें, ऐसी वृत्तियाँ योजनाएँ और ऐसे साहसी कार्य प्रदर्शित होते हैं जो दिन प्रति दिन जीवन में मिलते हैं; प्रहसन में बनावटी वृत्तियाँ और अप्राकृतिक घटनाएँ होती हैं। हास्य मनुष्य स्वभाव की त्रुटियाँ हमारे सामने लाता है; प्रहसन ऐसी वस्तुओं से हमारा मनोरंजन करता है जो अमूलक और अपरूप होती हैं। हास्य ऐसे लोगों को हँसी दिलाता है जो मनुष्यों की मूर्खताओं और उन के भ्रष्टाचारों पर अपना निर्णय दे सकते हैं; प्रहसन ऐसे लोगों को हँसी दिलाता है जिनमें निर्णयात्मक शक्ति नहीं होती और जो असंभवकल्पक प्रदर्शन से खुश होते हैं। हास्य अवधारणा और उच्छृंखल कल्पना पर क्रियाशील होता है; प्रहसन उच्छृंखल कल्पना पर ही। हास्य की हँसी में अधिक संतुष्टि होती है; प्रहसन की हँसी में अधिक घृणा। इसी लेख में ड्राइडन करुण और हास्य का मुकाबिला करते हुए कहता है कि करुण के लिये काव्यात्मक न्याय (पोइटिक जस्टिस) आवश्यक है क्योंकि उसका उद्देश्य उदाहरण द्वारा शिक्षा देना है और हास्य में उसकी आवश्यकता नहीं क्योंकि उसका उद्देश्य सुख और आनंद है। वह 'ऑफ़ हीरोइक प्लेज़' में वीर नाटक के लिये अतिमानुष श्रेष्ठता और उत्कृष्ट शैली का पक्षपाती है। वीर नाटक महाकाव्य का संक्षिप्त रूप है। महाकाव्य में अतिमानुष पात्रों और उदात्त शैली के अतिरिक्त अलौकिक पात्रों और घटनाओं का समावेश भी होता है। करुण भी भाव में वीर होता है। उसकी रूपरेखा पहले से ही निर्दिष्ट है। नायक बृहद् आकार का होता है; नायिका सौन्दर्य और सातत्य में अद्वितीय होती है; बहुत से पात्रों के हृदय मान और प्रेम के बीच में विभक्त होते हैं; कहानी युद्ध और सामरिक उन्माद से परिपूर्ण होती है। समग्र वातावरण उत्कृष्ट आदर्शवादिता का होता है। वीर नाटक, महाकाव्य, और करुण में ड्राइडन के वीरकाव्य विष-

यक विचार स्पष्ट हैं। वह 'प्रेफ़ेस टू द ट्रान्सलेशन ऑफ ग्रोविड्स एपीसल्स' में अनुवाद का आदर्श पेश करता है। अनुवाद तीन प्रकार का होता है, यथाशब्दानुवाद जिसमें लेखक का एक भाषा से दूसरी भाषा में शब्दशः और पदशः अनुवाद होता है; शब्दांतरकरण जिसमें लेखक का ध्यान प्रतिक्षण रहता है परन्तु उसके शब्दों का इतना ध्यान नहीं किया जाता जितना उसके आशय का; अनुकरण जिसमें अनुवादक लेखक के शब्दों और आशय से भी ध्यानमुक्त हो जाता है और उससे केवल इशारा लेकर अपना स्वतंत्र लेख लिख डालता है। अनुवाद का काम इतना मुश्किल है जितना बंधे पैरों से रस्सी पर नाचना। पहले और तीसरे प्रकार के अनुवाद बहुधा असंतोषजनक ही होते हैं। दूसरे प्रकार का अनुवाद ही ठीक अनुवाद माना गया है और इसके अनुवादक का दोनों भाषाओं पर पूरा प्रभुत्व होना चाहिये और अपनी प्रतिभा को मौलिक लेखक की प्रतिभा के अनुरूप करने की क्षमता होनी चाहिये। 'ए पैरैलल ऑफ़ पोइट्री एण्ड पेन्टिङ्ग' में ड्राइडन चित्रकला के लिये आदर्शवाद का पक्ष लेता है। कला में प्रकृति के अनुकरण करने का अर्थ प्रत्यय को पा लेना है और अनुभव की नाना व्यक्तिभूत बातों को छोड़ देना है। जब चित्रकार के हृदय में सम्पूर्ण सौन्दर्य की मूर्ति समा जाती है तभी वह कला के पवित्र मन्दिर में प्रवेश करने का अधिकारी होता है। साहित्यिक रूपों का ड्राइडनकृत जैसा विश्लेषण अंग्रेज़ी आलोचना में नहीं हुआ था। ड्राइडन के बाद एडीसन ने आलोचनात्मक बल दिखाया, परन्तु उसमें कोई बड़ी मौलिकता न थी। महाकाव्य के उसके मानदण्ड अरिस्टॉटल के हैं। मिल्टन के 'पैरैडाइज लॉस्ट' की परीक्षा उसने वस्तु, पात्र, भाव और भाषा इन चार आधारों पर की और उनके गुण दोष बड़ी सूक्ष्मता से दिखाये। वस्तु की परीक्षा करते हुए उसने अरिस्टॉटल के मत से अपनी असहमति व्यक्त की। महाकाव्य का अंत सदा सुखमय होना चाहिये। वह महाकाव्य महाकाव्य नहीं जिसमें कोई उच्च उपदेश नहीं। इसलिये महाकाव्य में काव्यात्मक न्याय अवश्य होना चाहिये। काव्यात्मक न्याय के माने बुराई को दण्ड देना और भलाई को प्रतिफल देना है। कल्पना पर एडीसन के विचार हम पहले ही व्यक्त कर चुके हैं। वोर्सफोल्ड इन विचारों को इतना महत्त्वपूर्ण समझता है कि एडीसन को वह कल्पना को प्रेरणा देने के मानदण्ड से साहित्य की जाँच करने वाला पहला ही आलोचक बताता है। परन्तु जैसा हम पहले दिखा चुके हैं कल्पना को प्रेरणा देने का मानदण्ड अरिस्टॉटल और बेकन में भी निहित है। स्विफ्ट अपनी 'बैट्ल ऑफ़ बुक्स' में प्राचीन लेखकों की मधुमक्खियों से तुलना देता हुआ उनकी कलात्मक विशेषता को 'माधुर्य और प्रकाश' से प्रतिलक्षित करता है। यहाँ काव्य के प्रभाव से एक बड़ा संतोषजनक मानदण्ड निश्चित होता है। पोप के आलोचनात्मक विचार होरेस, बैनजॉन्सन, और बोयलो से मिलते जुलते हैं। वह शास्त्रीयता का पूरा पक्षपाती है। जब प्रकृति को प्रेरणा देने के मानदण्ड को प्रतिपादित करता है तो वह प्रकृति से एक ऐसी कृत्रिम प्रकृति समझता है जो नागरिक समाज की रीतियों के

अनुसार व्यवस्थित हो और जिसमें रूढ़ियों और साधारणीकरणों का पूरा अवकाश मिला हो। यदि किसी काव्य में ऐसी प्रकृति को प्रेरणा हो तो वह श्रेष्ठ काव्य है। इस काल का हमारा अंतिम आलोचक डाक्टर जॉन्सन है। उसने यूनान के साहित्य को पूरी तरह पढ़ा था, परन्तु लैटिन और मध्यकालीन साहित्य को उस ने इतना नहीं पढ़ा था। उसकी साहित्यिक संस्कृति के आदर्श ड्राइडन और पोप थे, इसी से उसकी नवशास्त्रीय प्रवृत्ति बड़ी बलवान हो गई थी। उसने आलोचनात्मक सिद्धान्तों पर अपने विचार मुख्यत: 'रैम्बलर' में व्यक्त किये हैं। मिल्टन की पद्य की आलोचना कहीं कहीं बड़ी शिक्षाप्रद है, विशेषतः यति के स्थान के विषय में। यति जितनी मध्यस्थित हो उतनी अच्छी। पंचगणात्मक पद में यति दूसरे या तीसरे गण के बाद होना चाहिये। सिद्धान्त यह है कि यति से विभक्त दोनों भाग संगीतमय होने चाहिये। यदि तीसरे अक्षर (सिलैबिल) और सातवें अक्षर के बाद यति हो तो भी भाग संगीतमय हो सकते हैं। लय गण की आवृत्ति से पैदा होती है। पहले गण के बाद तीसरे अक्षर के आते ही उसमें चौथे अक्षर की आकांक्षा होती है और लय की व्यंजना हो जाती है। इसी प्रकार सातवें अक्षर के बाद यति आने पर भी दोनों विभक्त भाग संगीतमय हो जाते हैं। पहले और दूसरे अक्षरों और आठवें और नवें अक्षरों के बाद की यति दूषित होती हैं। मिल्टन यति इन स्थानों पर भी लाता है और इस कारण उसकी पद्योजना दोषरहित नहीं कही जा सकती। 'रैम्बलर' के अगले एक नम्बर में आलोचक के दायित्व का वर्णन है। आलोचक पक्षपात से अलग हो, वह इस बात का घमण्ड न करे कि वह बड़े-बड़े कवियों और लेखकों का न्यायाधीश है, वह पुस्तक अथवा लेखक के समझने में जल्दबाज़ी न करे, वह यह न सोचे कि उससे तो गलती हो ही नहीं सकती। आलोचक स्वानुराग से पथभ्रष्ट हो सकता है, देशप्रेम उसके निर्णय को दूषित कर सकता है; जीवित लेखकों के प्रति वह अधिक कोमल हृदय हो सकता है। आलोचना का कर्तव्य शुद्ध बुद्धि के प्रकाश में सत्य दिखाना है। और अगले एक नम्बर में जॉन्सन नाटक के नियमों की परीक्षा करता है। अक्सर, नियम कल्पना की उड़ान को रोकते हैं। यह पुराना नियम कि रंगमंच पर तीन अभिनेताओं से अधिक न आयें, कोई अर्थ नहीं रखता; और जैसे जैसे नाटक में विभिन्नता और गहनत्व आये यह नियम भंग होने लगा। नाटक पाँच अंकों में विभक्त हो, इस नियम की आवश्यकता न तो दृश्य के गुण से और न उसके प्रदर्शन के औचित्य से दीख पड़ती है और आज कल तीन अंक के और एक अंक के बहुत से नाटक लिखे जा रहे हैं। काल संकलन का नियम यह चाहता है कि नाटक में जितनी घटनाओं का समावेश हो वे सब उतने समय में हों जितने समय में नाटक रंगमंच पर खेला जाता है। यदि दो अंकों के बीच में काफी समय दे दिया जाय तो कोई बुराई नहीं; क्योंकि वह भ्रम जिस पर खेल की सफलता निर्भर है अंकों के बीच के आये हुए समय से नष्ट नहीं हो सकता। करुण-हास्य को इस कारण बुरा कहा जाता

है कि उसमें तुच्छ और महत्त्वपूर्ण बातें साथ-साथ आती हैं और करुण का प्रभाव नष्ट हो जाता है यदि उसमें गम्भीरता की क्रमशः बाढ़ न हो। जॉन्सन का कहना है कि शेक्सपिअर इस बात का उदाहरण है कि उसने अपने करुण और हास्य रसों को बारी बारी से एक ही नाटक में बड़ी सफलता से दिखाया है। एक नाटक में एक ही प्रधान कृत्य हो और उसमें एक ही नायक हो ये नियम ठीक हैं। नियमों का बंधन कड़ा नहीं होना चाहिये। यदि कोई लेखक उन्हें तोड़ कर उच्चतर सौन्दर्य प्राप्त कर लेता है तो वह इस बात का साक्षी है कि प्रकृति रूढ़ि के ऊपर सदा विजय पाती है। 'प्रेफेस टू शेक्सपिअर' में शेक्सपिअर के पात्रों के विषय में जॉन्सन की यह उक्ति बड़ी सूक्ष्म है कि उनमें व्यापकता भी है और वैशिष्ट्य भी है। उत्कृष्ट कविता का यह पक्का चिह्न है; क्योंकि कवि किसी व्यापक आदर्श को लेकर किसी व्यक्ति में समाविष्ट करता है। आदर्शीकरण की इस वृत्ति का उल्लेख वह स्वयं 'रैसीलाज़' में करता है। कवि का कर्तव्य व्यक्तियों की परीक्षा करना नहीं वरन् व्यापक गुणों और रूपों का निरीक्षण करना है। जॉन्सन के मानदण्डों में पूरी शास्त्रीयता नहीं है। वह प्रकृति के अधिकार को रूढ़ि के ऊपर सदा उच्चता देता है।

अठारहवीं शताब्दी में जर्मनी का भी आलोचनात्मक उत्थान हुआ और नियमों के प्रति वही भावनाएँ प्रदर्शित हुईं जो इङ्गलैण्ड में। गौटशैड, अरिस्टॉटल के अनुसार वस्तु को ही काव्य की आत्मा मानता है और उन सब पात्रों और घटनाओं का निषेध करता है जिनमें सत्याभास न हो, जैसे मिल्टन का पैण्डिमोनियम और उसके सिन और डैथ दो पात्र। वह नियमों का पूरा अनुयायी था। गैलर्ट की प्रवृत्ति मध्यस्थावलम्बन की है। उसका कहना है कि नियम व्यापक रूप से उपयोगी हैं परन्तु प्रतिभा के लिये उनका उल्लंघन करने का अधिकार होना उचित है। लैसिङ्ग साफ कहता है कि नियम प्रतिभा को कष्ट पहुँचाते हैं। अरिस्टॉटल के प्रति तो उसकी श्रद्धा है परन्तु फ्रान्सीसी आलोचकों के प्रति उसकी कोई श्रद्धा नहीं, क्योंकि उन्होंने, उसके मतानुसार, नियमों की ऐसी उल्टी सीधी व्याख्या की जिससे अरिस्टॉटल का आशय कुछ का कुछ होगया। काण्ट और गटे साहित्य की परीक्षा में कलामीमांसा का आधार लेते हैं। काण्ट सौन्दर्य को किसी ऐसे उद्देश्य की उपयुक्तता का विशेष गुण बताता है जिसका किसी उपयोगी उद्देश्य से संबंध नहीं। गटे का कहना है कि कला और कविता में व्यक्तित्व सब कुछ है। वह बफ़ों का शब्दांतरकरण करता हुआ कहता है कि शैली लेखक की अंतरात्मा की सच्ची व्यञ्जना है। यह अचेतन शैली के विषय में निश्चित रूप से ठीक है, परन्तु इससे विषय निरूपण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ना चाहिये। उत्कृष्ट कविता में पूर्ण रूप से वास्तविकता होती है। जब वह बाह्य संसार से असम्बद्ध हो कर आत्मिक हो जाता है तभी वह पदच्युत हो जाती है। काव्यात्मक रचना सारपूर्ण होती है। प्रकृति जीवित और निरर्थक प्राणी को व्यवस्थित करती है; कला मृत और सार्थक प्राणी को व्यवस्थित करती है।

नवशास्त्रीय काल की यह विशेषता थी कि उसमें कुछ ऐसे आलोचनात्मक नियम प्रचलित थे जिन्हें अधिकांश में आलोचक मानते थे। रोमान्सिक काल में साहित्यालोचन के नियमों के प्रतिपादन में कोई एकरूपता नहीं। वर्ड्सवर्थ कविता को वेगपूर्ण अंतर्वेगों का स्वयंप्रवर्तित संप्लव कहता है। यह संप्लव याद की हुई अनुभूतियों पर मनोवृत्ति के संकेन्द्रण से उठता है। उसका विचार है कि अच्छी कविता कभी तत्कालविहित नहीं होती। उसकी अभिव्यञ्जना के लिये किसी विशेष वाक्सरणि की आवश्यकता नहीं होती। उसकी भाषा में और गद्य की भाषा में कोई तात्विक अंतर नहीं। साधारण बोलचाल की चुनी हुई भाषा कविता के लिये उपयुक्त है। यह भाषा छंदोबद्ध अवश्य हो क्योंकि कवि का उद्देश्य सुख देना है। 'पॉप्यूलर जजमैण्ट' नामक लेख में वर्ड्सवर्थ का मत है कि साहित्य का आनन्द सहृदय रुचि से लेता है। रुचि के तीन अर्थ माने जाते हैं: अध्ययनशील आलोचकों के मत की अनुरूपता; संवेदनशीलता; और अपने को लेखक के स्तर तक उठा लेने की शक्ति। जिस रुचि से सहृदय लेखक का आनन्द लेता है वह तीसरे अर्थ की रुचि है। बिना ऐसी रुचि की क्षमता के करुणात्मक और उदात्त साहित्य की उचित सराहना असंभव है। कोलरिज आलोचक होते हुए बड़ा सूक्ष्मदर्शी तत्त्ववेत्ता था। उसने वर्ड्सवर्थ के कई सिद्धान्तों की विश्लेषणात्मक बुद्धि से काट की। कविता की परिभाषा करता हुआ वह 'बायोग्रैफिया लिटरैरिया' में लिखता है। पद्य में सत्य की सुखमय अभिव्यञ्जना को कविता कह सकते हैं, गो कि दृढ़तापूर्वक नहीं। ऐसी आख्यायिकाओं और उपन्यासों को जो तत्क्षणिक सुख देती हैं कविता कह सकते हैं यदि उन्हें पद्य में परिवर्तित कर दिया जाय, गो कि दृढ़तापूर्वक नहीं। केवल ऐसे प्रणयन को जो तत्क्षणिक सुख देता है और जो प्रत्येक भाग में उतना ही सुखमय है जितना कि पूर्ण में—दृढ़तापूर्वक कविता कह सकते हैं। कविता की इसी विशेपता के कारण कि उसका प्रत्येक भाग मनोरंजक होता है यह आवश्यक है कि उसकी वाक्सरणि ध्यानपूर्वक चुनी हुई हो और शब्दों का व्यवस्थापन कौशलपूर्ण हो। ग्रामीण और निम्नश्रेणी का जीवन कविता के लिये अनुपयुक्त है क्योंकि कविता आदर्श जीवन को व्यक्त करती है न कि वास्तविक जीवन को। वर्ड्सवर्थ की कुछ कविताएँ जैसे 'हैरीगिल' और 'इडिअट बॉय' वास्तविक जीवन को ज्यों का त्यों वर्णित करने के कारण काव्यात्मक नहीं हो पातीं। दूसरी कविताएँ जैसे 'माइकेल' और 'रूथ' इसी से काव्यात्मक हो जाती हैं क्योंकि उनमें जीवन का धर्म द्वारा आदर्शीकरण होगया है। यह कहना कि कविता साधारण जीवन की भाषा में होनी चाहिये ठीक नहीं, क्योंकि यह भाषा असंस्कृत होती है और ऐसे गूढ़ और सूक्ष्म अर्थों के व्यक्त करने में असमर्थ होती है, जिनमें कविता अपनी प्रतिभा का वैभव दिखाती है। स्वयं वर्ड्सवर्थ जहाँ उत्कृष्ट शैली की कविता करता है ऐसी भाषा का परित्याग कर देता है। कविता असाधारण शब्दों का असाधारण क्रम में प्रयोग करती है। छंद के विचार से भी कविता के वाक्यविन्यास असाधारण होने चाहिये। कविता का उद्गम शरीर और

मन की आवेशपूर्ण दशा है। ऐसी दशा में यदि आवेश बढ़ता ही जाय तो मनुष्य पर इतना जोर पड़ सकता है कि उसके कारण विह्वल होकर मर जाय। इसी से ऐसी दशा में आप ही आप विचार शक्ति उद्भव होती है जो मनोवेग के कार्य को नियंत्रित करती है। आवेशपूर्ण काव्यात्मक प्रणयन के कार्य में विचार शक्ति शब्दरचना को छंदोबद्ध कर देती है और वाक्सरणि को उत्कृष्ट कर देती है। छंद के प्रभाव की जाँच से भी कविता के लिये उत्कृष्ट वाक्सरणि आवश्यक है। छंद ध्यान और साधारण भावों की प्रफुल्लता और सुविकारिता को वर्द्धित करता है। यह प्रभाव अचम्भे के उत्ताप से और उत्सुकता के जागृत और संतुष्ट होने से पैदा होता है। यदि वर्द्धित ध्यान और वर्द्धित भावों को उत्कृष्ट भाषा के रूप में उचित भोजन न मिला तो पाठक की आशा अवश्य भंग होगी और उसे कविता में कोई आनन्द न आयगा। छंद और कविता अवियोज्य होने के कारण जिन-जिन वस्तुओं का समावेश छंद में होगा उनका समावेश कविता में भी होगा। छंद में उत्कृष्ट वाक्सरणि होते हुए उत्कृष्ट वाक्सरणि काव्यात्मक हुई। उत्कृष्ट वाक्सरणि कविता और छंद के बीच में फिटकरी का काम देती है। फिर यह भी विचार है कि कविता बहुत से तत्वों का समस्वरत्व है। जब विचार उत्कृष्ट है, छंद उत्कृष्ट है, व्यक्तित्व उत्कृष्ट है, तो भाषा अपने आप उत्कृष्ट होगी। अंत में, कवियों का अभ्यास भी इसी बात का द्योतक है कि कविता में उत्कृष्ट वाक्सरणि होती है। आलोचना के विषय में अलग एक लेख में कोलरिज यह विचार व्यक्त करता है। आलोचना का काम काव्यरचनात्मक सिद्धान्तों की स्थापना करना है और 'एडिनबरा रिव्यू' के एडीटरों की तरह लेखों और लेखकों पर फैसले देना नहीं। यदि फैसला देना आलोचना का काम माना जाय तो पहले एक एकैडेमी बनाई जाय जो ऐसे नियमों की संहिता तैयार करे जिनके आधार व्यापक नैतिकता और दार्शनिक बुद्धि हों। वर्ड्सवर्थ की कविता के गुण बताते हुए कोलरिज 'बायोग्रैफिया लिट्रेरिया' में उदात्त शैली की पक्की पहचान बताता है। वह यह है कि उदात्त शैली में लिखा हुआ लेख उसी भाषा के शब्दों में भी बिना अर्थ को हानि पहुँचाये अनूदित नहीं हो सकता। इसी आशय का फ्रेञ्च आलोचक फ्लोबर्ट का केवल शब्द का सिद्धान्त (द डॉक्ट्रिन ऑफ द सिंगिल वर्ड) है। प्रवीण लेखक के लेख में जो शब्द जहाँ प्रयुक्त हो गया उसकी जगह कोई दूसरा शब्द नहीं ले सकता। काव्य समीक्षा के आलोचनात्मक मानदण्ड कोलरिज के उपर्युक्त प्रतिपादन से निकाले जा सकते हैं। शैली अपने 'डिफैन्स ऑफ पोयट्री' नामक निबंध में बुद्धि और कल्पना का भेद देता है। बुद्धि एक विचार का जो दूसरे विचार से संबंध होता है उस पर ध्यानशील होती है, कल्पना उन विचारों पर इस प्रकार क्रियाशील होती है कि उन्हें अपने रंग में रंग देती है और उन्हें तत्त्व मान कर उनसे ऐसे नये विचारों की स्थापना कर देती है जिनमें समग्रता का नियम परिचालित होता है। बुद्धि विश्लेषणात्मक होती है, कल्पना संश्लेषणात्मक। बुद्धि पहले से जानी हुई मात्राओं की शुमार करती है, और कल्पना उन्हीं मात्राओं का

अलग-अलग और सम्मिश्रण में मूल्याङ्कन करती है। बुद्धि वस्तुओं के वैषम्य का ध्यान करती है और कल्पना उनके साम्य का। कल्पना के लिये बुद्धि वैसे ही है जैसे कारीगर के लिये हथियार, जैसे आत्मा के लिये शरीर, जैसे पदार्थ के लिये परछाँई। कविता कल्पना की अभिव्यक्ति है। कविता और कथा में यह अंतर है कि कथा में तो अलग-अलग तथ्यों की फ़ेहरिस्त सी होती है जिनमें काल, स्थान, और परिस्थिति के संबंध होते हैं, और कविता अपने सदातन सत्य में अभिव्यक्त जीवन की प्रतिमा होती है। काव्यात्मक सामर्थ्य के दो गुण हैं; वह ज्ञान, शक्ति, और सुख के पदार्थों की रचना करती है और फिर सौन्दर्य अथवा शिव के नियमों के अनुसार उनकी पुनर्रचना की भावना मन में उत्पन्न करती है। काव्यात्मक रचानाओं में सदा उपयोगिता होती है। कविता की उपयोगिता गणित की उपयोगिता जैसी, अथवा व्यायाम की उपयोगिता जैसी है। जैसे गणित से बुद्धि का विकास होता है, व्यायाम से शरीर का विकास होता है, वैसे ही कविता से कल्पना का विकास होता है। विकसित बुद्धि पीछे से उपयोगी काम का साधन बन सकती है, विकसित शरीर पीछे से किसी उपयोगी काम का साधन बन सकता है, इसी तरह विकसित कल्पना पीछे से किसी उपयोगी काम की साधन बन सकती है। विकसित कल्पना मनुष्य की संवेदनशीलता और सहानुभूति को संस्कृत करती है, जिसके द्वारा संसार के बहुत से झगड़े और लड़ाइयाँ दूर हो सकती हैं। कल्पना को संस्कृत करना यही कविता का प्रभाव है और यही प्रभाव शैली के मतानुसार उसकी श्रेष्ठता की जाँच का मानदण्ड है। कीट्स के मतानुसार श्रेष्ठ कला के सृजन में सृजक की और उसके अनुभव में दर्शक अथवा पाठक की आत्मपूर्णता होती है, उसकी आत्मा में सब प्रकार के द्वन्द्व का अन्त होकर पूर्ण शान्ति की स्थापना हो जाती है। बस ऐसे प्रभाव का उत्पादन ही कला की श्रेष्ठता की जाँच का मानदण्ड है।

अरिस्टॉटल के नियमों का शासन फ्रान्स में बहुत वर्षों तक रहा परन्तु वहाँ भी अठारहवीं शताब्दी के अंत में और क्षेत्रों की क्रान्ति के साथ आलोचना में भी क्रान्ति उठ खड़ी हुई। जूबर्ट ने लॉन्जायनस को दोहराते हुए कहा कि हम उसी रचना को कविता कह सकते हैं जो हर्षोन्माद पैदा करे। इस उक्ति में कि कविता अपनी अंतरात्मा से बाहर कहीं नहीं है वह लॉन्जायनस से भी आगे बढ़ जाता है। आलोचना को वह विवेक का क्रमानुगत अभ्यास कहता है। शास्त्रीयता का स्पष्ट विरोधी विक्टर ह्यूगो था जिसने अपने आलोचनात्मक मत की घोषणा 'क्रॉमवेल' की भूमिका में की। कल्पनात्मक विचार का इतिहास तीन कालों में विभक्त होता है; पुरातन, शास्त्रीय, और आधुनिक अथवा ईस्वीय। पहले काल की रचना भावनाकाव्य है, दूसरे काल की महाकाव्य और तीसरे काल की नाटक। ईसाई मत की विशेषता आत्मा और शरीर के भेद के अनुसार उच्च जीवन और निम्न जीवन है। नाटक का आधार यही भेद है। शास्त्रीय नाटक में सुन्दर और उदात्त के अतिरिक्त और कुछ प्रदर्शित नहीं किया जाता था, कुरूप, साधारण और हास्यजनक का बहिष्कार किया जाता था। असली बात

यह है कि सौंदर्य तब तक अपना प्रभाव नहीं दिखाता जब तक कि उस का असौंदर्य से भेद न दिखाया जाय, अपरूप और हास्यजनक ही सौंदर्य के प्रभाव को उत्तेजित करते हैं। दूसरी बात यह है कि कला का मुख्य उद्देश्य प्रकृति के सत्य का प्रकाशन है; रूप और कुरूप, सद और असद, गम्भीर और हास्यप्रद सब ही प्रकृति में हैं, और इन सब का प्रदर्शन कला में होना अनिवार्य है। फिर कला प्रकृति के सत्य को ज्यों का त्यों नहीं उपस्थित करती, वह उसका आदर्शीकरण करती है। बस कला का सौंदर्य आदर्शीकृत सत्य है। इस विचार से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिन शास्त्रीय नियमों से कला के स्वातंत्र्य को नष्ट किया है वे अयुक्त हैं। सार यह है कि कलाप्रणयन के कोई नियम नहीं हैं, सिवाय उनके जो कला के स्वभाव से निर्दिष्ट होते हैं और जो कलाकार की विषयवस्तु से निर्दिष्ट होते हैं। इन दो प्रकार के नियमों के अतिरिक्त कलाकार पर किन्हीं और नियमों का बंधन नहीं है। उसके दोष, जैसा हम शेक्सपिअर के संबंध में देखते हैं, उसके गुणों से अवियोज्य हैं। इस व्यापक सिद्धान्त को नाटक पर लागू करके वह काल और देश संकलन को व्यर्थ कहता है, केवल वस्तुसंकलन को कलात्मक प्रणयन के लिये आवश्यक समझता है। वस्तुसंकलन को भी इस तरह समझता है कि उसमें उपवस्तुओं और उपकथाओं का समावेश संभव हो। अपने इस सिद्धान्त के अनुसार विक्टर ह्यूगो शैली और भाषा के संबंध में भी कलाकार को पूरा स्वातंत्र्य देता है। सेण्ट ब्यूव भी रोमांसिक पक्ष में सम्मिलित हुआ। शास्त्रीयता को वह अवर्णनीय मानता है। आदर्शग्रन्थ की रचना के लिये कोई नियत नियम नहीं हैं। यह सोचना कि शुद्धता, गाम्भीर्य, स्पष्टता, और लालित्य के अनुकरण से कोई लेखक आदर्शग्रन्थ की रचना कर सकता है गलत है। ऐसे ग्रन्थ की रचना के लिये व्यक्ति स्वभाव और अन्तः प्रेरणा की आवश्यकता होती है। आलोचना के विषय में उस का मत है कि उसका प्रयोजन सदा निर्णय है। आलोचक जनता का मंत्री है। वह सार्वजनिक भावनाओं का संपादक है। इसी से पुरानी आलोचना का समझना कठिन है, क्योंकि वह आधी लिखित है और आधी तत्कालीन जनता के हृदय में विद्यमान थी। आलोचक कृति के मूल्य का निर्णय करने से पहले कृति को अच्छी तरह समझे। कृति को समझने के लिये सेण्ट ब्यूव ने एक निसर्गानुसारिणी रीति का अन्वेषण किया जिसका विवरण हम पिछले प्रकरण में दे चुके हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के पिछले भाग में विज्ञान और दार्शनिक विचार की प्रगति के कारण आलोचना का अधिक विकास हुआ। कारलायल कलात्मक सम्पूर्णता का मानदण्ड सत्य प्रकटन बताता है। उस का कहना है कि कला तथ्य की अन्तरात्मा का कारावास से निराकरण है। आर्नल्ड अपनी कविताओं के १८५३ ई० के संग्रह की भूमिका में कहता है कि नये कवि को प्राचीन यूनानी कवियों का अनुकरण करना चाहिये, शेक्सपिअर का नहीं। प्राचीन साहित्य की तीन विशेषताएँ हैं; महान् कृत्य को काव्य का विषय बनाना, स्पष्ट प्रणयन, और

अभिव्यञ्जना को कम महत्त्व देना। इन तीनों बातों में आधुनिक अंग्रेजी साहित्य इतना अधिक संतोषजनक नहीं है जितना कि पुराना यूनानी साहित्य। वार्ड की 'इङ्गलिश पोयट्स' के प्रारंभिक आलोचनात्मक कथन में वह ऐतिहासिक और वैयक्तिक मूल्याङ्कन का बहिष्कार करके एक अनुभवात्मक मानदण्ड की प्रस्तावना करता है। बहुत दिनों के अध्ययन के पश्चात् आलोचक ऐसे स्थलों को चुन ले जिनमें अत्युदात्त कविता का पूरा चमत्कार है। इन्हीं स्थलों को वह कविता के दूसरे उदाहरणों की जाँच की कसौटी मान ले। यदि ये कसौटियाँ काम न दे सकें तो फिर वह कृति में यह देखे कि उसमें कहाँ तक विषय वस्तु का और शैली का काव्यात्मक सत्य है और कहाँ तक वह उच्च गाम्भीर्य है जो ऐकान्तिक निष्कपटता से आता है। 'लास्ट वर्ड्स' में आर्नल्ड उत्कृष्ट शैली की परिभाषा देता है। यह शैली काव्य में तब आती है जब काव्यात्मक मनोवृत्ति वाला उच्चादर्श का व्यक्ति किसी गम्भीर विषय का सरलता और सिद्धि के साथ निरुपण करता है। यहाँ पर उत्कृष्टता के चार मानदण्ड निर्दिष्ट हैं; काव्यात्मकता, उच्चादर्श, सरलता और सिद्धि। सरल उत्कृष्ट शैली का उदाहरण होमर है और सिद्ध उत्कृष्ट शैली का उदाहरण मिल्टन है। रस्किन अपने हृदिस्पर्शी पक्षाभास (पैथैटिक फैलैसी) नामक प्रसिद्ध निबन्ध में चार प्रकार के मनुष्य गिनाता है: पहले, वे जो सब वस्तुओं को उनके सत्य रूप में देखते हैं क्योंकि उनकी भावात्मकता बड़ी कमजोर होती है। ऐसे मनुष्यों को गुलाब गुलाब ही प्रतीत होता है और कुछ नहीं। दूसरे, वे जो प्रत्येक वस्तु को उसके किसी और ही रूप में देखते हैं, जो वास्तविक रूप है उसमें कभी नहीं। ऐसे मनुष्यों को गुलाब तारा दीख पड़ता है, सूर्य दीख पड़ता है, परी की ढाल दीख पड़ती है, अथवा विसृजित कुमारी दीख पड़ती है। तीसरे, वे मनुष्य जो प्रबल भावात्मकता रखते हुए भी हर एक वस्तु को ठीक ठीक देखते हैं। ऐसे मनुष्यों को गुलाब गुलाब ही दीख पड़ता है, वह चाहे जैसी प्रतिमाएँ मनोवेगों द्वारा व्यञ्जित करे। चौथे, चाहे कितना ही बली कोई मनुष्य हो, कभी कभी ऐसे विषय आते हैं जो उसे विह्वल कर देते हैं और उसके प्रत्यक्षीकरण को धुंधला कर देते हैं और वह टूटे फूटे वाक्यों में अक्रमिक ढंग से अपनी सूझ को व्यक्त करने लगता है। पहली प्रकार के मनुष्यों को हम कवि नहीं कह सकते; दूसरी प्रकार के मनुष्य दूसरी श्रेणी के कवि कहलाते हैं; तीसरी प्रकार के मनुष्य प्रथम श्रेणी के कवि कहलाते हैं; और चौथी प्रकार के मनुष्य प्रेरित भविष्यवक्ता होते हैं। कीट्स और टैनीसन दूसरी श्रेणी के कवि हैं और डाण्टे प्रथम श्रेणी का। डाण्टे ऐसे समय भी जब उसके मनोवेग बड़े प्रबल होते हैं अपने को पूरे शासन में रखता है। लॉञ्जायनस ने भी यही कहा है कि महान् प्रतिभा वाले व्यक्ति [illegible] में भी धीर होते हैं। यहाँ रस्किन बड़े कवि की यही पहचान निर्दिष्ट करता है कि उसकी भावात्मकता और ज्ञानात्मकता दोनों बड़ी प्रबल होती हैं। 'मॉडर्न पेण्टर्स' और 'अरात्रा पेण्टेलीकाई' में रस्किन कला का उद्देश्य

नैतिक उपयोगिता मानता है। पहली पुस्तक में वह कहता है कि कलात्मक सुख की दो प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं। एक तो मनोरंजकता की केवल शारीरिक चेतना होती है, जिसे वह एस्थैसिस कहता है। दूसरी मनोरंजकता का हर्षमय, विनीत, और कृतज्ञ प्रत्यक्षीकरण होती है, जिसे वह थ्योरिया कहता है। इस बात के ध्यान के लिये कि सौन्दर्य भगवान की देन है थ्योरिया विषयक तुष्टि अति आवश्यक है। अतः किसी कलात्मक कृति को हम सुन्दर नहीं कह सकते यदि वह हमें एस्थैसिस संबंधी तुष्टि दे और थ्योरिया संबंधी तुष्टि देने में असफल रहे। दूसरी पुस्तक में रस्किन स्पष्टतया कहता है कि कलाओं का उद्देश्य नैतिक उपदेश देना है। "सब कलाएँ मनुष्यहित में हैं। उनका मुख्य प्रयोजन उपदेश-कता है। नाटक और मूर्तिकला को तो विशेषतया उस सब की शिक्षा देनी चाहिये जो इतिहास में उत्तम है और मानुषिक जीवन में सुन्दर है। कलाएँ तब ही सफल मानी जा सकती हैं जब वे उन मनुष्यों को पूरी तरह स्पष्ट हों जिनके लिये उनका उत्पादन हुआ। और कलात्मक अभिव्यञ्जना की सूक्ष्मता का यही पक्का चिह्न है कि अभिव्यञ्जन कौशल चित्रित विषय में बिल्कुल लोप हो जाय।" इन वाक्यों में रस्किन के मन्तव्य के विषय में कोई संदेह नहीं रह जाता। वह कला का स्वतन्त्र अस्तित्व मिटा देता है और उसे उपदेश की दासी बना देता है। रस्किन के विपरीत पेटर कलाहेतु कला के सिद्धान्त का प्रतिपादक है। पेटर आभि-जात्य कलाकार है। प्रत्येक जन कलात्मक नहीं हो सकता। साहित्य के कला-कार को विद्वान् होना चाहिये और कलाप्रणयन में निरंतर विद्वद्वर्ग का ध्यान रखना चाहिये। उसका शब्द भण्डार बृहद होना चाहिये और शब्दों के प्रयोग में उसे पूरी मितव्ययता दिखानी चाहिये। जैसे मूर्तिकार प्रस्तरखण्ड से अना-वश्यक प्रस्तर को काट कर मूर्ति निकाल लेता है, वैसे ही साहित्यिक कलाकार अपने शब्द भण्डार से अनावश्यक शब्दों को दूर कर अपनी अनुभवरूपी आन्त-रिक प्रतिमा को शाब्दिक रूप दे देता है। पेटर के मतानुसार कला की जान आधिक्य का निराकरण है। शब्दों का ठीक चुनाव इस ख्याल से आवश्यक हो जाता है कि उसका प्रभाव कृति के निर्माण पर पड़ता है। बिना इसके उस वास्तुकलाविषयक प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो सकती जो कृति के अंत को आदि में देखता है और अंत का निरंतर मध्य में और इधर उधर ध्यान रखता है। यह वास्तुकलाविषयक तत्त्व मन है। दूसरा आवश्यक तत्त्व आत्मा है। यह व्यक्तित्व का तत्त्व है, जो विचार की भाषारूपी व्यञ्जना में प्रकट नहीं होता, वरन् साहित्यकार की आत्मा की छाप के रूप में। इसी गुण से हम साहित्यकार को उसकी विभिन्न रचनाओं में स्पष्ट देख सकते हैं। समाप्त कृति कृतिकार के आन्त-रिक दर्शन का शाब्दिक फोटोग्राफ़ होना चाहिये। यह कलात्मक अभिव्यञ्जना का आदर्श है। "सर्व सौन्दर्य, अन्ततोगत्वा सत्य की सूक्ष्मता है अथवा वह जिसे हम अभिव्यञ्जना कहते हैं, वाणी की भीतरी प्रतिभा के लिये उपयुक्तता।" जैसा पिछले प्रकरण में कह चुके हैं, ऐसा पूर्ण निष्कपटता की दशा में ही सम्भव है।

पेटर का यह मानदण्ड कलामीमांसा-संबंधी है और कलाहेतु कला की निमग्नता का द्योतक है। फिर भी पेटर विषय वस्तु के मूल्य से बिल्कुल विमुख नहीं है। वह अपने 'स्टाइल' नामक निबन्ध के अन्त में कहता है कि कलाकृति तब भी महान् कहलायगी जब अभिव्यञ्जना-कौशल संबंधी सम्पूर्णता के साथ साथ उसके विषय में मानवता की अन्तरात्मा का प्रवेश भी हो और उसका प्रयोजन मानव सुख और ईश्वर का स्तवन हो।

रूस का महान् नाटककार और उपन्यास लेखक टॉल्सटॉय संगीत और दूसरी कलाओं में भी तीव्र अनुराग रखता था। कला का स्पष्टीकरण टॉलसटॉय इस तरह करता है। कला उस क्रियाशीलता को कहते हैं जिसके द्वारा कोई मनुष्य अपनी अनुभूति को जान बूझ कर दूसरों से निवेदन करता है। बर्नर्डशॉ का कहना है कि कला की यह परिभाषा सरल सत्य है और जो कोई भी कला से अभिज्ञ है इन शब्दों में पारंगत विद्वान् की आवाज़ चीन्हता है। कला का पहला चिह्न संक्रामकता है। यदि कोई बच्चा अकेले आते हुए सांड़ को देखे और भयभीत होकर घर आकर, इस प्रकार सांड़ के भयानक रूप और अपनी ओर उसके झपटने का ब्यौरा दे कि उस के माता-पिता भी उस की अनुभूति का अनुभव करने लगें, तो बच्चे ने कला की सफल रचना की—ऐसा मानना चाहिये। यदि बच्चे ने बिना किसी सांड़ के देखे हुए उस अनुभूति की कल्पना की जो सांड़ के देखने से उद्भव हो और फिर ऊपर की जैसी कहानी गढ़ कर उसने अपने माता पिता से इस तरह कही कि वे बच्चे की काल्पनिक अनुभूति का अनुभव करने लगे, तो भी बच्चे ने कला की सफल रचना की—ऐसा मानना चाहिये। यदि कोई बचा किसी सुन्दर वस्तु को पाकर उछले कूदे और आनन्द की अभिव्यक्ति तरह तरह से करे, तो उसके आनन्द प्रदर्शन को कलात्मक नहीं कह सकते, क्योंकि यह स्वयं परिवर्तित और नैसर्गिक है। परन्तु यदि इसी अनुभूति को याद करके पीछे से बच्चा उसे इस प्रकार दूसरों से कहे कि उनमें भी उसी आनंद का संचार हो जो उसमें हुआ था, तो उसकी कहानी कलात्मक होगी। यदि कला के सम्पर्क से उन्हीं भावों का संचार न हो जो उसमें व्यक्त थे, तो उसको कला नहीं कह सकते। कला का दूसरा चिह्न उचित रूप की सिद्धि और वास्तविक भाव की प्रेरणा है। रूप की सिद्धि साहित्यिक कलाकार को शब्दों की विभिन्न व्यञ्जनाओं पर और उनके मार्मिक विन्यास पर अधिकार पाने से होती है। जिन भावों से कलाकार संक्रामकता का प्रयोजन सिद्ध करता है नाना प्रकार के हो सकते हैं—तीव्र अथवा मंद, सारपूर्ण अथवा सारहीन, सद्, अथवा असद्, मातृभूमि का प्रेम, परवशता, भक्ति, वीरोपासना, रति, उत्साह, हास्य, शान्ति, और प्रशंसा। भाव चाहे उपकारक हो, चाहे अपकारक, यदि उसमें कला की संक्रामकता से व्यापकता आजाती है तो वह कला का विषय हो जाता है। फिर भी सच्ची कलाकृतियों में इस बात से बहुत भेद हो जाता है कि भाव मानव जाति का हितकारी है अथवा अहितकारी है। यह कला का, टॉल्सटॉय

के कथनानुसार तीसरा लक्षण है। यदि यह कहा जाय कि भाव का हितकारी अथवा अहितकारी होना कोई माने नहीं रखता तो कला का मानव जीवन से समस्त संबंध काट देना होगा। कलाकार स्वयं मनुष्य है और अपने को दो एक ऐसे भागों में विभक्त नहीं कर सकता जिन का एक दूसरे से कोई संबंध न रहे। इस लक्षण से चौथा लक्षण स्पष्ट हो जाता है—कला का महत्त्व। यदि कला अभिव्यञ्जना-कौशल ही की बात होती, तो वह क्रिकेट, हॉकी, अथवा शतरंज की तरह मानी जाती। परन्तु हम उसे इन खेलों से अधिक महत्त्व देते हैं। कला हमारे भावों को रूप, वृद्धि और विकास देती है, यह कार्य कला कलाकार के व्यक्त भावों द्वारा पूरा करती है। और क्योंकि हमारे भाव हमारे विचारों, हमारे मतों, हमारी प्रवृत्तियों, और हमारे समस्त जीवन को प्रभावित करते हैं, उन्हें प्रभावित करने वाले कलाकार को नीतिशास्त्रकारों से श्रेष्ठतर कहना उपयुक्त है। एक दूसरी जगह पर टॉल्सटॉय भाव को धार्मिक प्रत्यक्षीकरण का बहाव कहता है और वहाँ कलात्मक अनुभव को इसाई मत की नीति की चेतना से सीमित करता है, जिसका आधार मनुष्यों का भ्रातृत्वभाव और उनका भगवान से पिता पुत्र का संबंध है। इस प्रकार टॉल्सटॉय का कला को जाँचने का मानदण्ड कुछ कलामीमांसाविपयक और कुछ सामाजिक उपयोगिता का है।

इस शताब्दी के आदि में आलोचकों का झुकाव शास्त्रीयता की ओर हुआ। रॉबर्ट ब्रिजैज़ ने उस साहित्य को प्रथम श्रेणी का माना जिसमें पचास प्रतिशत कल्पना और पचास प्रतिशत यथार्थता हो। टी० ई० ह्यूम ने शास्त्रीयता के सिद्धान्त का बड़ी दृढ़ता से समर्थन किया। वह बड़ा शक्तिशाली लेखक था। रोमान्सवाद और शास्त्रीयता का भेद उसने दार्शनिक सूक्ष्मता से किया। मनुष्य, प्रत्येक व्यक्ति, संभाव्यों का अनन्त जलाशय है; और यदि क्लेशकर व्यवस्था का नाश कर समाज का पुनर्व्यवस्थापन किया जाय, तो उन सम्भाव्यों को यथार्थ हो जाने का मौक़ा मिलेगा और तब प्रगति प्राप्त होगी : यह ही रोमान्सवाद है। शास्त्रीयता इसकी उल्टी है। मनुष्य असाधारणतः स्थिर और सीमित प्राणी है जिसका स्वभाव सर्वथा अपरिवर्तित है; परम्परा और अनुशासन से ही मनुष्य में से कुछ निकल सकता है : यह ही शास्त्रीयता है। डार्विन के समय में इस मत को कुछ धक्का लगा। उसका सिद्धान्त था कि छोटे-छोटे परिवर्तनों से धीरे-धीरे नई जातियों का विकास होता है। यह सिद्धान्त प्रगति की सम्भावना को मानता है। परन्तु ह्यूम कहता है कि आज कल डैव्रीज़ ने यह सिद्ध कर दिखाया है कि प्रत्येक नई जाति धीरे-धीरे छोटे-छोटे परिवर्तनों द्वारा अस्तित्व में नहीं आती वरन् उसका आकस्मिक उद्गार होता है और जब वह एक बार अस्तित्व में आ जाती है, तब वह बिल्कुल स्थिर हो जाती है। टी० ई० ह्यूम परिवर्तन और प्रगति में श्रद्धा नहीं रखता था। वह सभ्यता को बड़ी संदिग्ध वस्तु मानता था। उसका विचार था कि यदि कुछ परम्परागत परिच्छेद और मूल्य अप्रतिबद्ध न माने जायें, तो तर्क, कविता, और मानवाचार सब अस्त-व्यस्त हो जायें। अपने इस मत को ह्यूम ने

मौलिक पाप के ईसाई सिद्धान्त से भी संबंधित किया। मनुष्य का उद्धार बिना क्रम, व्यवस्था, और अनुशासन के नहीं हो सकता। यही मानदण्ड उसने कला के लिये निर्वाचित किया। टी० एस० इलियट की प्रवृत्ति भी शुरू में रोमान्सवाद के विरुद्ध थी। इसका कारण न शास्त्रीय कविता का अनुराग था और न रोमान्सवादी कविता की घृणा। उस पर ग्रियरसैन जैसे विद्वान् आलोचकों की आलोचना का प्रभाव था। उसने काव्यात्मक मौलिकता और आत्माभिव्यञ्जना के तत्कालीन विचारों पर संदेह किया और कविता को एक विकासवान परम्परा के रूप में देखा। यह परम्परा ह्यूम की संस्थाओं की तरह स्थिर वस्तु नहीं है। उसका परिवर्तन नित्य नये मिश्रणों से होता रहता है। मान लो कि नाटक के संसार में एक महान् नाटक का सृजन होगया, तो वह नाटक की रचनात्मक और आलोचनात्मक परम्परा को परिवर्तित कर देगा। उसने मौलिकता को केवल ठीक समय पर ठीक वस्तु की सृष्टि माना—परम्परा का सच्चा विकास। इलियट का यह विचार बहुत काल तक स्थिर नहीं रहा। उसको सूझा कि यदि कविता को एक निश्चित परम्परा माना जाय तो यह नहीं कहा जा सकता कि वह दूसरी परम्पराओं से, जैसे दार्शनिक और नीतिशास्त्रविषयक, स्वतंत्र और असंबंधित है। अपनी छोटी पुस्तक 'आफ्टर स्ट्रेञ्ज गौड्ज़' में इलियट कहता है कि आलोचना ईश्वरशास्त्र से अलग नहीं हो सकती। ईश्वरवाद का संबंध आलोचना को वह व्याख्यात्मक दर्शन देता है जिससे मानव जीवन का सर्वांगी ज्ञान संभव होता है। टी० एस० इलियट का आलोचनात्मक मानदण्ड परम्परा के लिये आदर सिद्ध होता है। हर्बर्ट रीड पूर्ण मुक्ति और अमर्यादा के पक्ष में है। मनुष्य अपने व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास तब ही कर सकता है जब वह रूढ़िगत सोचने, संकल्प करने, और क्रियाशील होने से मुक्त हो जाय। कलाकार ऐसे व्यक्तित्व को प्राप्त करके ही श्रेष्ठ कला का सृजक हो सकता है। जितना विकसित व्यक्तित्व, उतनी श्रेष्ठ कला—यही रीड का काव्य समीक्षाविषयक मानदण्ड है। मिडिल्टन मरे का महत्त्व नापने का पैमाना आत्मावसाद है। जो मनुष्य अपने को अपनी कृति में जितना भूल जायगा, उतनी ही श्रेष्ठता उस कृति में वह पायेगा। यही विचार इलियट और रीड का भी है। टी० एस० इलियट इसे आत्मविनाशीकरण (डी पर्सनालाईजेशन) कहता है और रीड इसके लिये कीट्स के वाक्यांश अभाववाचक क्षमता (नैगेटिव कैपेबिलिटी) का प्रयोग करता है। इस विचार का स्पष्टीकरण इलियट एक वैज्ञानिक सादृश्य द्वारा करता है। यदि ऐसे स्थान में जहाँ ऑक्सीजन और सल्फर डायोक्साइड मौजूद हों कोई प्लैटीनम का तार लाया जाय तो फल सल्फ्यूरिक एसिड होता है। यह एक ऐसी नई चीज होती है जिसमें प्लेटीनम का कोई चिह्न नहीं होता। मन के दो कार्य होते हैं; एक तो सहना और दूसरा करना। वह मन जो सहता है व्यक्तित्व कहलाता है और उसकी तुलना प्लेटीनम के तार से की जा सकती है। ऐसे कलाकार में व्यक्तित्व पूर्णतया निष्क्रिय होता है और किसी प्रकार के अनुभव को निर्मित नहीं करता। यह रीड कलाकार अर्थात् कलाकार से इस बात में भिन्न

नहीं होता है कि उसका व्यक्तित्व अधिक प्रभूत होता है वरन् इस बात में कि उसका व्यक्तित्व अधिक मुक्त रूप से विशिष्ट और विभिन्न भावों को नये रूपों में व्यवस्थित कर सकता है। इन आलोचकों में किसी कदर भिन्न आई० ए० रिचार्ड्ज है। वह कविता का मूल्य उसकी मन को प्रभावित करने की क्षमता से जाँचता है। उसका भरोसा शिराशास्त्र (न्यूरौलोजी) के भविष्य पर है और वह समझता है कि वह कविता का मूल्य वैज्ञानिक सूक्ष्मता से निश्चय कर सकता है। मन को वह शिराविषयक व्यवस्था अथवा उसकी आंशिक क्रियाशीलता मानता है। यदि हम शिराविषयक व्यवस्था को भली प्रकार समझ लें तो मन को भली प्रकार समझ लेंगे और हम को यह जानने की योग्यता आ जायगी कि कौन कविता शिराविषयक व्यवस्था के उपयुक्त है। मन के विभिन्न अनुरागों से समतोलन भंग हो जाता है और जब वे अनुराग व्यवस्थित होकर एक स्वर हो जाते हैं तो फिर मन में समतोलन आ जाता है। ऐसे असमतोलन और समतोलन बराबर होते रहते हैं। कविता का प्रयोजन यही है कि वह ऐसी ही एकस्वर अवस्थाएँ पैदा करे, अनुरागों को ऐसा क्रम दे कि वे मन अथवा शिराविषयक व्यवस्था को चैन दें। उत्कृष्ट कविता का प्रभाव आत्मसम्पादन (सैल्फ-कम्प्लीशन) होता है।

भारतीय काव्य का उद्गम-स्थान वेद है, जैसे वह दूसरी विद्याओं का भी मूलस्रोत है। वेद मन्त्रों में व्यंग्यात्मक शैली और अलंकारों के बड़े उदात्त उदाहरण मिलते हैं। प्राकृतिक दृश्यों के सौन्दर्य का चित्रण चमत्कारयुक्त है। 'ऋग्वेद' में बहुत सी सूक्तियाँ हैं जिनमें मनोरम कथोपकथन हैं। उपनिषदों में भी, चाहे वे दार्शनिक विचारों में निमग्न हैं, काव्यात्मक स्थलों की कमी नहीं है। ईसाई सम्वत् से कई सौ वर्ष पहले रामायण की रचना हो चुकी थी। 'रामायण' तो वस्तु, रूप, और उद्देश्य के विचारों से काव्य ही है। उसमें जगह-जगह पर कल्पना की उड़ान प्रकृति सौन्दर्य के वर्णन में देखी जाती है। 'महाभारत' भी दूसरी शताब्दी से पहले ही लिखी जा चुकी थी। 'महाभारत' काव्य की अपेक्षा अधिकतर धर्मशास्त्र है, फिर भी इससे बहुत से कवियों को प्रेरणा मिली है। 'दशरूप' में नाटक के लेखकों को सलाह दी गई है कि वे अपनी कथावस्तु 'रामायण' और 'महाभारत' से लें। 'महाभारत' से ध्वन्यालोक और काव्यप्रकाश में बहुत से अंश उद्धृत हुए हैं और कुछ 'रामायण' से भी। कहा जाता है कि पाणिनि ने भी 'पाताल विजय' नाम का महाकाव्य लिखा था और राजशेखर व्याकरणवेत्ता पाणिनि को 'जाम्बवतीजय' काव्य का प्रणेता बताता है। आख्यायिकाओं की रचना पतञ्जलि से पहले ही प्रचलित थी। पतञ्जलि आख्यायिकाओं की तीन रचनाओं, 'वासवदत्ता', 'सुमनोतरा,' और 'भैमरथी,' का जिक्र करता है। वह यह भी बताता है कि कंस की मृत्यु और बालि के मानमर्दन के विषयों पर नाटकीय प्रदर्शन प्रचलित थे और एक स्थल पर नटों की स्त्रियों का उल्लेख है। 'महाभाष्य' में बीते हुए अनेक कवियों की रचनाओं में से अवतरण उपस्थित हैं। इस विवरण से स्पष्ट है कि ईसा के जन्म तक संस्कृत में उत्कृष्ट साहित्य की पर्याप्त रचना हो चुकी थी। कोई

संदेह नहीं कि इतनी वृहद् और सुन्दर रचना ने वैज्ञानिक और दार्शनिक गवेषणा को उत्तेजित कर दिया और काव्यशास्त्र और साहित्यिक आलोचना का आविर्भाव किया। काव्य और काव्यविषयक विचारों को पहले से ही वेद का अंग माना गया है। भरत मुनि 'नाटक शास्त्र' के प्रारम्भ में ही लिखते हैं कि ब्रह्मा ने ऋक्, साम, यजु, और अथर्ववेद से क्रमशः पाठ्य, गीत, अभिनय, और रसों को ग्रहण करके नाट्य वेद का निर्माण किया।

जूनागढ़ में रुद्रदामन का एक शिलालेख है जिससे उस समय तक की साहित्यशास्त्रविषयक प्रगति का पता चलता है। इसका समय लगभग १५० ईस्वी है। लेख की शैली से ज्ञात होता है कि लेखक उस समय के काव्य रचना के नियमों का पालन कर रहा है। काव्य का पद्य और गद्य में विभाजन उसकी चेतना में है। वह गुणों से भी अभिज्ञ है; स्फुट, मधुर, कान्त, और उदार के नाम लेता है। लेखक की दृष्टि में गद्य और पद्य दोनों का अलंकृत होना आवश्यक है। नासिक वाला शिलालेख भी जो कि जूनागढ़ वाले से कुछ अधिक पुराना है इसी आलोचनात्मक अवस्था का साक्षी है। यह प्रशस्ति हमें यह भी बताती है कि समुद्रगुप्त को बहुत से प्रेरक काव्यों की रचना के कारण कविराज की उपाधि मिली थी। 'निघण्टु' ने ऋग्वेद के कई वाक्यांश एकत्रित करके उनमें उपमा का प्रयोग दिखाया है। 'निरुक्त' में ऋग्वेद की एक उपमा में यह दोष दिखाया गया है कि उसमें उपमान उपमेय से निम्न श्रेणी का है, जो नियमानुकूल नहीं है। पाणिनि से पहले ही बहुत से पारिभाषिक शब्द भाषा में जम गये थे। अश्वघोष के 'बुद्धचरित' से भी यही स्पष्ट है कि उससे पहले कविता निर्माण के सिद्धान्त निर्णय हो चुके थे। प्रत्येक सर्ग के अन्त में कोई अथवा बहुत से पद भिन्न छंद में आते हैं। उसमें हाव और भाव जैसे पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग है। 'नाट्यशास्त्र' जो ३०० ईस्वी के पहले ही लिखा जा चुका था रस सिद्धान्त, चार अलंकार, और गुणों का पूरा विवरण देता है। सुबन्धु अपनी 'वासवदत्ता' में काव्यरचना, वक्रोक्ति, और अलंकारों का उल्लेख करता है। इसमें संदेह नहीं कि ६०० ईस्वी तक ऐसे साहित्य शास्त्रों का निर्माण हो चुका था जिनमें काव्य के सिद्धान्त और उसके रूपों का संतोषजनक निरूपण था। ६०० ईस्वी के पश्चात् लिखे हुए शास्त्रों में प्रसिद्ध ये हैं: भामह का 'काव्यालंकार,' दण्डी का 'काव्यादर्श', उद्भट का 'अलंकार-सारसंग्रह,' वामन का 'काव्यालंकारसूत्र, रुद्रट का 'काव्यालंकार,' ध्वनिकार एवं आनन्दवर्धनाचार्य का 'ध्वन्यालोक,' राजशेखर की 'काव्यमीमांसा,' कुन्तक का 'वक्रोक्ति जीवित,' धनञ्जय का 'दशरूप,' मम्मट का 'काव्यप्रकाश,' रुय्यक का 'अलंकारसर्वस्व,' विश्वनाथ का 'साहित्यदर्पण,' और जगन्नाथ का 'रसगंगाधर।' इन में से कुछ तो सर्वांगी हैं, जैसे 'साहित्यदर्पण', बहुत से काव्य प्रयोजन, काव्यहेतु, काव्यलक्षण, काव्यगुण और काव्यदोष जैसे विषयों में संलग्न हैं, कुछ नाट्य शास्त्र और रस सिद्धान्त का विवरण देते हैं, बहुत से केवल अलंकारों की व्याख्या करते हैं, कुछ किन्हीं विशिष्ट काव्यात्मक

सिद्धान्तों का विवरण देते हैं, कुछ का विषय केवल शब्द है, और कुछ केवल रस सिद्धान्त परायण हैं।

यहाँ हम ऐतिहासिक रीति को छोड़ कर काव्यशास्त्र की मुख्य समस्याएँ संक्षेप में निरूपित करते हैं और इस निरूपण में जो काव्य समीक्षा के मानदण्ड व्यक्त होंगे उन्हें स्पष्टतया कह देंगे।

भारतीय विचार के अनुसार काव्य प्रयोजन आनन्द है। भरत मुनि कहते हैं कि मनुष्यों के विनोद के लिये नाट्य कला का उदय हुआ, विनोदकरणं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति। दुःखार्त मनुष्यों को नाट्य सामर्थ्य देता है और शोकार्त मनुष्यों को सान्त्वना देता है। 'साहित्यदर्पण' ने काव्य के आनन्द को ब्रह्मास्वाद-सहोदर कहा है, जिस की व्याख्या में पं० शालग्राम मिश्र लिखते हैं, "हम रजोगुण तथा तमोगुण के मलिन आवरण से विमुक्त चित्त में इस लोकोत्तर आनन्द का उपभोग करते हैं।" 'रसगंगाधर' में भी कहा गया है कि काव्यास्वादन से अलौकिक आह्लाद की अनुभूति होती है। काव्यप्रकाश' में काव्य प्रयोजन इस प्रकार वर्णित है।

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासंमिततयोपदेशयुजे॥

"यश की प्राप्ति, सम्पत्तिलाभ, सामाजिक व्यवहार की शिक्षा, रोगादि विपत्तियों का विनाश, तुरन्त ही उच्चकोटि के आनन्द का अनुभव, और प्यारी स्त्री के समान मनभावन उपदेश देने के लिये काव्यग्रन्थ उपादेय है।" इस मूलकारिका के निराकरण में ग्रन्थकार कहते हैं कि काव्य शिक्षा और उपदेश का अपरोक्ष साधन नहीं है वरन् परोक्ष। कवि उपदेश को आनन्दमय और आकर्षक बनाकर भावक को उसमें अनुरक्त कर देता है। काव्य प्रयोजन की इस समीक्षा में काव्यात्मक मानदण्ड, शुद्ध आनंद और परोक्ष उपदेशकता उपलब्ध होते हैं। ये ही कलामीमांसा विषयक (एस्थेटिक) मानदण्ड पाश्चात्य कलालोचक निर्दिष्ट करते हैं।

कवि के लिये तीन बातों की आवश्यकता है, प्रतिभा, व्युत्पत्ति, और अभ्यास। ऐसा मत संस्कृत के अनेकों आचार्यों का है। प्रतिभा मानसिक शक्ति है जो पूर्वजन्मार्जित संस्कारों से प्राप्त होती है। इस शक्ति द्वारा कवि वस्तुओं को सौन्दर्य-निमग्न देखता है और उन्हें उपयुक्त भाषा में स्पष्ट रूप में चित्रित करता है। सौन्दर्य का विचित्र दर्शन और उसका स्पष्ट निवेदन यही दो काव्यात्मक प्रतिभाव के गुण है। साहित्यसृष्टि इस शक्ति का कार्य है। व्युत्पत्ति लोक-शास्त्रादि के अवलोकन से प्राप्त निपुणता को कहते हैं। क्षेमेन्द्र ने 'कविकण्ठाभरण' में कवि को इन शास्त्रों का परिचय आवश्यक बताया है; न्याय, व्याकरण, भरतनाट्यशास्त्र, चाणक्यनीतिशास्त्र, वात्स्यायन कामशास्त्र, महाभारत, रामायण, मोक्षोपाय, आत्मज्ञान, धातुविद्या, वादशास्त्र, रत्नशास्त्र, वैद्यक, ज्योतिष, धनुर्वेद, गजशास्त्र, अश्वशास्त्र, पुरुषलक्षण, द्यूत, इन्द्रजाल प्रकीर्णशास्त्र। व्युत्पत्ति काव्य को विभूषित करती है और उसे व्यापकता प्रदान करती है। काव्य रचना

में योग्यता के साथ अनवरत प्रवृत्त होना अभ्यास है। अभ्यास से काव्य की वृद्धि होती है। जैसे पश्चिम में वैसे ही यहाँ प्रतिभा और व्युत्पत्ति के आपेक्षिक महत्त्व पर बड़ा वाद विवाद रहा है कुछ आचार्यों की दृष्टि में प्रतिभा ही अकेली काव्य सृष्टि का कारण है। वामन ने प्रतिभा को कवित्वबीज कहा है। राजशेखर कहता है, कि वही शक्ति काव्य की केवल हेतु है। हेमचंद्र ने अपने 'काव्यानुशासन' में लिखा है कि प्रतिभा ही कवियों के काव्य का कारण है, व्युत्पत्ति और अभ्यास उसके संस्कारक हैं, उसके कारण नहीं—"प्रतिभैव च कवीनां काव्यकरणकारणं, व्युत्पत्त्यभ्यासौ तस्या एवं संस्कारकारकौ न तु काव्य हेतुः।" 'रसगंगाधर' में भी यही कहा है; "तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा।" यही प्रश्न ग्रीस में लॉञ्जायनस के सामने था। वह किसी लेखक का मत उद्धृत करता है, "प्रतिभा जन्मजात है, शिक्षित नहीं; प्रतिभा की कृतियों की एक ही कला है और वह है उनके साथ पैदा होना।" इसके खण्डन में पहले लॉञ्जायनस प्रकृति का उदाहरण देता है। प्रकृति के आकस्मिक और वृहद दृश्यों में अव्यवस्था मालूम होती है पर यह भ्रम है। यदि प्रकृति में नियम और व्यवस्था न हो तो सारा विश्व अस्तव्यस्त हो जाय। फिर वह डिमोस्थनीज के जीवन के विषय में यह मत उद्धृत करता है। सबसे महत्त्वपूर्ण चीज जीवन के लिये समृद्धि है और दूसरी लगभग उतने महत्त्व की ही विवेक है। क्योंकि यदि दूसरी प्राप्त न हो तो पहिली का उपयोग नहीं हो सकता। ठीक यही बात साहित्य में लागू है। यहाँ समृद्धि के स्थान में प्रतिभा है और विवेक के स्थान में व्युत्पत्ति है। प्रतिभा प्रदान करती है और व्युत्पत्ति व्यवस्थित करती है। शेक्सपिअर ने प्रकृति (अर्थात प्रतिभा) को कला (अर्थात व्युत्पत्ति) से अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। उसका तर्क है कि जिन नियमों से हम कृतियों को व्यवस्थित करते हैं उन्हें हम पहले प्रकृति में देखते हैं और फिर उनके द्वारा अपनी कृतियों का सृजन करते हैं। कला का सर्वोत्कृष्ट मानदण्ड भी यही है कि कलाकृति बिल्कुल प्राकृतिक मालूम हो और उसमें कला की तनिक भी चेतना न हो। प्रतिभा का महत्त्व पश्चिम में सदा रहा है। बस नवशास्त्रीय काल में और आधुनिक काल में व्युत्पत्ति को अधिक श्रेष्ठ माना है। कुछ गणितज्ञ आजकल प्रतिभा की यह परिभाषा करते हैं कि वह दो बटे पाँच प्रेरणा है और तीन बटे पाँच अर्थशून्य प्रलाप है। कुछ प्रतिभा को नौ बटे दस पसीना मानते हैं और कहते हैं कि वह अनन्त श्रम करने की क्षमता है। इन विश्लेषणों के अनुसार प्रतिभा व्युत्पत्ति ही मानी जा सकती है। यह वादविवाद अनंत है और इसे सुलझाने के लिये हमारी कल्पना को [illegible] आलोचनात्मक दर्शन आता है। मनुष्यों की चेतना मन और प्रकृति की पारस्परी क्रिया और प्रतिक्रिया है। जिस किसी मनुष्य में अज्ञात कारणों से यह क्रिया और प्रतिक्रिया गहन और विस्तृत और स्पष्ट होती है उसमें प्रतिभा का आविर्भाव होता है। यदि ऐसा मनुष्य परिश्रम से दूसरों का अर्जित ज्ञान भी प्राप्त करले तो उसकी प्रतिभा और भी चमत्कृत हो जाती है।

यदि गूढ़ दृष्टि से देखा जाय तो काव्यतत्त्वों के निरूपण में प्राच्यालोचना अधिक मतभेद नहीं दिखाती। कविता प्रचलित भाषा के शब्दों का प्रयोग करती है; बस अन्तर इतना होता है कि उसमें शब्द चयन अकृत्रिम परन्तु विवेकपूर्ण और भावव्यंजक होता है। इस बात को 'श्री कण्ठचरित' में यों वर्णित किया है—"इसलिये उस कवि चक्रवर्ती को जिसके इशारे पर शब्दों और अर्थों की सेना सामने कायदे से खड़ी हो जाती है।" कुछ प्राचीन आचार्यों ने कविता का आधार शब्द बताया है। उनका कहना है कि कवि का पहला प्रयास शब्द-उपस्थिति ही है। परन्तु यह निरर्थक बात है। शब्द को उसके अर्थ से अलग नहीं किया जा सकता और अधिकतर आचार्य शब्द और अर्थ दोनों को ही काव्य का आधार मानते हैं। भामह का कहना है, "शब्दार्थौ सहितौ काव्यं।" वामन, मम्मट, और जगन्नाथ भी इसी मत के हैं। विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में वाक्य को कविता का आधार बताया है, "वाक्यं रसात्मकं काव्यं।" छंद को छः वेदांगों में से एक माना है। उसका ज्ञान रचनाकार और भावक दोनों को आवश्यक है। गो कि स्मृति, शास्त्र, पुराणादि प्रायः छंदोबद्ध हैं और वेद भी छंदस कहलाते हैं, फिर भी छंद को काव्य के लिये अनिवार्यतः आवश्यक सब साहित्यशास्त्रकारों ने नहीं माना। शैली के अनुसार काव्य तीन प्रकार का माना गया है; पद्यकाव्य, गद्यकाव्य और मिश्र या चम्पू काव्य। जब गद्यकाव्य काव्य है तो काव्य के लिये छंद अनिवार्यतः आवश्यक नहीं माना जा सकता। रामनरेश त्रिपाठी छंद को रस का सहायक कहते हैं। "मंदाक्रान्ता, द्रुतविलम्बित, शिखरिणी, और मालिनी छंद में शृंगार, शांत और करुण रस अधिक मनोहर हो जाते हैं। भुजंगप्रयात, वंशस्थ, और शार्दूलविक्रीडित में वीर, रौद्र, और भयानक रस विशेष प्रभावोत्पादक हो जाते हैं। हिन्दी छंदों में सवैया और बरवै में शृंगार, करुण, और शांत रस, छप्पै में वीर, रौद्र, और भयानक रस, घनाक्षरी, दोहा, चौपाई, और सोरठा में प्रायः सभी रस उद्दीप्त हो जाते हैं। सवैया और बरवै में वीर रस का काव्य नीरस हो जायगा।" छंद और काव्य के संबंध के विषय में तीन दृष्टियाँ संभव हैं। पहली दृष्टि से छंद काव्य के लिये अनावश्यक है। काव्य भाव की विशेषता है और यदि भाव काव्यात्मक है तो चाहे उसकी अभिव्यक्ति गद्य में हो वह काव्य का सृजन करेगा। उलटे तरीके से इसे यों भी समझा जा सकता है कि यदि भाव काव्यात्मक नहीं है तो उसकी अभिव्यक्ति पद्य में भी काव्य का सृजन नहीं कर सकती। दूसरी दृष्टि से छंद काव्य के लिये अनिवार्यतः आवश्यक है। प्रत्येक पद्यात्मक रचना चाहे उसका भाव काव्यात्मक है या नहीं है काव्य है। यह दोनों दृष्टियाँ इतनी ठीक नहीं जितनी कि तीसरी। छंद काव्य के लिये अनिवार्यतः आवश्यक नहीं किन्तु छंद काव्य का अवियोज्य सहचर है। जैसा हम कोलरिज के संबंध में पहले लिख चुके हैं, तीव्र मनोभाव स्वभावतः दुःखद होते हैं और जब मनुष्य किसी तीव्र भाव से अतिपीड़ित होता है तो स्वतः उसके दुःख के उद्गार सुस्वर हो जाते हैं। पीड़ा के कारण जागृत चेतना, जिसकी क्रियाशीलता उद्गारों को सुस्वर बनाने

में प्रकट होती है, क्लेश को इस प्रकार सहने योग्य बना देती है। यह प्रकृति के आचरण के नियम के अनुसार है। बस जहाँ तीव्र मनोवेगों की अभिव्यक्ति होगी, और काव्य के मनोवेग तीव्र होते हैं, वहीं अभिव्यक्ति सुस्वर हो जायगी। छंद के नियम अवश्य बड़े कठोर हैं और उनके परिपालन में अभिव्यक्ति कृत्रिम हो जाती है। इसी से आज कल छंदःशास्त्रज्ञ पद्याभास अथवा वृत्तगन्धि गद्य की ओर झुक रहें हैं। उनका कहना है कि प्रत्येक अनुभव मौलिक है और किसी अनुभव की पुनरावृत्ति नहीं होती। इसी विचार से प्रत्येक अनुभव की मौलिक अभिव्यञ्जना होगी। पहले से नियत कोई छंद उसकी अभिव्यञ्जना कर ही नहीं सकता, अगर करेगा तो अभिव्यञ्जना में वह झूठा हो जायगा। निष्कर्ष यह है कि काव्यात्मक अनुभव की लयमय अथवा छंदोबद्ध अभिव्यञ्जना होगी, क्योंकि वह अनुभव स्वयं लयमय है और जहाँ तक उसी लय को अभिव्यक्त किया जाय वहाँ तक ही काव्य में सत्यता अथवा निष्कपटता आयेगी। भाषा और छंद के अतिरिक्त प्राचीन साहित्यशास्त्रकारों ने काव्य के पाँच उपकरणों का अधिक वर्णन किया है। वे हैं रस, ध्वनि, रीति, गुण, और अलंकार। वक्रोक्ति भी महत्त्व पा गयी है, परन्तु उसे अलंकारों में समाविष्ट करने की प्रवृत्ति रही है। अधिकांश शास्त्रों में दोषों की ओर भी दृष्टि गई है।

रस और ध्वनि का निर्देश काव्य के अर्थ से है। रस को काव्य का जीवन कहा है और रसास्वादन ही काव्य के अध्ययन का परम ध्येय माना गया है। रस सिद्धान्त का प्रतिपादन पहले भरत मुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में किया। वहाँ वह नाटकविषयक है। नाटक और दूसरे पात्रों में स्थायीभावों का प्रदर्शन होता है और खेल देख कर दर्शक के हृदय में रस की अनुभूति होती है। इस स्थायीभाव के साथ विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभावों के संयोग से निष्पन्न होता है और व्यञ्जित होता है, स्पष्टतया नहीं बताया जाता। भरत ने रस की निष्पत्ति का कोई मनोवैज्ञानिक विश्लेषण नहीं दिया। उन्होंने आठ स्थायीभाव माने हैं और उनके अनुरूप आठ रस। पीछे से नवां रस शांत और जोड़ा गया है। परन्तु इसका समावेश नाटक में नहीं हो सकता, क्योंकि नाटक का क्रिया व्यापार शब्दों और इङ्गितों द्वारा होता है। महाकाव्य में उसका समावेश हो सकता है, क्योंकि महाकाव्य एकान्त में अकेले पढ़ा जाता है। रुद्रट ने दसवाँ रस प्रेयान् शामिल कर दिया। वात्सल्य, लौल्य, भक्ति, और कार्पण्य जो और पीछे से शामिल किये गये पहले आठों में ही समाविष्ट हैं। रस कलामीमांसाविषयक (एस्थैटिक) आनन्द की मानसिक अवस्था है। इस आनन्द की ब्रह्मानन्द से तुलना की गई है, और लौकिक होने के कारण ही वह ब्रह्मानन्द से नीचा पड़ता है। 'रसगंगाधर' में इसे चमत्कार कहा गया है और उसकी अनुभूति सहृदय को होती है। किस प्रकार चमत्कार की अनुभूति होती है इसकी व्याख्या भिन्न-भिन्न ढंग से की गई है। लोल्लट भट्ट का मत है कि रस राम इत्यादि में होता है। अभिनय में दर्शक इसे नट पर आरोपित करता है और इसी आरोपित रस की चेतना उसके आनन्द का

कारण होती है। शङ्कुक रस को अनुमानात्मक मानता है। भाव, विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारीभावों सहित प्रदर्शित नाम के प्रेम के मनन से दर्शक को आनन्द की अनुभूति होती है। अभिनवगुप्त का विचार है कि प्रेम और दूसरे भाव पहले से ही दर्शक के मन में निहित हैं और विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारीभावों की उत्तेजना से जागृत होकर रस की अवस्था को पहुँचते हैं। हम दूसरे प्रकरण में स्पष्ट कर चुके हैं कि भाव कल्पनात्मक मन का विषय बन कर रस में परिणत हो जाता है। यहाँ रसास्वादन अथवा चमत्कार काव्य समीक्षा का मानदण्ड सिद्ध होता है। इस मानदण्ड के निश्चय करने में प्राचीन आलोचना की सर्वोच्च विजय है और पाश्चात्य विचार इससे परे नहीं गया।

ध्वनि सिद्धान्त रस सिद्धान्त का विस्तार है। उस का प्रतिपादक ध्वनिकार है। रस सिद्धान्त नाटक संबंधी था और उसकी दृष्टि में एक समस्त कृति थी। शब्दों और वाक्यों से, जिनमें काव्यात्मक चमत्कार हो, उसको कोई प्रयोजन नहीं था। यदि रस को ही काव्य की जान माना जाय, तो चमत्कारपूर्ण शब्दों और वाक्यों को काव्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि उनसे कोई रस सिद्ध नहीं होता, वे रस की निष्पत्ति में सहायक अवश्य होते हैं। ध्वनिकार ने शब्द की ओर ही अधिक ध्यान दिया। जैसे शब्द से अर्थ का बोध होता है वैसे ही कविता के वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ का बोध होता है। शब्द पहले सीधे अर्थ के बोधक होते हैं। धीरे-धीरे व्यवहार में उनमें लक्षणा शक्ति आ जाती है जिससे वे साधारण से भिन्न और दूसरा वास्तविक अर्थ प्रकट करने लगते हैं। परन्तु रूढ़ि लक्षणा कविता में कोई विशेष चमक नहीं लाती; जब कवि ऐसे शब्दों का अपने प्रयोजन के लिये प्रयोग करता है तब वे काव्य में चमक लाते हैं। 'मैदान में बहुत सी तलवारें आ गईं,' यहाँ हमें प्रयोजनवश तलवार का अर्थ तलवारबंद सिपाही मानना पड़ता है। ऐसी ही व्यञ्जना उन शब्दों में होती है जिनके दो अर्थ होते हैं और ऐसी ही व्यञ्जना समस्त वाक्यों और कृतियों में होती है। इस प्रकार ध्वनि सिद्धान्त ध्वनि अथवा व्यञ्जना शक्ति को ही कविता की जान समझता है, रीति को नहीं। व्यंग्यार्थ वस्तु हो सकता है, अलंकार हो सकता है, और रस हो सकता है। 'ध्वन्यालोक' ने काव्य तीन प्रकार का माना है; ध्वनिकाव्य, गुणीभूतव्यंग्य, और चित्र। जब वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारक हो, तो काव्य ध्वनि-काव्य है। जब व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारी न हो, किन्तु अप्रधान रूप से प्रतीयमान हो तो काव्य गुणीभूतव्यंग्यकाव्य है। जिस काव्य में गुण और अलङ्कार हों परन्तु व्यंग्य न हो उस काव्य को चित्रकाव्य कहते हैं। ध्वनिकाव्य उत्तम, गुणीभूतव्यंग्यकाव्य मध्यम, और चित्रकाव्य अवर कहा गया है। 'ध्वन्यालोक' का मत है कि काव्य उत्कट भावों की व्यञ्जना है। जब वाल्मीकि प्रेमी क्रौञ्च की पीड़ा से अति प्रभावित हुआ, तो उसकी कल्पना जागरित हुई और उसमें श्लोकत्त्व आया, 'क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः।' ध्वनि सिद्धान्त शब्दों और वाक्यों तक व्यञ्जकता बढ़ाने में रस सिद्धान्त से अधिक

श्रेष्ठ नहीं माना जा सकता है। कारण यह है कि शब्द और वाक्य तभी काव्यात्मक होंगे जब वे प्रसंगवश किसी काव्यात्मक घटना का दर्शन देंगे और उस दशा में वे भी पूर्ण कृति की बराबरी करेंगे। रस सिद्धान्त भी नाटक से आगे बढ़ कर सब काव्यरूपों पर लागू है। रस व्यञ्जना ही काव्य की विशेषता है और यहाँ तक ध्वनि सिद्धान्त कलामीमांसाविषयक तथ्य को पहुँच गया।

रीति का आधुनिक नाम शैली है। अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये विशेष ढंग के पदों का प्रयोग करना रीति है। भरत के 'नाट्य शास्त्र' में गोकि नाट्योपयोगी प्रवृत्तियों और वृत्तियों का बड़ा विस्तृत वर्णन है रीतियों का वर्णन उसमें नहीं मिलता। रीति का पहला प्रतिपादक भामह है। उसने दो रीतियों का उल्लेख किया है; वैदर्भी और गौडीय। वैदर्भी रीति की विशेषताएँ सरल शब्द और सरस अर्थ थीं; और गौडीय रीति की विशेषताएँ अलंकारों की झंकार, अक्षरों का आडम्बर, तथा बंध की गाढ़ता थीं। परम्परानुसार वैदर्भी रीति प्रशंसनीय और गौडीय रीति निन्दनीय थी। परन्तु भामह ने काव्य के गुण अलंकारवत्ता, अग्राम्यत्व, अर्थ्यत्व, न्याय्यत्व, और अनाकुलत्व निश्चित किये और कहा कि यदि गौडीय रीति के काव्य में ये गुण विद्यमान हों तो उसे निन्दनीय नहीं कहा जा सकता। दण्डी ने भी वैदर्भी और गौडीय इन्हीं दो रीतियों का वर्णन किया है। भरत मुनि ने काव्य के दस गुण दिये थे; श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति, और समाधि। दण्डी ने इन दसों गुणों को वैदर्भी रीति का प्राण कहा है। गौडीय रीति में इन दसों गुणों में से अर्थव्यक्ति औदार्य, तथा समाधि तीन गुण जैसे वैदर्भी रीति में विद्यमान रहते हैं वैसे ही गौडीय रीति में विद्यमान रहते हैं; परन्तु बाकी सातों गुणों के गौडीय रीति में उन के विपर्यय विद्यमान रहते हैं। दण्डी ने परम्परा के अनुसार वैदर्भी रीति को उत्तम और गौडीय रीति को निकृष्ट कहा है। दण्डी के रीति सिद्धान्त को वामन ने अधिक पूर्णता दी। वामन ने निर्भीकता से कहा कि रीति काव्य की आत्मा है, कि रीति विशेष प्रकार का पदस्थापन है, कि पदस्थापन की विशेषता गुण है (रीतिरात्मा काव्यस्य। विशिष्टा पदरचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा)। वामन ने गुण दो प्रकार के माने हैं; शब्दगुण और अर्थगुण। शब्दगुण बन्ध के गुण हैं। अर्थगुण नितांत व्यापक हैं और ये रस को भी अपने में शामिल करते हैं। अर्थ की अपेक्षा से ओज, माधुर्य, समाधि, और कान्ति में काव्य के सब अंग आ जाते हैं। ओज में अर्थ की प्रौढ़ता आती है; माधुर्य में अर्थ की विचित्रता और कल्पना का चमत्कार; समाधि में नवीन अर्थ की दृष्टि; और कान्ति में रस की दीप्ति। वामन ने अर्थगुण अधिक महत्त्व का माना है। अर्थगुण प्रधान होने के कारण वैदर्भी रीति रीतियों में श्रेष्ठ है। क्योंकि वैदर्भी रीति में गुणों की विशदता और गुण की सम्पदा रहती है, कवियों को उसी का आश्रय लेना उचित है। गौडीय रीति में दो ही गुण होते हैं: ओज और कान्ति। वामन एक तीसरी रीति भी बताता है। यह है पाञ्चाली जिसमें माधुर्य और सौकुमार्य गुण प्रधान होते हैं। वामन का

मत है कि किसी रीति में गुणों का विपर्यय नहीं होता; हाँ, गुणों की अधिक अथवा न्यून संख्या हो सकती है। रीति के विवेचन में विश्वनाथ ने पदों के संगठन पर अधिक ज़ोर दिया है। जैसे शरीर में अंगों का संगठन होता है वैसे ही काव्यशरीर में शब्दों और अंगों का संगठन होता है। शब्द विषय, भाव, और संस्कार के अनुसार छाँटा जाय; और जिस स्थान में उसका प्रयोग किया जाय, उस स्थान में वह अपना वैभव दिखाये। शब्द की झंकार का भी पूरा ख्याल रखा जाय। मम्मट ने रीति की जगह वृत्ति का प्रयोग किया और शब्द की झंकार के विचार से उसने तीन प्रकार की वृत्तियाँ निर्दिष्ट कीं; उपनागरिका, कोमला और परुषा। रीति अथवा वृत्ति को प्राचीन आलोचना ने अभिव्यञ्जना से अलग सा ही माना है; उसे कोई ऐसी चीज माना है, जिसे कृति में जोड़ सकते हैं अथवा कृति से उसे घटा सकते हैं, वह कोई बाह्य उपकरण है जिसके उपयोग से कृति में सुन्दरता ला सकते हैं। रीति यथार्थ का व्यक्तिगत दर्शन है और कवि की कृति से अलग उसे अध्ययन का विषय बनाना भूल है।

रस काव्यशरीर का प्राण है और गुण रस का धर्म है। गुण रस में रहता है और वह काव्य को ऊंचा उठा लेता है। जगन्नाथ का मत है कि गुण रस में ही नहीं रहता वरन् शब्द और अर्थ में भी। यह विचार ठीक नहीं। वर्णरचना को माधुर्य, ओज, और प्रसाद रस देता है। इन गुणों द्वारा रस व्यक्त होता है। जिस रस का जो गुण धर्म है और उसे व्यक्त करने वाले जो वर्ण हैं, यदि हम उन्हें लेकर रसरहित रचना में प्रयोग करें तो गुण नहीं आयगा। गुण को भोजराज ने अलंकार से अधिक आवश्यक माना है, क्योंकि यदि अलंकृत काव्य में गुण न हो तो वह रुचिकर नहीं होगा और यदि गुणसम्पन्न काव्य में अलंकार न हो तो वह रुचिकर हो सकता है। परन्तु इस प्रकार का विश्लेषण, जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, उपकरणों के शिल्पविषयक प्रयोग का अन्दाजा देता है। रसके साथ ही रीति, गुण, और अलंकार सब उद्भूत होते हैं। गुणों की संख्या के विषय में आलोचकों का मतभेद है; कोई दस, कोई उन्नीस, कोई बीस, और कोई चौबीस मानता है। परन्तु 'काव्यप्रकाश' में तीन रस ही माने गये हैं और बाकी सब की निःसारता दिखा दी है। 'साहित्यदर्पण' ने भी तीन ही गुण माने हैं। वे हैं माधुर्य, ओज, और प्रसाद। माधुर्य शृंगार रस का विशेष धर्म है; और विप्रलम्भशृंगार और करुण में अपनी पराकाष्ठा को पहुँचता है। माधुर्य में अपने वर्ग के पांचवें अक्षर अपने वर्ग के ही दूसरे अक्षरों से अधिक मिले जुले होते हैं और समास उसमें नाममात्र ही होता है। ओज रौद्र, वीर, और अद्भुत रसों का धर्म है। ओज में समास की अधिकता और कटु अक्षरों, विशेषतया ट, ठ, ड, और ढ, की बहुतायत रहती है। प्रसाद सब रसों का धर्म है। जहाँ शब्द सुनते ही अर्थ समझ में आ जाय, वहीं उसकी सत्ता होती है। प्रसाद में शब्द बड़े सरल और सुबोध होते हैं।

विश्वनाथ ने कहा है, "शब्द और अर्थ के जो शोभातिशायी अर्थात् सौंदर्य

की विभूति के बढ़ाने वाले धर्म हैं वे ही अलंकार हैं।" कटक, कुण्डल की तरह अलंकार रस के उत्कर्ष-विधायक हैं। परन्तु यह उपमा बिल्कुल ठीक नहीं है। कटक और कुण्डल को शरीर से पृथक् कर सकते हैं। परन्तु अलंकार को काव्य से पृथक् नहीं कर सकते। अलंकार काव्य के अंगभूत होकर उसकी शोभा बढ़ाते हैं। इसे इस तरह समझ सकते हैं। काव्य का प्राण रस है। रस शब्दार्थगत है। शब्दार्थ की शोभा बढ़ाना रस और काव्य की शोभा बढ़ाना है। अलंकार तीन श्रेणियों में बाँटे जा सकते हैं: अप्रस्तुत वस्तु योजना के रूप में आने वाले, जैसे उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि; वाक्य वक्रता के रूप में आने वाले जैसे व्याजस्तुति, समासोक्ति आदि; वर्णविन्यास के रूप में आने वाले, जैसे अनुप्रास आदि। अलंकार के उन्नायक भामह और उद्भट हैं और रुद्रट और प्रतीहारेन्दुराज उनके अनुयायी हैं। ये लोग रसों से अनभिज्ञ न थे। भामह कहता है कि महाकाव्य में रस होने चाहिये। उद्भट रसवत की परिभाषा में स्थायीभाव, विभाव, और सञ्चारी भावों का उल्लेख करता है। दण्डी भी रसवत और ऊर्जस्वी की परिभाषा करता है। परन्तु इन आचार्यों को अलंकार ही काव्य के महत्त्वपूर्ण अंग मालूम होते थे और रसों को अलंकारों की अपेक्षा निम्नपदस्थ समझते थे। भामह और दण्डी व्यंग्यार्थ से अभिज्ञ थे परन्तु इस सिद्धान्त से अभिज्ञ नहीं थे कि प्रतीयमान अर्थ काव्य का प्राण होता है। प्रतीयमान-अर्थ का सन्निवेश वे अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति, आक्षेप, और पर्यायोक्ति इन अलंकारों में करते थे। भामह और दण्डी वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को अधिक महत्त्व का समझते थे। उनकी भावना थी कि यह दो अलंकार और सब अलंकारों की जड़ में हैं। अलंकार को भामह और दण्डी का दिया हुआ महत्त्व बहुत दिनों तक चलता रहा और मम्मट ने भी, चाहे वह ध्वन्यालोक का अनुयायी था, अपने ग्रन्थ में अलंकार को बड़ा विस्तृत स्थान दिया।

वक्रोक्ति कई अर्थों में प्रयुक्त है; आनन्द देने वाली उक्ति, क्रीड़ालाप या परिहासजल्पित, और अस्वभावोक्ति। वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक का वक्रोक्ति से अभिप्राय भणित-भंगी अर्थात् कहने के निराले ढंग से है। वक्रोक्ति भाषण का वह विचित्र ढंग है जो साधारण वास्तविक ढंग से भिन्न होता है। इसका आधार प्रायः श्लेष होता है। कुन्तक वक्रोक्ति को कविता का प्राण मानता है, वक्रोक्ति काव्य जीवितम्। उसका कहना है,

> शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
> बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥

"सहित अर्थात् मिलित शब्द और अर्थ काव्यमर्मज्ञों के आह्लादजनक और वक्रतामय कवि व्यापार से पूर्ण रचना, बंध में विन्यस्त हों तभी काव्य हो सकता है।" वक्रोक्ति का काव्य की दो विशेषताओं पर जोर है कि कविता में, गोकि शब्द साधारण व्यवहार के होते हैं, शब्दों की छाँट साधारण बोली की छाँट से

भिन्न होती है, कि वक्रोक्ति में वस्तुओं और शब्दों का विन्यास ऐसा होता है जो साधारण व्यवहारव्यस्त मनुष्यों की पहुँच से बाहर होता है। वक्रोक्ति की मूल कल्पना भामह ने की है। भामह का कहना है कि वक्रोक्ति सब अलंकारों को सुशोभित करती है। परन्तु वक्रोक्ति को व्यापक साहित्यिक रूप में विकसित करना कुन्तक ही की विशेषता है। वास्तव में वक्रोक्ति अलंकार मत की एक शाखा है और उसका स्वतंत्र प्रतिपादन अनावश्यक है।

काव्य का अदोष होना जरूरी है। दोष वही है जिससे मुख्य अर्थ का अपकर्ष हो। परम्परा से शब्द में भी अभिप्रेतार्थ निहित माना गया है; वाच्यार्थ की उत्कर्षता के अभिप्राय से अर्थ मुख्य हो जाता है; जब रस भाव आदि में चमत्कार अभिप्रेत होता है, तो रस भाव आदि मुख्यार्थ हो जाते हैं। अत काव्य में तीन प्रकार के दोष हो सकते हैं; शब्द-दोष, अर्थ दोष, और रस-दोष। दोष त्याज्य हैं क्योंकि इनसे मुख्यार्थ की अविलम्ब प्रतीति में बाधा पड़ती है। ऐसे शब्द जो सुनने में कटु हों, जो व्याकरण के नियमों के विरुद्ध हों, असमर्थ हों, अप्रयुक्त हों, अश्लील हों, क्लिष्ट हों, हतवृत्त हों, भग्नक्रम हों, तथा प्रसिद्धि त्याग हों, शब्द-दोष लाते हैं। अपुष्ट, व्याहत, कष्टार्थ, पुनरुक्त, दुःक्रम, ग्राम्य, निर्हेतु, प्रसिद्धि-विरुद्ध, विद्याविरुद्ध, अनवीकृत, साकांक्ष, अपदयुक्त, सहचर-भिन्न, प्रकाशित विरुद्ध, निर्मुक्तपुनरक्त, और अश्लील ये अर्थ-दोष हैं। रस का शब्दतः उल्लेख करना, विभाव और अनुभाव की कष्ट-कल्पना, वर्णनीय रस के विरोधी रस की सामग्री का वर्णन, रस की पुनः पुनः दीप्ति, प्रस्तुत रस को छोड़ कर अप्रस्तुत रस का विस्तार, प्रधान रस को छोड़ कर दूसरे रस का विस्तृत वर्णन, प्रतिपाद्य रस की विस्मृति, असंगत रस का वर्णन, और नायक की प्रकृति के विपरीत नायक का वर्णन—इनसे रस-दोष आता है।

काव्य के प्राचीन सिद्धान्तों का यह संक्षिप्त निरूपण है। इन्हीं सिद्धान्तों से काव्य की समीक्षा होती थी। जैसा ढंग प्राचीन ग्रीस और रोम में था, वही भारत में भी था। पश्चिम में अलंकार शास्त्रों की भरमार थी। वहाँ कवियों और लेखकों को अलंकारों और काव्यगुणों के निदर्शनार्थ उद्धृत किया जाता था। कृतियों अथवा लेखकों की अलग से किसी दूसरी समग्र कृति में परीक्षा नहीं की जाती थी। यही प्रणाली संस्कृत आलोचना की थी। अलंकारशास्त्रकार जिस कवि को श्रेष्ठ समझता था उससे काव्यगुणों के स्पष्टीकरण में अवतरण देता था और जिस कवि को अश्रेष्ठ समझता था उससे अवतरण लेकर दोषों का स्पष्टीकरण करता था। कृतियों अथवा लेखकों पर स्वतंत्र आलोचनात्मक लेख लिखने की चाल संस्कृत में भी नहीं थी। प्रसिद्ध कवियों की स्तुति में दो एक श्लोकबद्ध उक्तियाँ ही मूर्त्तालोचना के उदाहरण हैं।

हिन्दी में आलोचना गुणदोष विवेचन के रूप में प्रकट हुई। बद्री नारायण चौधरी ने 'संयोगिता स्वयंवर' के दोषों का बड़ी बारीकी से उद्घाटन किया।

महावीरप्रसाद द्विवेदी ने पहले पहल एक स्वतंत्र आलोचनात्मक ग्रन्थ, 'हिन्दी कालिदास की आलोचना' लिखा। यह पुस्तक ड्राइडन के अनुवादविषयक आलोचनात्मक लेखों की बराबरी नहीं कर सकती। यह भाषा की त्रुटियाँ और मूलभाव के विपर्यय बताने तक ही सीमित है। द्विवेदी जी की दूसरी पुस्तकों में भी गुणदोषों की चर्चा ही है। मिश्रबन्धुओं के 'हिन्दी नवरत्न' नामक ग्रन्थ ने आलोचना को तुलनात्मक वृत्ति दी। देव और विहारी की तुलनात्मक परीक्षा से पद्मसिंह शर्मा, कृष्णविहारी मिश्र, और लाला भगवानदीन उत्तेजित हुए जिन्होंने बड़ी विद्वत्ता से देव और विहारी के बड़प्पन के प्रश्न की समीक्षा की। ये सब आलोचक रूढ़ि के अनुगामी थे। कवियों की विशेषताओं के अन्वेषण और उनकी अंतः प्रकृति के विश्लेषण की ओर उनका ध्यान नहीं गया। अब हिन्दी का महत्त्व बढ़ने के कारण आलोचकों की दृष्टि इस ओर जा रही है। रामचंद्र शुक्ल का 'तुलसीदास', डा० माता प्रसाद गुप्त का 'तुलसीदास' और डा० व्रजेश्वर वर्मा का 'सूरदास' उदाहरणीय हैं। ऐतिहासिक कालों से घनिष्ठ संबंध स्थापित करके उनकी विशेषताएँ स्पष्ट करने का कार्य भी होने लगा है। इस दिशा में भी डॉक्ट्रेट के प्रबंधों के रूप में पुस्तकें निकल रही हैं, जैसे डा० पीतांबर की 'हिन्दी की निर्गुण काव्य धारा', डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय की 'आधुनिक हिन्दी साहित्य (१८५०—१६००)', और डा० श्रीकृष्ण लाल की 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास (१६००—१६२५)।' आलोचना का विषय उन सिद्धान्तों की समीक्षा और प्रतिपादन भी है जिनसे काव्यरचना की सिद्धि होती है। इस विषय में हिन्दी की आलोचना मुख्यतः बाहर का सहारा लेती है। आलोचक या तो संस्कृत अलंकारशास्त्रों की या पश्चिम के आलोचनात्मक सिद्धान्तों की व्याख्या कर देते हैं और ऐसे सिद्धान्तों के नेतृत्व में हिन्दी साहित्य की आलोचना करते हैं। कभी-कभी वे पश्चिम के सिद्धान्तों से संस्कृत के सिद्धान्तों का साहचर्य दिखा देते हैं। इस दिशा में श्यामसुन्दर दास, रामचन्द्र शुक्ल, रामदहिन मिश्र, नगेन्द्र, नलिनविलोचन शर्मा, और बलदेव उपाध्याय का प्रयास उल्लेखनीय है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की हिन्दी साहित्य की समीक्षा भारतीय इतिहास और संस्कृति से प्रेरित है।

प्राच्य आलोचना में काव्य समीक्षा का सर्वोच्च मानदण्ड रसोत्पादन है। रस भाव से निष्पन्न होता है जब भाव कल्पनात्मक मनन का विषय बन जाता है। भाव की आधारशिला व पृष्ठभूमि, जो मानव जीवन और प्रकृति है, पर संस्कृत आलोचकों का कम ध्यान गया है। जीवन और प्रकृति की किस विशेषता से साहित्यिक गाम्भीर्य, उदात्तता और व्यापकता आती है इसकी समीक्षा पाश्चात्य साहित्यिक आलोचना में भी हाल ही की है। आधुनिक काल में साहित्यिक आलोचना को जीवन और अस्तित्व की दार्शनिक आलोचना से संबंधित किया जाता है। उन्नीसवीं शताब्दी के पिछले अर्द्ध के उपन्यासों में विकासवादी सिद्धान्त के प्रकाश में जीवन का अध्ययन किया गया है। इस शताब्दी के शुरू के नाटकों में रचनात्मक विकास के सिद्धान्त को जीवन से उपयुक्त कर उसका आनन्दमय

और शक्तिशाली सम्भाव्य दिखाया गया है, और अब कविता में अनैकान्तिक सिद्धान्त से जीवन की व्याख्या की जा रही है। आलोचना भी इन सिद्धान्तों की और उनकी जीवन संबंधी उपयुक्तता की समीक्षा करती है। प्राचीन आलोचना, पाश्चात्य और प्राच्य दोनों ही, अधिकांश में कलापक्ष लेती हैं, भावपक्ष बहुत कम लेती हैं; और प्राच्य आलोचना तो ऐसी आलोचना को छोड़ कर जो पाश्चात्य आलोचना से प्रभावित है अभी तक अलंकारशास्त्र-विषयक चली जा रही है। इस का एक कारण तो प्राच्य आलोचना का रस सिद्धान्त से शुरू होना मालूम होता है। रस सिद्धान्त साहित्य की सृष्टि और उसके प्रयोजन के मूलतत्व तक पहुँच जाता है और उसमें साहित्य के कलापक्ष और भावपक्ष दोनों का पूर्ण समन्वय है। परन्तु जब कि कलापक्ष का विश्लेषण ध्वनि, रीति, गुण, और अलंकार विचारों में आ जाता है, भावपक्ष का विश्लेषण छूट सा ही जाता है। इस छूट का कारण यह हो सकता है कि यहाँ रचनाओं और लेखकों पर स्वतंत्र किताबें लिखने की प्रथा न थी। रचनाओं की विषयवस्तु की समीक्षा भाष्यकारों और टीकाकारों के लिये छोड़ दी जाती थी। दूसरा कारण यह मालूम होता है कि आधुनिक ज्ञान की दशा जो योरुप में सोलहवीं और सत्तरहवीं शताब्दियों में थी वह हमारे देश में उन्नीसवीं शताब्दी में हुई। दार्शनिक विचारशीलता की जागृति, वैज्ञानिक प्रगति का अध्ययन, और इनके और प्रजातंत्रवाद के कारण व्यक्ति की चेतना—इधर ये हाल ही की बातें हैं। फलतः जैसे मध्यकालीन पश्चिम में विचारधारा सामूहिक थी वैसे ही यहाँ थी। मनुष्य जीवन के सब क्षेत्रों में रूढ़ियों का दास था। साहित्यकार भी रचना को रीति, गुण, अलंकार, और निर्दोषता का यांत्रिक व्यापार समझता था। रीति काव्य का प्राधान्य इस बात का सबूत है। सार यह है कि संस्कृत के प्राचीन आलोचनात्मक मानदण्ड अभिव्यञ्जना संबंधी थे और उन्हें हम एस्थैटिक मानते हैं और हिन्दी के आलोचनात्मक मानदण्ड कुछ समय पहले तक ज्यादातर शास्त्रीय थे क्योंकि वे प्राचीन अलंकारशास्त्रों का अवलम्बन लेते थे। हाल में प्रगतिवादी आलोचक साहित्य की विषयवस्तु की समीक्षा की ओर पूरी तरह से झुके हैं।

पाश्चात्य आलोचना, जिसका दिग्दर्शन हम प्राच्य आलोचना से ऊपर दे चुके हैं, के मानदण्डों का साधारणीकरण करने पर हमें तीन वर्ग के मानदण्ड मिलते हैं; शास्त्रीय, कलामीमांसाविषयक और विषयवस्तुविषयक। अगले भागों में हम इन्हीं तीन प्रकार के मानदण्डों और उनके आधारभूत सिद्धान्तों की परीक्षा करेंगे।

२

प्रतिभा अपने प्रति विस्मय भाव ही जागृत नहीं करती वरन् मनुष्यों को अनुगमन के लिये विवश करती है। होमर, एसकीलीज, सौफोक्लीज, वर्जिल, डाण्टे, शेक्सपियर, मिल्टन, गटे, और इब्सन की कृतियाँ इतनी उच्च कोटि की

हैं कि पीछे से आने वाले लेखक अपने अपने क्षेत्रों में इन्हीं कृतियों का ठीक-ठीक अनुकरण करने से सन्तुष्ट रहे हैं। जैसा ऊपर कहे हुए नामों से प्रगट होता है प्रतिभा का आविर्भाव किसी विशिष्ट देश अथवा काल से बद्ध नहीं है। फिर भी पुनरुत्थान काल में और वहुत वर्षों तक उसके पश्चात् भी यही विश्वास साधारण रूप से प्रचलित था कि प्रतिभा प्राचीन ग्रीस और रोम ही की विशेषता थी। जीवन के दूसरे क्षेत्रों के सदृश साहित्य में भी यह माना जाता था कि उनकी रचनाओं का मुकाविला करना वाद के रचयिताओं के लिये असम्भव था, विशेषतया महाकाव्य या नाटक, भाषणकला, कुत्सन (सैटायर) और ग्राम्यगीतों में। काव्यात्मक विधान में वे चरम सीमा को पहुँचे हुए समझे जाते थे। आधुनिक लेखक तभी सच्चे साहित्यकार कहे जाते थे, जव वे प्राचीन कृतियों का अनुकरण करते थे अथवा उनके अनुरूप लिखते थे। इस प्रकार पुनरुत्थान ने उस शास्त्रीय मत की स्थापना की जिसका समर्थन आलोचकों ने निरन्तर किया और जिसके नियमों का पालन कई शताब्दियों तक लेखकों ने वड़े उत्साह से किया।

शास्त्रीय मत के प्रति दृढ़ श्रद्धा का एक व्यवहित कारण था। वह था मध्यकालीन साहित्य और साहित्यकारों की उपेक्षा। यह उपेक्षा कभी-कभी बुरी घृणा का रूप धारण कर लेती थी और आलोचना के लिये यह बड़े दुर्भाग्य की वात साबित हुई। मध्यकाल अपने ढंग में बड़ा महत्त्वपूर्ण था। सेण्ट्सबरी भिन्न-भिन्न युगों के साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। यूनानी विचार शैली के सैद्धान्तिक और दार्शनिक होने के कारण यूनानी साहित्य का विशिष्ट गुण घनीभूत हो गया है, परन्तु उसका घेरा संकुचित और उसका रूप स्थिर हो गया है। रोम के साहित्य को श्रेष्ठता न पाने के दो कारण थे; एक तो उनकी यूनानी साहित्य का अनुकरण करने की वृत्ति, और दूसरा उनकी प्रतिभा का व्यवहारसिद्ध होना। आधुनिक साहित्य आवश्यकता से अधिक अध्ययनशील है; उस पर पुस्तकालय और मुद्रित पृष्ठ का दृढ़ाग्रह है; वह समझे जाने के लिये असाधारण बुद्धि और परिश्रम चाहता है। इनके अतिरिक्त मध्यकालीन साहित्य एकदम ताजा और मौलिक है। मध्यकालीन लेखक किसी विशिष्ट मत अथवा वर्ग का होता हुआ भी नियंत्रण के अन्दर लिखना पसन्द नहीं करता। उसकी कल्पना स्वेच्छानुसार भ्रमण करती है। अपनी मूलप्रवृत्ति के अनुसार क्रियाशील होने के फलस्वरूप उसने संसार के साहित्य की राशि में वृद्धि की। उसने कथानक की रचना की, जिसके अलौकिकता और प्रेमावेश दो मुख्य प्रेरक थे। उसने रोमान्स की रचना की, जिसमें लेखक का विषय धर्म से लेकर हिरन के शिकार तक और इतिहास से लेकर प्रेम तक कुछ भी हो सकता था, जिसमें लेखक न [illegible] की, न संकलन की, न घटनीयता की परवाह करता था। उसने [illegible] और छोटी-छोटी कहानियों की रचना की। उसने धार्मिक नाटक की रचना की, जिसमें न वस्तु-संकलन था, क्योंकि उसका विषय मनुष्य जाति का आदि से लेकर अन्त तक का समस्त इतिहास था, और न काल-संकलन और न स्थल-संकलन

था। इन सब रचनाओं के रूप में मध्यकाल ने आलोचनात्मक विशिष्टताओं की एक नई गणनारीति प्रदान की। यदि पुनरुत्थान का आलोचक अरिस्टॉटल, हॉरेस, क्विन्टीलियन और लॉन्जायनस के ज्ञान के साथ-साथ मध्यकाल के संचित साहित्य का उपयोग करता तो वह आलोचना को एक ऐसा निर्देश देने में सफल होता जिससे साहित्य-सृष्टि में सच्ची प्रगति संभव होती। परन्तु पुनरुत्थान का धर्म प्रोटेस्टैण्ट था, उसकी अध्यात्म विद्या स्वतंत्र थी और उसकी राजनीति प्रजातंत्रवादी थी; और मध्यकाल का धर्म कैथलिक था, उसकी तत्त्वशिक्षा आडम्बरहीन थी, और उसकी राजनीति शिष्टजनसत्तात्मक थी। स्वभावतः पुनरुत्थान ने मध्यकाल की उपेक्षा की और इसी कारण साहित्य क्षेत्र में सब कुछ होते हुए भी उसने प्राचीन ग्रीस और रोम का नेतृत्व स्वीकार कर प्रगति की घड़ी को एक हजार वर्ष पीछे हटा दिया। यदि पुनरुत्थान का आलोचक मध्यकाल की उपेक्षा न करता और उस काल के साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन करता तो वह साहित्य को तब ही उस दशा में पा सकता था जो दशा उसकी उन्नीसवीं शताब्दी में थी। वह उत्कृष्ट साहित्य जो पुनरुत्थान और नव शास्त्रीय काल में लिखा गया उन समयों के नियमों के विरुद्ध लिखा गया था। साधारणतः लेखकों ने बड़ी नम्रता से उन नियमों को ग्रहण किया जिन का आविष्कार अरिस्टॉटल ने किया था और जिनकी व्याख्या उसके इटलीवाले पुनरुत्थान के आलोचकों ने की थी; और उन नियमों को भी ग्रहण किया जिन्हें अरिस्टॉटल के आधार पर हॉरेस ने परिभाषित किया था।

शास्त्रीय वृत्ति का विकास तीन कारणों से हुआ; मानववाद अथवा प्राचीन उत्कृष्ट कृतियों का अनुकरण, अरिस्टॉटलवाद अथवा अरिस्टॉटल की 'पोइटिक्स' का प्रभाव, और तर्कप्राधान्यवाद अथवा तर्कप्रमाण का शासन। मानववाद ग्रीस और रोम की सम्पन्न मानवता का अध्ययन था, इस उद्देश्य से कि मानवकृति को फिर से उन शोभाओं से सुसज्जित किया जाय जो प्राचीन युग के मान का कारण थीं। मानववाद चार अवस्थाओं में से निकला। पहली अवस्था में प्राचीन रचनाओं की खोज और उनका संग्रह किया गया। दूसरी अवस्था में इकट्ठी की गई रचनाओं का वर्गीकरण और उनका अनुवाद किया गया। तीसरी अवस्था में ऐसी एकैडेमीज़ की स्थापना हुई जिनमें प्राचीन रचनाओं का अध्ययन हुआ, जिनमें उस नवीन वृत्ति पर व्याख्यान हुए जिसका जागरण प्राचीन रचनाओं के अध्ययन द्वारा हुआ था—उस वृत्ति पर जिसके द्वारा मनुष्य को अपने व्यक्तिगत मूल्य की चेतना हुई और जिसके द्वारा मध्यकालीन शून्यता और स्वगताभिमान से मुक्ति पाकर उसने जीवन और प्रकृति के रहस्यों को नये ढंग से समझा। चौथी अवस्था में उस काव्यमीमांसा विषयक और वृत्यात्मक पाण्डित्य का अभ्यास हुआ जिसकी बुनियाद प्राचीन रचनाओं के अध्ययन ने डाली। प्राचीन रचनाओं के गम्भीर अध्ययन से ही शास्त्रीय अनुकरण की परम्परा चल पड़ी और इस परम्परा ने साहित्यालोचन को कई तरह प्रभावित किया। पहला प्रभाव यह था कि प्राचीन रचनाओं के अनुकरण ने आलोचकों का ध्यान कृति के

वाह्य रूप के अध्ययन की ओर आकर्षित किया। अंग-संस्थापन, आकृतिक ऐक्य, शाब्दिक चमत्कार, पदविन्यास की पटुता, और ऐसी शब्द-योजना जिससे अर्थ व्यञ्जित हो—ये सब बातें अपने ही हेतु अध्ययन योग्य बन गई। विडा ने ध्वन्य-नुकरण के नियमों का विधान किया; टौलौमी ने प्राचीन छंदों की उपयुक्तता का अध्ययन किया; कैस्टलवीट्रो ने औचित्य और रंगमंचीय सत्याभास के नियमों की स्थापना की, और काल और देश संकलन पर इतना जोर दिया कि उन्हें वस्तु संकलन से भी उच्चपदस्थ कर दिया। दूसरा प्रभाव यह था कि प्राचीन रचनाओं के अनुकरण ने पुनरुत्थान की कविता को असंस्कृत विशेषता दे दी। इसका कारण प्रतिमापूजक यूनानियों के देवताओं का आवाहन था, जिसकी आवश्यकता यों पड़ती थी कि ईसाई ईश्वर का आवाहन कविता में पावित्र्यदूषक समझा जाता था। तीसरा प्रभाव यह था कि प्राचीन रचनाओं के अनुकरण ने प्रयुक्त अथवा मूर्त आलोचना का रिवाज बढ़ा दिया; क्योंकि अनुकरण का सिद्धान्त आलोचकों को यह सिद्ध करने के लिये मजबूर करता था कि अमुक लेखक अनुकरण किये जाने योग्य है और अमुक लेखक नहीं और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्हें लेखकों का स्वतन्त्र और तुलनात्मक अध्ययन करना पड़ता था। चौथा प्रभाव यह था कि शास्त्रीय अनुकरण को काव्यात्मक रचना का स्रोत माने जाने के कारण कला और प्रकृति के संवन्ध में परिवर्तन होने लगा, कम से कम उस हद तक जिस तक कि रचना और उसकी आलोचना का सरोकार है। यह परिवर्तन धीरे धीरे आया। विडा ने प्रकृति के अनुकरण की प्राचीन लेखकों के प्रमाण पर सलाह दी; उसने कहा कि प्राचीन लेखक अपनी रचनाओं में प्रकृति के सत्य से नहीं हटते थे। स्कैलीगर ने लेखकों को वर्जिल के अनुकरण की सलाह दी; उसका कहना था कि वर्जिल ने अपनी रचनाओं में प्रकृति को और अधिक पूर्ण कर दिखाया है। पोप ने कवियों को सलाह दी कि वे प्राचीन नियमों का अनुकरण करें; उसका कहना था कि प्राचीन नियम व्यवस्थित प्रकृति हैं और उनका अनु-करण करना और प्रकृति का अनुकरण करना एक ही बात है। अरिस्टॉटलवाद जोकि शास्त्रीय वृत्ति की वृद्धि का दूसरा कारण था, उसका सूत्रपात सन् १५३६ ईस्वी में हुआ, जब कि पैजी ने 'पोयटिक्स' का लैटिन अनुवाद प्रकाशित किया। इसके पीछे सन् १५४८ ईस्वी में रौवर्टैली का आलोचनात्मक संस्करण आया, और इसके पीछे सन् १५५० ईस्वी में मैगी का संस्करण आया। अनुवादों और टीकाओं की संख्या बढ़ती ही गई, यहां तक कि यूरोप भर में साहित्य के साम्राज्य पर अरिस्टॉटल का एकाधिपत्य व्यापक रूप से जम गया। इङ्गलैण्ड में भी अरि-स्टॉटल का आधिपत्य सर्वमान्य था। सिडनी, बैन जौन्सन, ड्राइडन, पोप, एडीसन, और जौन्सन सभी उसकी वंदना करते थे। अरिस्टॉटलवाद के प्रसार के फल-स्वरूप कविता का आक्षेपों के विरुद्ध दार्शनिक बचाव सुगम हुआ, और महाकाव्य और नाटक की रचना के लिये साहित्यालोचन को सर्वांगी नियमों की प्राप्ति हुई। [illegible]वाद शास्त्रीय वृत्ति की वृद्धि का तीसरा कारण था और मौलिक

विज्ञानों और अनुभवमूलक दर्शनों के साथ-साथ उन्नत हुआ। विडा, स्कैलीगर, वोयलो, ड्राइडन, पोप, और जॉन्सन शपथ खाकर कहते थे कि तर्क ही सब बातों का अन्तिम निर्णायक है। तर्कप्राधान्यवाद के कारण ही हौरेस को जिसका आदर्श सदाशय था नवशास्त्रीय काल में अरिस्टॉटल से अधिक ऊँचा समझा जाता था। तर्कप्राधान्यवाद की वृत्ति ने सब प्रकार की उच्छृङ्खलता की उपेक्षा की। इसी वृत्ति ने कवियों को अपनी कल्पना और संवेदनशीलता की अभिव्यञ्जना को संयत करना सिखाया और यही वृत्ति इस विश्वास की उत्तरदायी हुई कि क्रम, सुडौलता, और नियमबद्धता कला की उच्चतम आवश्यकताएँ हैं, कि दुर्बोधता, प्राचुर्य, और उत्केन्द्रता शास्त्रीय सम्पूर्णता के विरुद्ध हैं।

शास्त्रीय लेखक अपने काव्यात्मक मूल्य बाहर से ग्रहण करता है, उन साहित्यिक रचनाओं से ग्रहण करता है जिन्हें संसार चमत्कारयुक्त घोषित करता है। पुनरुत्थान काल के लेखक के लिये ऐसी रचनाएँ प्राचीन ग्रीस और रोम की थीं। महाकाव्य रचना में यूनानियों के बीच होमर और रोमियों के बीच वर्जिल और नाटक रचना में यूनानियों के बीच एस्कीलस, सौफोक्लीज़ और यूरोपिडीज़ और रोमियों के बीच प्लौटस और टैरेन्स सर्वोच्च श्रेणी के साहित्यकार माने जाते थे। उनकी कृतियाँ नमूनों की तरह मानी जाती थीं। महाकाव्य की परिभाषा ही ऐसा काव्य था जो 'इलियड' के अनुरूप लिखा गया हो। 'इलियड' और 'औडिसी' ने यूनानियों के राष्ट्रीय अभिमान को उत्तेजना दी, 'एनीड' ने रोमियों का उद्गम वीर एनीज़ से वर्णित कर उनके जातीय अभिमान को उत्तेजना दी; 'इलियड' में ट्रोय के युद्ध का वर्णन है और 'औडिसी' में यूलीसिस के साहसिक भ्रमणों का, 'एनीड' में युद्ध और भ्रमण दोनों सम्मिलित हैं; 'इलियड' में यूनानी और ट्रोय की सेनाओं की सूची है, 'एनीड' ऐसी ही सूची लैटियम की सेनाओं की देती है; 'इलियड' में एकीलीज़ की उस ढाल का वर्णन है जिसे हिफैस्टस ने उसकी मा थैटिस के कहने से बनाया था, 'एनीड' में उस ढाल का वर्णन है जो वीनस ने अपने पुत्र एनीज के लिये सुरक्षित किया था; 'इलियड' में प्रोक्लस के सम्मान में अनन्य क्रिया-विषयक खेल वर्णित हैं, 'एनीड' में एन्काइज़ीज़ के सम्मान में; 'औडिसी' में यूलीसीज़ के कैलिप्सो के साथ ठहरने का हाल है और साइक्लोप्स, सर्सी, सिला, कैरिब्डीज़ के साथ उसके अनुभवों का, 'एनीड' में डायडो के साथ एनीज़ के ठहरने का हाल है और सिला, कैरिब्डीज़ और साइक्लोप्स के साथ उसके अनुभवों का; 'औडिसी' में यूलीसीज़ के नर्क गमन का संकेत है, 'एनीड' में एनीज़ के यमलोकगमन का संकेत है। वर्जिल ने होमर का रचनाकौशल में भी अनुकरण किया है। दोनों कवि अपने महाकाव्यों को कथावस्तु के सूक्ष्म विवरण से और काव्यदेवी के आह्वान से प्रारम्भ करते हैं। दोनों कवि लंबी-लंबी उपमाएँ देते हैं। दोनों कवि कार्य-व्यापार में एक दम प्रवेश कर जाते हैं और पूर्व घटनाओं का हाल बाद में देते हैं; वर्जिल एनीज़ को अपनी पूर्व घटनाओं के वर्णन करने का अवसर डायडो के सामने देता है जैसे होमर यूलीसीज़ को अपनी पूर्वघटनाओं

के वर्णन करने का अवसर एल्कीनस के दरबार में देता है। दोनों कवि अलौकिक पात्रों का प्रयोग करते हैं, जो मनुष्यों को अपने पूरे नियंत्रण में रखते हैं। परन्तु वर्जिल ने एक नवीनता दिखलाई। जब कि होमर का प्रत्येक काव्य चौबीस सर्गों में बँटा हुआ था, 'एनीड' बारह सर्गों में बाँटा गया। पुनरुत्थान काल से 'एनीड' ही नमूने का महाकाव्य हो गया। करुण का नमूना इतना एस्कीलीज, सौफ़ोक्लीज़ और यूरोपिडीज से नहीं आया जितना कि सैनेका से जिस पर उनका पूरा प्रभाव था; और हास्य का नमूना प्लौटस और टैरैन्स से आया। सैनेका का करुण का आधार पौराणिक इतिहास था। मुख्य पात्र देवता और महावीर होते थे, और अपराध और दण्ड कार्य की प्रधान विशेषताएँ होती थीं। जहाँ कहीं जल्दी-जल्दी प्रश्नोत्तर होते थे ऐसे स्थलों को छोड़ कर कार्यगति बहुधा मन्द ही होती थी। कथन विस्तृत होते थे और उत्कृष्ट शैली में कहे जाते थे। हमेशा गायक गण का प्रवेश होता था, जो कार्य के पाठ को अपनी नैतिक और दार्शनिक टीकाओं से अथवा ऐसे गीतात्मक उद्गारों से जो दर्शकों के अर्धनिर्मित व अस्पष्ट भावों को व्यक्त करते थे, सुसज्जित करते थे। प्लौटस और टैरैन्स का करुण यथार्थवादी था। उसका उद्देश्य चरित्र की उत्केन्द्रताओं और सामाजिक शिष्टाचार के लंघन के प्रति हँसी लाना होता था। रीति अतिशयोक्ति की होती थी और चित्रण अनन्तर्-वेगीय होता था।

शास्त्रीय लेखक अपना नेतृत्व अरिस्टॉटल और हौरेस से पाता है। पुनरुत्थान काल में अरिस्टॉटल को हौरेस से अधिक अधिकार प्राप्त था। उसके नियम उसकी 'पोइटिक्स' में दिये हैं। महाकाव्य, करुण, हास्य, गीति काव्य, मुरली बजाना, वीणा बजाना-ये सब अनुकरण की रीतियाँ हैं। वे एक दूसरे से तीन ढंग में पृथक हैं, या तो अनुकरण के साधन में, या अनुकरण की वस्तु में, या अनुकरण की रीति में। लयबद्धता और सुस्वरत्व मुरली बजा कर अनुकरण के साधन हैं, अकेली लयबद्धता नृत्यात्मक अनुकरण के साधन हैं, छंद और भाषा काव्यात्मक अनुकरण के साधन हैं। छंद काव्य के लिये अनिवार्य नहीं है। यदि वैद्यक और भौतिक दर्शन छंद में लिखे जायें, तो वे काव्यात्मक नहीं हो सकते। महाकाव्य, करुण, भजन, और प्रशंसा गान में अनुकरण की वस्तु उत्तम जीवन होती है; शिक्षाप्रद काव्य में मध्यम श्रेणी के जीवन का अनुकरण होता है; और कुत्सन, हास्योद्दीपक काव्य, और हास्य में निम्न श्रेणी का जीवन होता है। अनुकरण करने की तीन रीतियाँ हैं : कोई कभी कथात्मक रीति में और कभी दूसरे का रूप धारण करके अनुकरण करे, जैसे होमर करता है; कोई निरन्तर कथात्मक रहा आये और कहीं किसी और के रूप में कुछ न कहे; या अनुकरण करने वाली किसी कथा का चित्रण रूपक की तरह करे, मानो कि वे स्वयं उन बातों को कर रहे हों जो वर्णन के विषय हैं। कविता का स्रोत दो मूल प्रवृत्तियों में है; अनुकरण करने की, और लय और एकतान की। भजन और प्रशंसागान में महाकाव्य का उद्गम है, शौर्यगीत में करुणा का और लिंगोपासना विषयक गीतों में हास्य का उद्गम है।

करुण के अभिनय में पहले एक नट होता था, एस्कीलीज ने एक नट और बढ़ा दिया, और सॉफोक्लीज ने एक और नट और रंगसज्जा का प्रयोग किया। धीरे धीरे करुण आकार और गंभीरवृत्ति में भी बढ़ा। सामान्य पुरुषों से बुरे पुरुषों का अनुकरण हास्य है; बुरे, सब प्रकार के दोषों के ख्याल से नहीं, वरन् एक प्रकार के दोष के ख्याल से, उपहास्य, जिसे कुरूपता का एक विकार कह सकते हैं। उपहास्य ऐसे दोष या वैरूप्य को कहते हैं जो दूसरों को दुःख अथवा हानि न दे; उदाहरणार्थ मुखावरण उपहास्य है क्योंकि उससे हँसी उठती है, वह किसी को दुःख नहीं देता। महाकाव्य और करुण में तीन अन्तर हैं। पहले, महाकाव्य के पद षड्गणात्मक होते हैं और उसकी रीति कथात्मक होती है। दूसरे महाकाव्य का विस्तार करुण के विस्तार से कहीं अधिक होता है, कारण यह है कि महाकाव्य के कार्यव्यापार का कोई नियत समय नहीं होता, इसके विपरीत करुण का समय सूर्य के एक फेरे से सीमित होता है या सूर्य के एक फेरे के समय के लगभग। काल संकलन का अरिस्टॉटल, यही अकेला उल्लेख है। पुनरुत्थान के कुछ भाष्यकारों ने सूर्य के एक फेरे से चौबीस घण्टे के दिन का अर्थ लगाया और कुछ भाष्यकारों ने बारह घण्टे के दिन का अर्थ लगाया। किसी नाटक में जितनी घटनाएँ हों वे सब चौबीस घण्टों में अथवा बारह घण्टों में समाप्त हो जायँ। इस समस्या पर वादविवाद के परिणाम में शास्त्रीय आलोचकों ने यह निश्चित किया कि किसी नाटक की समस्त घटनाओं का समय उतना ही होना चाहिये जितना कि उस नाटक के रंगमंच पर अभिनय का। स्थल-संकलन का अरिस्टॉटल में कोई उल्लेख नहीं है। उसका प्रतिपादन पहले पहल इटली के आलोचक ट्रिसिनो ने किया था। तीसरे वे अपने घटकावयव की संख्या में एक दूसरे से भिन्न हैं; कुछ अवयव वो दोनों में एक से होते हैं और कुछ करुण की विशेषताएँ हैं—इसी कारण करुण का आलोचक महाकाव्य का भी आलोचक होता है। करुण की परिभाषा अरिस्टॉटल इस प्रकार करता है: "करुण ऐसे कार्य का अनुकरण है जो गंभीर हो, जिसकी उपयुक्त आकृति हो, और जो अपने में पूर्ण हो; ऐसी भाषा में जिसमें कई प्रकार की आनन्ददायक विभिन्नता हो, प्रत्येक विभिन्नता (पात्रों की संस्कृति और विषय की विशेषता के अनुसार) ठीक समय पर प्रदर्शित हो; रूपक की रीति में, कथात्मक रीति में नहीं; ऐसी घटनाओं से जो शोक और भय के भावों को उत्तेजित करके उनका शोध करे।" इस परिभाषा के अनुसार करुण के नियम इस प्रकरण के पहले भाग में दिये जा चुके हैं। पीछे से अरिस्टॉटल महाकाव्य और करुण की तुलना करता है। महाकाव्य की कथा भी सरल अथवा असरल हो सकती है; वह भी दुःखमय हो सकती है अथवा उसमें भी चरित्र चित्रण हो सकता है; उसके भाग भी संगीत और नाट्य-संबंधी प्रदर्शन के अतिरिक्त एक से ही हैं; और उसकी भाषा और विचार भी उत्कृष्ट शैली में होते हैं। बस, अन्तर विस्तार, वृत्त, और अलौकिकता के प्रयोग का है। अलौकिकता करुण में भी इस्तेमाल होती है, परन्तु उसका इस्तेमाल महाकाव्य में अधिक मात्रा में हो

सकता है। अलौकिकता का प्रयोग इस ढंग से करना चाहिये कि वह लौकिक मालूम पड़े। करुण को अरिस्टॉटल महाकाव्य से अधिक श्रेष्ठ समझता है, क्योंकि वह संगीत और अभिनय के अवयवों के कारण ज्यादा पेचीदा है, क्योंकि वह रंग मंच पर खेले जाने के कारण ज्यादा स्पष्ट होता है और उसके पढ़ने में भी स्पष्टता की अधिक अनुभूति होती है, क्योंकि करुण थोड़े विस्तार में ही अपना प्रयोजन सिद्ध कर लेता है, क्योंकि करुण में महाकाव्य के देखते हुए अधिक ऐक्य होता है। हौरेस के नियम और पुनरुत्थान और नवशास्त्रीयकाल के नियम जो अरिस्टॉटल और हौरेस के आधार पर निर्मित हुए थे हम पहले ही दे चुके हैं।

शास्त्रीय आलोचना के बड़े अच्छे उदाहरण एलीज़ैबैथ के काल की आलोचना में मिलते हैं। इस काल की आलोचना की चार समस्याएँ थीं; भाषा सुधार, छंद सुधार, कविता का आक्रमणों से बचाव, और तुक का बचाव। चारों समस्याओं के हल करने में एक न एक पक्ष ने शास्त्रीय प्रमाणों का सहारा लिया। भाषा के सुधारक दो वर्गों में विभक्त थे, शुद्धनिष्ठ और पूर्णसुधारनिष्ठ। शुद्धनिष्ठ वर्ग के सुधारक स्थितिपालक और हर एक तरह की नवीनता के बैरी थे; वे अपनी भाषा के स्रोतों को ही काम में लाकर अपनी भाषा का विकास करना चाहते थे। इस वर्ग में एस्कम, विल्सन, चीक, और पटनहम थे। पूर्णसुधारनिष्ट वर्ग सब प्रकार की नवीनता के पक्ष में था, विशेपतया नये शब्द गढ़ने की स्वतंत्रता के और वैदेशिक भाषाओं से वृहद परिमाण में शब्द ले लेने के। इस वर्ग में सर टोमस इलियट, जोर्ज पैटी, और टॉमस नैश थे। अंत में एक समझौता हुआ जिसके द्वारा वैदेशिक शब्दों का पर्याप्त मात्रा में ले लेना स्वीकार हुआ, और ग्रीक और लैटिन भाषाओं को अंग्रेजी भाषा ने शिक्षक और नमूना माना। इस समझौते में विल्सन और चीक ने भी साथ दिया और जैस्कोइन और स्पैन्सर ने उनका समर्थन किया। यही समस्या आज कल हिन्दी के सामने पेश है। जैसे हिन्दी अपना मूल स्रोत प्राकृत और अपभ्रंश मानती है वैसे ही अंग्रेज़ी अपना मूलस्रोत ओल्ड इङ्गलिश और मिडिल इङ्गलिश को मानती थी। जैसे अंग्रेजी के सुधारक अपनी भाषा के सुधार के लिये ओल्ड और मिडिल इङ्गलिश से बाहर नहीं जाना चाहते थे वैसे ही हिन्दी के सुधारक भी अपनी भाषा के सुधार के लिये संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश से बाहर नहीं जाना चाहते। हिन्दी के बहुत से भाषासुधारक उर्दू, फारसी और दूसरी वैदेशिक भाषाओं से शब्द नहीं लेना चाहते हैं। यह बड़ी भूल है। भाषा तब तक समृद्धिशाली नहीं हो सकती जब तक वह सब तरफ से आये हुए शब्दों को अपने प्रयोग में लाने की क्षमता न दिखाये। भाषा व्यापार ही एक ऐसा व्यापार है जिसमें उधार लेना बिना वापिस करने के वायदे के बुद्धिमानी है। एलीज़ैबैथ के काल में अंग्रेजी पद्य भी बुरी दशा में था। [illegible] ( आयेम्बिक फुट ) का अधिकतया प्रयोग था और लाइनें अक्षरों ( [illegible] ) में कम या ज्यादा रहती थीं। छंद सुधारकों ने लैटिन और ग्रीक [illegible] के अनुकरण करने की धारणा की और अंग्रेज़ी पद्य को मात्रिक बनाना

चाहा। टॉमस ड्रैंट ने लैटिन छंद के नियमों के अनुसार अंग्रेजी छंद के नियम बनाये और इनको सिड्नी, डायर, ग्रैविल, और स्पेन्सर ने स्वीकार कर लिया। बस, पद्गणात्मक पद लिखे जाने लगे। परन्तु इनमें सुन्दरता न आ सकी क्योंकि अंग्रेजी भाषा स्वराघात पर आधारित है और मात्रिक प्रवृत्ति नहीं दिखाती। हार्वी भी लैटिन छंद के नियमों के पक्ष में थे, परन्तु उसने बड़ी मात्रा को स्वराघात से चिह्नित किया। हार्वी की नई रीति से इतना फायदा हुआ कि अंग्रेजी पद्य में लघु गुरु के अतिरिक्त दूसरे गणों का प्रयोग होने लगा। धीरे धीरे मात्रिक छंद का रिवाज बिल्कुल उठ गया और स्वराघातात्मक पद्य पर ही कवि आ गये। फिर भी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जहाँ शास्त्रीयता काम नहीं दे सकती थी वहाँ भी उसका सहारा लिया गया। जॉन्सन के आक्रमणों से कविता को बचाने के लिये लॉज और सिड्नी ने शास्त्रीय सिद्धान्तों का सहारा लिया। इन आलोचकों की दलीलों में प्लैटो, अरिस्टॉटल, और इटली के पुनरुत्थानकालीन आलोचकों के निर्देश स्पष्ट हैं। तुक के बहिष्कार के लिये कैम्पियन ने ग्रीस और रोम के कवियों का निर्देश दिया; वे अपने पद्य में गणों ही का उचित आधार लेते थे और तुक को रुचिकर नहीं समझते थे। उसका कहना है कि ओविड को तुकान्त पद्य लिख डालने के कारण भ्रान्ति में समझा जाता था। मिल्टन ने भी अपने 'पैरैडाइज़ लॉस्ट' के आरम्भ में एक छोटे से नोट में तुक को दूषित माना है। तुक न होमर ने ग्रीक में, न वर्जिल ने लैटिन में इस्तेमाल की थी। तुक कविता या अच्छी पद्य का न कोई अनिवार्य अंग है और न कोई आभूषण है। तुक तो उत्तर के जंगली आदमियों की आविष्कृति है, और उसका उपयोग निकृष्ट वस्तु और लंगड़े पद्य को उभारने के लिये किया जाता है। डैनियल और उसके पश्चात् ड्रायडन ने तुक का समर्थन किया, कि तुक पद्य को आभूषित करती है, कि वह स्मृति को सहायता देती है, कि वह कवि की कल्पना को उत्तेजित करती है, कि वह उत्कृष्ट कविता के लिये एक आदर्शीकृत वातावरण पैदा करती है, कि उसकी साधारण खराबी, कि उसके इस्तेमाल में कवि को कभी-कभी अपने अर्थ को भ्रष्ट करना पड़ता है कवि के कौशलहीन होने के कारण हैं। इस वादविवाद में भी एक पक्ष ने स्पष्टतया शास्त्रीयता का सहारा लिया है। बैन जॉन्सन शास्त्रीयता का पक्षपाती था। हॉरेस, सैनेका और क्विण्टीलियन उसके इष्ट थे। उसका करुण सैनैका के आधार पर और उसका हास्य प्लौटस और टैरैन्स के आधार पर लिखा गया है। ड्राइडन के निबन्धों में शास्त्रीय निर्देशों की भरमार है। एडीसन ने 'पैरैडाइज़ लॉस्ट' की आलोचना में अरिस्टॉटल के नियमों का प्रयोग किया और वर्जिल के महाकाव्य को नमूना माना। पोप ने अपने 'एसे ऑन क्रिटीसिज़्म' में हॉरेस, विडा, और बोयलो के सिद्धान्तों को स्वीकार किया। डॉक्टर जॉन्सन की उक्ति कि कविता साधारणीकरण करती है अरिस्टॉटल और हॉरेस पर निर्भर है। अरिस्टॉटल ने साफ़ कहा था कि कवि अपनी कथा को, चाहे पहले से आई हुई हो चाहे उसकी निर्मित हो, पहले सरल कर ले और उसको व्यापक रूप में

देखे, पेशतर इसके कि वह कथांगों से उसे विस्तृत करे। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी की शास्त्रीयता पर रोमान्सिक प्रवृत्ति का असर दीख पड़ता है। आर्नल्ड कहता है कि हमें प्राचीन लेखकों की बराबरी करनी चाहिये, उनका अनुकरण नहीं। गिल्बर्ट मरे कहता है कि वीरकाव्य और होमर की विशेषताएँ प्रकृति का सत्य और कथन का गाम्भीर्य है, और रोमान्सवादिता की विशेषता झूठा अतिवाद है। टी० एस० इलियट भी विषयवस्तु का महत्त्व मानने में और अभिव्यञ्जना कौशल पर ज़ोर देने में शास्त्रीय प्रवृत्ति दिखाता है। अपने अंतर्वेगों के लिये एक अनात्मिक प्रतिमूर्ति ढूंढ निकालने के चेतन प्रयास में वह अरिस्टॉटल के इस सिद्धान्त का अनुयायी है कि कवि कथानक की सृष्टि के कारण स्रष्टा कहा जाता है। कवि को परम्परा के ज्ञान की आवश्यकता बताने में भी, कि कवि अपनी चेतना में अतीत का अतीतत्व ही न रखे वरन् उसका उपस्थान भी, टी० एस० इलियट शास्त्रीयता का पक्षपाती है।

भारत में शास्त्रीयता का प्रचार रहा है। काव्य और काव्यों के रूपों के लक्षण प्राचीन काल में साहित्यशास्त्रज्ञों ने निश्चित कर दिये थे। आगामी लेखकों ने उन्हीं लक्षणों के अनुसार काव्य की सृष्टि की। शास्त्रीयता के प्रचार का मुख्य कारण प्राचीन काल के लेखकों और शास्त्रज्ञों के प्रति श्रद्धा भाव है।

प्राचीन साहित्यशास्त्रों में काव्यों के भिन्न-भिन्न विचारों से भिन्न-भिन्न भेद हैं। अनुभवाश्रय के विचार से काव्य दो प्रकार का होता है, श्रव्य और दृश्य। जिस काव्य के सुनने से आनन्द का उद्रेक हो वह श्रव्य काव्य है। यह नाम पड़ने का कारण यह था कि प्राचीन समय में मुद्रणकला न थी और लोग काव्य सुना ही करते थे। श्रव्य काव्य में कवि स्वयम् वक्ता बनकर अपनी कथा कहता है। दृश्य काव्य वह है जिसका रसास्वादन अभिनय देखकर होता है। इस काव्य में कवि स्वयं कुछ नहीं कहता। उसे जो कुछ कहना होता है पात्रों द्वारा कहता है। नट पात्र का रूप धारण कर उसकी अवस्थाओं का वचन, अंग, वेशभूषा, आदि से अनुकरण करता है। इसी विशेषता के कारण इस काव्य को नाटक भी कहते हैं। रचना के विचार से श्रव्य काव्य के तीन भेद हैं; प्रबंध, निबंध, और निर्बंध। अनेक संबद्ध पद्यों में पूरा होने वाला काव्य प्रबंध है। प्रबंध काव्य विस्तार के विचार से तीन प्रकार का होता है; महाकाव्य, काव्य, और खण्डकाव्य। किसी देवता अथवा महान् व्यक्ति का वृत्तान्त लेकर बहुत से सर्गों में लिखा हुआ काव्य महाकाव्य है। काव्य भी सर्गबद्ध होता है, परन्तु उसमें विस्तार इतना नहीं होता। एक कथा का निरूपक होने के कारण यह एकार्थक काव्य भी कहलाता है। खंडकाव्य वह काव्य है जिसमें काव्य के संपूर्ण अलंकार या लक्षण न हों। इसमें काव्य के एक अंश का अनुसरण किया जाता है। इसमें जीवन की किसी एक घटना या कथा का वर्णन होता है; जैसे मेघदूत, जयद्रथवध। जैसे प्रबंध विस्तार का द्योतक है, निबंध साधारणता का द्योतक है। जिस काव्य में कोई कथा अथवा

वर्णन कई पद्यों में लिखा गया हो वह निबंध काव्य है। निर्बन्ध काव्य वह काव्य है जो प्रबंध और निबंध काव्यों के बंधनों से अलग हो। इस काव्य का प्रत्येक पद्य, वह चाहे जितनी पंक्तियों का हो, स्वतंत्र होता है। निबंध काव्य दो तरह का होता है; मुक्तक और गीत। वह काव्य जो एक ही पद्य में पूरा हो, जिसकी कथा दूर तक न चले, मुक्तक है। वह प्रबंध का उल्टा होता है और इसे उद्भट भी कहते हैं। दोहे, कविता, सवैया इसके उदाहरण हैं। जो काव्य गाया जा सके गीत काव्य है। इसमें ताल-लय-विशुद्ध और सुस्वर पंक्तियाँ होती हैं। गीत दो प्रकार का होता है—वैदिक और लौकिक। वैदिक गीत को साम कहते हैं। सामवेद ऐसे ही गीतों से भरा हुआ है। लौकिक गीत के दो भेद हैं, ग्राम्य और नागर। जिन गीतों को सामाजिक विधि-व्यवहारों के समय स्त्रियाँ गाती हैं, ग्राम्य गीत हैं; जैसे सोहर। इन गीतों में हमारी जातीय संस्कृति और भावनाओं का संचय है। नागरिक गीत शुद्ध रूप से काव्यात्मक होता है और उसके रचयिता अपनी प्रतिभा के लिए प्रसिद्ध हैं; जैसे, जयदेव, विद्यापति, सूरदास, और तुलसीदास। शब्दविन्यास के विचार से काव्य तीन प्रकार का होता है—पद्य, गद्य, और चम्पू। छंदोबद्ध कविता पद्य है। पद्य काव्य में गोकि कवि यथारुचि पद-स्थापना कर सकता है, पर छंद के बंधनों से बंधा रहता है। गद्य-काव्य छंद के बंधनों से मुक्त होता है। गद्यकाव्य में प्रणयनता लाना पद्यकाव्य के मुकाबिले कहीं कठिन है; क्योंकि इसमें तुक और छंद की शोभा नहीं होती। अर्थ की रमणीयता ही गद्यकाव्य को उत्कृष्ट बनाती है। गद्य काव्य के दो भेद हैं—कथा और आख्यायिका। गद्यपद्यमय काव्य को चंपू कहते हैं। इस काव्य में गद्य के विचार में पद्य आती रहती है। प्रसाद का 'उर्वशी चंपू', मैथिलीशरण गुप्त का 'यशोधरा' और अक्षयवट का 'अन्य चरित चंपू' चंपू काव्य का अंदाजा देते हैं।

काव्य से इन रूपों में से कुछ प्रधान रूपों की प्राचीन धारणा हम यहाँ देते हैं।

गीतात्मक काव्य वेदों से ही आरम्भ होता है। ऋग्वेद में ऐसे मंत्रों का बाहुल्य है जिनमें इन्द्र, सूर्य, अग्नि, उषः, मरुत् आदि देवता से अनेक प्रकार की प्रार्थनाएँ की गई हैं। सामवेद में उन स्तोत्रों का संग्रह है जो यज्ञों के समय गाये जाते थे। सब ऋचाएँ प्रायः गायत्री छंद में हैं। वैदिक गीतों में तत्कालीन जीवन और विचार सुरक्षित हैं। कुछ वैदिक गीत ऐसे हैं, विशेषतया वे जो उषः या इन्द्र की आराधना में गाये जाते थे, जिनमें तथ्य और अलौकिकता दोनों मिलते हैं। वैदिक गीतों में निरीक्षण, सहानुभूति, और विस्मय प्रधान हैं। धीरे-धीरे विस्मय की जगह मीमांसा ने ली, सहानुभूति की जगह अध्ययन ने ली, और निरीक्षण अधिक तीक्ष्ण और गहरा होता गया। लौकिक गीत सुन्दर अलंकारयुक्त भाषा में नायक की कृतियों का वर्णन करता है। इस वर्णन में अलौकिकता की मात्रा अधिक रहती है। पद पद पर कवि साधारण भावनाओं का प्रभाव

दिखाता है। सारगर्भित, भावोत्पादक संक्षिप्तता गीत की मुख्य विशेषता है। प्राकृतिक दृश्यों के चित्र खींचने से या ऐसी बातें लाने से जो लम्बा वर्णन चाहती हों, उसकी प्रायः अरुचि होती है।

साहित्यदर्पणकार के मतानुसार वह काव्य जिसमें सर्गों का निबंधन हो महाकाव्य कहाता है। इसमें एक देवता या सद्वंश क्षत्रिय—जिसमें धीरोदात्तत्वादि गुण हों—नायक होता है। कहीं एक वंश के सत्कुलीन अनेक भूप भी नायक होते हैं। शृंगार, वीर, और शांत में से कोई एक रस अंगी होता है। अन्य रस गौण होते हैं। सब नाटक-संधियाँ रहती हैं। कथा ऐतिहासिक या लोक में प्रसिद्ध सज्जनसम्बन्धिनी होती है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इस चतुर्वर्ग में से एक उसका फल होता है। आरम्भ में आशीर्वाद, नमस्कार या वर्ण्य वस्तु का निर्देश होता है। कहीं खलों की निन्दा और सज्जनों का गुणवर्णन होता है। इसमें न बहुत छोटे, न बहुत बड़े आठ से अधिक सर्ग होते हैं। उनमें प्रत्येक में एक ही छंद होता है। किन्तु सर्ग का अंतिम पद्य भिन्न छंद का होता है। कहीं कहीं सर्ग में अनेक छंद भी मिलते हैं। सर्ग के अन्त में अगली कथा की सूचना होनी चाहिये। इसमें संध्या, सूर्य, चंद्रमा, रात्रि, प्रदोष, अंधकार, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र, संभोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम, यात्रा, विवाह, मन्त्र, पुत्र, और अभ्युदय आदि का यथासम्भव साङ्गोपाङ्ग वर्णन होना चाहिये। इसका नाम कवि के नाम से (जैसे 'माघ') या चरित्र के नाम से (जैसे 'कुमारसम्भव') अथवा चरित्रनायक के नाम से (जैसे 'रघुवंश') होना चाहिये। कहीं इनके अतिरिक्त भी नाम होता है—जैसे 'भट्टि' सर्ग की वर्णनीय कथा से सर्ग का नाम रखना चाहिये।

गद्य काव्य में, कथा उपन्यास की तरह का लेख है जिसमें पूर्व पीठिका और उत्तर पीठिका होती हैं। पूर्व पीठिका में एक वक्ता बनाया जाता है और एक या अनेक श्रोता बनाए जाते हैं। श्रोता की ओर से ऐसा उत्साह दिखाया जाता है कि पढ़ने वाले भी उत्साहपूर्ण हो जाते हैं। सारी कहानी वक्ता ही कहता है। अन्त में वक्ता और श्रोता का उठ जाना आदि उत्तर दशा दिखाई जाती है। कथा में सरसता गद्य द्वारा ही लाई जाती है। शुरू में पद्यमय नमस्कार और खलादिकों का चरित दिया जाता है। कहीं कहीं कथा के विस्तार में आर्याछन्द और कहीं वक्त्र और अपवक्त्र छंद होते हैं। आख्यायिका के रूप के विषय में मत-भेद है। अग्निपुराण के अनुसार आख्यायिका में कर्त्ता की वंशप्रशंसा, कन्या-हरण, संग्राम, वियोग, आदि विपत्ति का विस्तारपूर्वक वर्णन होता है। रीति, आचरण, और स्वभाव खास तौर से दिखाये जाते हैं। गद्य सरल होता है और कहीं कहीं छन्द भी आ जाते हैं। इसमें परिच्छेद की जगह उच्छ्वास होता है। भामह के मतानुसार आख्यायिका में नायिका अपना वृत्तान्त आप कहती है। आगे के विषयों की सूचना पहले ही दी जाती है। कन्या के अपहरण, समागम,

और अभ्युदय का हाल होता है। मित्रादि के मुँह से चरित्र कहलाये जाते हैं। आख्यायिका में कहीं कहीं पद्य भी आ जाते हैं। साहित्यदर्पणकार का मत है कि आख्यायिका कथा के समय होती है। इसमें कविवंश वर्णन होता है और अन्य कवियों का वृत्तान्त भी दे दिया जाता है। इसमें कथा भागों का नाम आश्वास होता है। आर्या, वक्त्र, या अपवक्त्र छन्द के द्वारा अन्योक्ति से आश्वास के आरम्भ में अगली कथा की सूचना दी जाती है, जैसे 'हर्षचरित' में। आख्यान भी इसी के अन्तर्भूत है। आख्यान वह कथा है जिसे कवि ही कहे और पात्र न कहें। इसको कथा के किसी अंश से शुरू कर सकते हैं पर पीछे से पहला सब हाल खुल जाना चाहिये। इन पात्रों की बातचीत संक्षेप में होती है। क्योंकि आख्यान को कवि ही कहता है और कहते समय पहली वार्तों को भी स्पष्ट करता है। इस कारण से आख्यान में प्रायः भूतकालिक क्रिया का प्रयोग किया जाता है। वर्त्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग आलंकारिक रीति से हो जाता है।

किसी जाति के लिये यह बड़े गौरव की बात है कि उसमें नाटक का पूर्ण विकास हो। नाटक सर्वोत्तम कला है। नाटककार वास्तव में ब्रह्म का प्रतिरूप है। जैसे ब्रह्म सृष्टि में समाया हुआ है, उसी प्रकार नाटककार अपने अस्तित्व को अपनी सृष्टि से एक कर देता है और अपने पात्रों में समा जाता है। जितनी जल्दी और जितनी पूर्णता से आत्मविस्मृति नाटक द्वारा होती है उतनी किसी और दूसरे साधन द्वारा नहीं। संसार के बंधनों से मुक्ति पाने का और सर्वभूत को आत्मवत् देखने का यह निश्चित रूप से सफल साधन है। हिन्दू जाति में नाटक बड़ा प्राचीन है। भरत मुनि का नाट्यशास्त्र जो नाटक का लक्षण ग्रन्थ माना जाता है ईसा से कम से कम तीन-चार सौ वर्ष पहले का तो अवश्य है। इसके पढ़ने से मालूम होता है कि देश में पहले ही नाटक विकसित रूप में प्रचलित था और अन्य लक्षण ग्रंथ भी लिखे जा चुके थे। 'नाट्यशास्त्र' के आरम्भिक कथन से जान पड़ता है कि नाटक वेदों के निर्माण के बाद जल्दी ही आया। लोगों के व्यापक रूप से दुःखित होने के कारण एक समय इन्द्र और दूसरे देवताओं ने ब्रह्मा से प्रार्थना की कि आप मनुष्यों के मनोविनोद का कोई साधन उत्पन्न करें। इस पर ब्रह्मा ने चारों वेदों को बुलाया और उनकी सहायता से नाट्यशास्त्र रूपी पांचवें वेद की रचना की। इस नये वेद के लिये ऋग्वेद से संवाद लिया गया, सामवेद से गान लिया गया, यजुर्वेद से नाट्य लिया गया, और अथर्ववेद से रस लिया गया। इस कथन में नाट्यशास्त्र का वेद कहा जाना और उसका उद्गम वेदों से बताया जाना हिन्दू जाति में नाटक के सम्मान का द्योतक है।

नाटक के लिये संस्कृत की संज्ञा रूपक है। इसका कारण यह है कि नट में काव्य के पुरुषों का स्वरूप आरोपित किया जाता है। जो नट राम, कृष्ण, युधिष्ठिर, या दुष्यंत का रूप धारण करेगा, वह किसी विशेष अवस्था में वैसा ही व्यवहार करेगा जैसा राम, कृष्ण, युधिष्ठिर, या दुष्यंत उस अवस्था में करते।

अवस्था के अनुकरण को नाट्य या अभिनय कहते हैं। यह अनुकरण चार प्रकार से पूर्ण होता है—आंगिक, वाचिक, आहार्य, और सात्त्विक। इन चार प्रकार के अभिनय से सामाजिकों को वास्तविकता की प्रतीति दी जाती है, जो कि रूपक की सफलता की कसौटी है। यदि उस नट को जो दुष्यंत का पार्ट खेलता है सामाजिक स्वयं दुष्यंत न समझें तो रूपक असफल है। रूपक की सफलता की दूसरी कसौटी रस की निष्पत्ति है। यदि अभिनय द्वारा नायक के भावों के प्रदर्शन से सामाजिकों के हृदय में आनन्द का उद्रेक हो तो रूपक सफल है। रूपक की भारतीय धारणा में अभिनय पर अधिक जोर है, उसका प्रत्यक्ष निरूपण रंगमंच पर ही होता है। रूपक के रसास्वादन के लिये उसका खेला जाना आवश्यक है। एक आलोचक कहते हैं कि "जिसको देखने से ही विशेष प्रकार से रस की अनुभूति हो" वह दृश्य काव्य है। दूसरी जगह वही आलोचक लिखते हैं, "श्रव्य काव्य का आनन्द लेने में केवल श्रवणेंद्रिय सहायक होती है, परन्तु दृश्य काव्य में श्रवणेंद्रिय के अतिरिक्त चक्षुरिंद्रिय भी सहायता देती है। चक्षुरिंद्रिय का विषय रूप है, और दृश्यकाव्य के रसास्वादन में इन्द्रिय के विशेष सहायक होने के कारण ऐसे काव्यों को रूपक कहना सर्वथा उपयुक्त है।" परन्तु अभिनय शरीर की चक्षु के सामने भी हो सकता है और मन की चक्षु के सामने भी। इसमें शक नहीं कि नाटक की अंतर्प्रेरणा में रंगमंच अनिवार्यतः सम्मिलित है और नाटककार प्रायः नाटक रंगमंच के लिये ही लिखता है। परन्तु रंगमंच का तत्त्व नाटककार की अंतर्प्रेरणा में वैसे ही अचेतन रहता है जैसे निवेदन दूसरे काव्यों में अचेतन रहता है। नाटक दृश्य काव्य ही नहीं है वरन् श्रव्य काव्य भी है और पाठ्य काव्य भी है। नाटककार को नाटक के निर्माण में नट की रचनात्मक शक्ति पर भरोसा नहीं करना चाहिये। प्राचीन पाश्चात्य सिद्धांत यही था। नाटककार को सारा नाटकीय प्रभाव संघर्ष और पात्रों द्वारा पैदा करना चाहिये। कोई भले स्वभाव का बड़ा आदमी अपनी ऐसी गलती अथवा कमजोरी से जिसमें नैतिक दोष न हो सुख और गौरव कीर्ति की उच्च दशा से दुःख और अपकीर्ति की निम्न दशा को अनजाने प्राप्त हो। संघर्ष निकटसंबंधी वर्गों में हो। नायक का पतन हमें विधिविडंबना की चेतना दे और अन्त में हमें नाटक जीवन के गहन तत्त्व और मनुष्य के निष्फलीभूत होने का संस्कार हमारे मन पर छोड़े। ऐसे नाटक में पाठक अथवा दर्शक के दार्शनिक विचार को जागृति मिलती है, प्रेरणा आँख की अपेक्षा मन को अधिक है। भारतीय नाटक का नट के ऊपर ज्यादा जोर देने का कारण नाटक की विशिष्ट धारणा ज्ञात पड़ती है। भारतीय नाटक किसी भाव की व्याप्ति पर आधारित है। उसके प्रधान व अंगी रस शृंगार और वीर हैं। अन्य रस गौण रूप से आते हैं। जिस नाटक में शांति, करुणा आदि प्रधान हों वह नाटक नहीं कहलाया जा सकता। स्पष्ट है कि यहाँ का नाटक महाकाव्य से अधिक मिलता जुलता है और उसमें दृष्टिविपयात्मक तत्त्व

प्रधान है। साहित्य के रूप जीवन के रूपों के अनुसार होते हैं, और करुण नाटक जीवन के गहन और अगम्य तत्त्व को और मनुष्य की विवशता को सामने लाता है। जैसे, हास्य नाटक जीवनव्यापार में सामान्यक्रम की आवश्यकता सामने लाता है। शौर्य के प्रदर्शन के लिये महाकाव्य है, नाटक नहीं।

अभिनय होने से पहले सूत्रधार रंगशाला में प्रार्थना-गीत गाता है। फिर वह वार्त्तालाप में नाटक के नाम, कर्त्ता, और विषय आदि का परिचय देता है। नाटक के इतिवृत्त को वस्तु कहते हैं। वस्तु दो प्रकार की होती है—आधिकारिक वस्तु और प्रासंगिक वस्तु। इतिवृत्त के प्रधान नायक को अधिकारी कहते हैं। अधिकारी-संबंध कथा को आधिकारिक वस्तु कहते हैं और अधिकारी के लिये अथवा रसपुष्टि के लिये प्रसंगवश जो वर्णन आ जाता है उसे प्रासंगिक वस्तु कहते हैं; जैसे 'रामायण' में राम की कथा आधिकारिक वस्तु है और सुग्रीव की कथा प्रासंगिक वस्तु है।

मानव जीवन के प्रयोजन अर्थ, धर्म, और काम हैं। नाटक में जो उपाय इन प्रयोजनों की सिद्धि के लिये किये जाते हैं उन्हें अर्थ-प्रकृति कहते हैं। अर्थ-प्रकृति पाँच हैं; बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी, और कार्य्य। कथा का वह भाग जो फल-सिद्धि का प्रथम कारण हो बीज कहलाता है: जैसे 'वेणीसंहार' में भीम के क्रोध पर युधिष्ठिर का उत्साहपूर्ण वाक्य बीज है, क्योंकि यही वाक्य द्रौपदी के केश-मोचन का कारण हुआ। अवान्तर कथा के टूट जाने पर भी प्रधान कथा के लगा-तार होने का जो निमित्त है उसे बिन्दु कहते हैं; जैसे 'रत्नावली' में अनंगपूजा की समाप्ति पर सागरिका का कथन, "ऐं यही वह राजा उदयन है," कथा के अटूट रहने का हेतु बन कर बिन्दु है। जो प्रासंगिक वर्णन दूर तक चले वह पताका है, जैसे, 'रामायण' में सुग्रीव की कथा और 'शकुन्तला' में विदूषक की। जो कथावस्तु थोड़ी देर तक चलकर रुक जाती है, वह प्रकरी कहलाती है; जैसे 'शकुन्तला' के छठे अंक में दास और दासी की बातचीत। प्रधान साध्य, जिस के लिये सब उपायों का आरंभ किया गया है, जिसकी सिद्धि के लिये सब कुछ इकट्ठा किया गया है, उसे कार्य्य कहते हैं; जैसे, 'रामायण' में रावण का वध। फल की प्राप्ति के इच्छुक पुरुषों के द्वारा किये गये कार्य की पाँच अवस्थाएँ होती हैं, आरंभ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति, और फलागम। मुख्य फल की सिद्धि की उत्सुकता को आरम्भ कहते हैं; जैसे 'रत्नावली' में कुमारी रत्नावली को अंतःपुर में रखने के लिये यौगंधरायण की उत्कण्ठा फलप्राप्ति के लिये जल्दी से किये गये व्यापार को यत्न कहते हैं; जैसे, 'रत्नावली' में रत्नावली का चित्रलेखन उदयन से समागम का त्वरान्वित व्यापार हो जाता है। जहाँ प्राप्ति की आशा विफलता की आशंका से घिरी हो, किन्तु प्राप्ति की संभावना हो, वहाँ प्राप्त्याशा होती है; जैसे, 'रत्नावली' में वेश का परिवर्तन और निकट आना तो संगम के उपाय हैं पर वासवदत्तारूप अपाय की आशंका भी बनी रहती है, इसी लिये समागम की प्राप्ति अनिश्चित होने के कारण प्राप्त्याशा है। अपाय के दूर हो जाने पर जिस अवस्था में फल की प्राप्ति निश्चित हो जाती है उसे नियताप्ति

अवस्था के अनुकरण को नाट्य या अभिनय कहते हैं। यह अनुकरण चार प्रकार से पूर्ण होता है—आंगिक, वाचिक, आहार्य, और सात्त्विक। इन चार प्रकार के अभिनय से सामाजिकों को वास्तविकता की प्रतीति दी जाती है, जो कि रूपक की सफलता की कसौटी है। यदि उस नट को जो दुष्यंत का पार्ट खेलता है सामाजिक स्वयं दुष्यंत न समझें तो रूपक असफल है। रूपक की सफलता की दूसरी कसौटी रस की निष्पत्ति है। यदि अभिनय द्वारा नायक के भावों के प्रदर्शन से सामाजिकों के हृदय में आनन्द का उद्रेक हो तो रूपक सफल है। रूपक की भारतीय धारणा में अभिनय पर अधिक जोर है, उसका प्रत्यक्ष निरूपण रंगमंच पर ही होता है। रूपक के रसास्वादन के लिये उसका खेला जाना आवश्यक है। एक आलोचक कहते हैं कि "जिसको देखने से ही विशेष प्रकार से रस की अनुभूति हो" वह दृश्य काव्य है। दूसरी जगह वही आलोचक लिखते हैं, "श्रव्य काव्य का आनन्द लेने में केवल श्रवणेंद्रिय सहायक होती है, परन्तु दृश्य काव्य में श्रवणेंद्रिय के अतिरिक्त चक्षुरिंद्रिय भी सहायता देती है। चक्षुरिंद्रिय का विषय रूप है, और दृश्यकाव्य के रसास्वादन में इन्द्रिय के विशेष सहायक होने के कारण ऐसे काव्यों को रूपक कहना सर्वथा उपयुक्त है।" परन्तु अभिनय शरीर की चक्षु के सामने भी हो सकता है और मन की चक्षु के सामने भी। इसमें शक नहीं कि नाटक की अंतर्प्रेरणा में रंगमंच अनिवार्यतः सम्मिलित है और नाटककार प्रायः नाटक रंगमंच के लिये ही लिखता है। परन्तु रंगमंच का तत्त्व नाटककार की अंतर्प्रेरणा में वैसे ही अचेतन रहता है जैसे निवेदन दूसरे काव्यों में अचेतन रहता है। नाटक दृश्य काव्य ही नहीं है वरन् श्रव्य काव्य भी है और पाठ्य काव्य भी है। नाटककार को नाटक के निर्माण में नट की रचनात्मक शक्ति पर भरोसा नहीं करना चाहिये। प्राचीन पाश्चात्य सिद्धांत यही था। नाटककार को सारा नाटकीय प्रभाव संघर्ष और पात्रों द्वारा पैदा करना चाहिये। कोई भले स्वभाव का बड़ा आदमी अपनी ऐसी गलती अथवा कमजोरी से जिसमें नैतिक दोष न हो सुख और गौरव कीर्ति की उच्च दशा से दुःख और अपकीर्ति की निम्न दशा को अनजाने प्राप्त हो। संघर्ष निकटसंबंधी वर्गों में हो। नायक का पतन हमें विधिविडंबना की चेतना दे और अन्त में हमें नाटक जीवन के गहन तत्त्व और मनुष्य के निष्फलीभूत होने का संस्कार हमारे मन पर छोड़े। ऐसे नाटक में पाठक अथवा दर्शक के दार्शनिक विचार को जागृति मिलती है, प्रेरणा आँख की अपेक्षा मन को अधिक है। भारतीय नाटक का नट के ऊपर ज्यादा ज़ोर देने का कारण नाटक की विशिष्ट धारणा ज्ञात पड़ती है। भारतीय नाटक [illegible] की भित्ति पर आधारित है। उसके प्रधान व अंगी रस शृंगार और वीर हैं, और रस गौण रूप से आते हैं। जिस नाटक में शांति, करुणा आदि प्रधान हों वह नाटक नहीं कहलाया जा सकता। स्पष्ट है कि यहाँ का नाटक [illegible] में अधिक लिपटा हुआ है और उसमें दृष्टिविषयात्मक तत्त्व

प्रधान है। साहित्य के रूप जीवन के रूपों के अनुसार होते हैं, और करुण नाटक जीवन के गहन और अगम्य तत्त्व को और मनुष्य की विवशता को सामने लाता है। जैसे, हास्य नाटक जीवनव्यापार में सामान्यक्रम की आवश्यकता सामने लाता है। शौर्य के प्रदर्शन के लिये महाकाव्य है, नाटक नहीं।

अभिनय होने से पहले सूत्रधार रंगशाला में प्रार्थना-गीत गाता है। फिर वह वार्त्तालाप में नाटक के नाम, कर्त्ता, और विषय आदि का परिचय देता है। नाटक के इतिवृत्त को वस्तु कहते हैं। वस्तु दो प्रकार की होती है—आधिकारिक वस्तु और प्रासंगिक वस्तु। इतिवृत्त के प्रधान नायक को अधिकारी कहते हैं। अधिकारी-संबंध कथा को आधिकारिक वस्तु कहते हैं और अधिकारी के लिये अथवा रसपुष्टि के लिये प्रसंगवश जो वर्णन आ जाता है उसे प्रासंगिक वस्तु कहते हैं; जैसे 'रामायण' में राम की कथा आधिकारिक वस्तु है और सुग्रीव की कथा प्रासंगिक वस्तु है।

मानव जीवन के प्रयोजन अर्थ, धर्म, और काम हैं। नाटक में जो उपाय इन प्रयोजनों की सिद्धि के लिये किये जाते हैं उन्हें अर्थ-प्रकृति कहते हैं। अर्थ-प्रकृति पाँच हैं; बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी, और कार्य्य। कथा का वह भाग जो फल-सिद्धि का प्रथम कारण हो बीज कहलाता है: जैसे 'वेणीसंहार' में भीम के क्रोध पर युधिष्ठिर का उत्साहपूर्ण वाक्य बीज है, क्योंकि यही वाक्य द्रौपदी के केश-मोचन का कारण हुआ। अवान्तर कथा के टूट जाने पर भी प्रधान कथा के लगातार होने का जो निमित्त है उसे बिन्दु कहते हैं; जैसे 'रत्नावली' में अनंगपूजा की समाप्ति पर सागरिका का कथन, "ऐं यही वह राजा उदयन है," कथा के अटूट रहने का हेतु बन कर बिन्दु है। जो प्रासंगिक वर्णन दूर तक चले वह पताका है, जैसे, 'रामायण' में सुग्रीव की कथा और 'शकुन्तला' में विदूषक की। जो कथावस्तु थोड़ी देर तक चलकर रुक जाती है, वह प्रकरी कहलाती है; जैसे 'शकुन्तला' के छठे अंक में दास और दासी की बातचीत। प्रधान साध्य, जिसके लिये सब उपायों का आरंभ किया गया है, जिसकी सिद्धि के लिये सब कुछ इकट्ठा किया गया है, उसे कार्य्य कहते हैं; जैसे, 'रामायण' में रावण का वध। फल की प्राप्ति के इच्छुक पुरुषों के द्वारा किये गये कार्य की पाँच अवस्थाएँ होती हैं, आरंभ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति, और फलागम। मुख्य फल की सिद्धि की उत्सुकता को आरम्भ कहते हैं; जैसे 'रत्नावली' में कुमारी रत्नावली को अंत:पुर में रखने के लिये यौगंधरायण की उत्कण्ठा फलप्राप्ति के लिये जल्दी से किये गये व्यापार को यत्न कहते हैं; जैसे, 'रत्नावली' में रत्नावली का चित्रलेखन उदयन से समागम का त्वरान्वित व्यापार हो जाता है। जहाँ प्राप्ति की आशा विफलता की आशंका से घिरी हो, किन्तु प्राप्ति की संभावना हो, वहाँ प्राप्त्याशा होती है; जैसे, 'रत्नावली' में वेश का परिवर्तन और निकट आना तो संगम के उपाय हैं पर वासवदत्तारूप अपाय की आशंका भी बनी रहती है, इसी लिये समागम की प्राप्ति अनिश्चित होने के कारण प्राप्त्याशा है। अपाय के दूर हो जाने पर जिस अवस्था में फल की प्राप्ति निश्चित हो जाती है उसे नियताप्ति

कहते हैं; जैसे 'रत्नावली' में उदयन का यह प्रत्यक्षीकरण कि बिना वासवदत्ता को प्रसन्न किये वह सफलमनोरथ नहीं हो सकता, नियताप्ति है। जिस अवस्था में सम्पूर्ण फल की प्राप्ति हो जाय, उसे फलागम कहते हैं; जैसे, 'रत्नावली' में चक्रवर्तित्व के साथ रत्नावली की प्राप्ति। अवस्थाओं का ख़याल रखते हुए कथानक का निर्माण बीच में कुछ मोड़ खाये हुए पेड़ के रूप में होना चाहिये। प्राप्त्याशा जितनी मध्य में हो उतनी अच्छी; और पहले अंश में आरंभ और यत्न, और दूसरे अंश में नियताप्ति और फलागम बराबर विस्तार पायें। अवस्थाएँ तो शास्त्रीय मत के अनुसार कार्य की भिन्न-भिन्न स्थितियों को चिह्नित करती हैं, अर्थ-प्रकृतियाँ कथावस्तु के तत्त्वों को बताती हैं और नाटक-रचना के विभागों का निदर्शन करने के लिये संधियाँ हैं। प्रधान प्रयोजन के साधक कथांशों का किसी एक मध्यवर्त्ती प्रयोजन के साथ होने वाले सम्बन्ध को संधि कहते हैं। संधियाँ पाँच हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण। जहाँ बीज अर्थ-प्रकृति का आरम्भ दशा से संयोग होकर अनेक अर्थों और अनेक रसों की व्यञ्जना हो, वहाँ मुख संधि है; जैसे, 'रत्नावली' में नाटक के आरम्भ से दूसरे अंक के उस स्थान तक जहाँ रत्नावली राजा का चित्र अंकित करती है। मुख संधि में आविर्भूत बीज का जहाँ कुछ लक्ष्य और कुछ अलक्ष्य रीति से विकास हो, वहाँ प्रतिमुख संधि होती है; जैसे 'रत्नावली' में प्रथम अंक में सूचित किया हुआ प्रेम दूसरे अंक में वत्सराज और सागरिका के समागम के हेतु होकर सुसंगता और विदूषक को ज्ञात होगया—यहाँ वह प्रेम लक्ष्य हुआ, और वासवदत्ता ने चित्र के वर्णन से उसका कुछ अनुमान किया—यहाँ वह प्रेम अलक्ष्य सा हुआ। प्रतिमुख संधि में प्रयत्न अवस्था और बिन्दु अर्थ-प्रकृति का संयोग होता है; 'रत्नावली' के सागरिका के चित्र लेखन से दूसरे अंक के अन्त तक जहाँ वासवदत्ता राजा को सागरिका का चित्र देखते हुए पकड़ती है, प्रतिमुख संधि है। पहली संधियों में दिखाये हुये फलप्रधान के उपाय का जहाँ कुछ ह्रास हो और अन्वेषण से युक्त बार बार विकास हो, वहाँ गर्भ संधि है। इस संधि में प्राप्त्याशा अवस्था और पताका अर्थ प्रकृति का संयोग होता है; 'रत्नावली' के तीसरे अंक की कथा इस संधि का उदाहरण है। जहाँ प्रधान फल का उपाय गर्भ संधि की अपेक्षा अधिक विकसित हो, किन्तु शाप, क्रोध, विपत्ति, या विलोभन के कारण विघ्नयुक्त हो, वहाँ विमर्श संधि होती है। इस संधि में नियताप्ति अवस्था और प्रकरी अर्थ-प्रकृति होती है, गोकि प्रकरी वैकल्पिक होती है अर्थात् हो भी और न भी हो। 'रत्नावली' में चौथे अंक तक जहाँ चारों ओर आग भड़क उठने के कारण गड़बड़ मच जाती है विमर्श संधि है। जहाँ पहली चारों संधियों में बिखरे हुये अर्थों का प्रधान प्रयोजन की सिद्धि के लिये ठीक-ठीक समन्वय साबित किया जाय और प्रधान फल की प्राप्ति भी हो जाय, वहाँ निर्वहण संधि होती है। इस संधि में फलागम अवस्था और कार्य अर्थ-प्रकृति का संयोग होता है। 'रत्नावली' में विमर्श संधि के अंत से लेकर चौथे अङ्क की समाप्ति तक यही संधि है। प्रत्येक संधि के कई कई अंग माने गये हैं और संधियों के अंतर्गत

उपसंधियाँ और अन्तर्संधियाँ भी मानी गई हैं। ऐसे सूक्ष्म भागों और उपभागों के निर्देश से प्रतिभा के स्वतंत्र व्यापार का प्राचीन नाट्यशास्त्रियों ने अवरोध कर रखा है। आजकल के नाटकों में इन नियमों का पालन या विषयों का समावेश आवश्यक नहीं समझा जाता। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र लिखते हैं: संस्कृत नाटक की भाँति हिन्दी नाटक में इन का अनुसंधान करना या किसी नाटकांग में इन को यत्नपूर्वक रखकर नाटक लिखना व्यर्थ है, क्योंकि प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटकादि की शोभा संपादन करने से उल्टा फल होता है और यत्न व्यर्थ हो जाता है।" असली कारण दो हैं जिनसे शास्त्रीय नाटक का अनुकरण व्यर्थ है। पहला तो यह है कि वह जीवन की दशा जिसे प्राचीन नाटक व्यक्त करता है अब बदल गई है, और साहित्य जीवन को प्रतिबिम्बित करता है। दूसरा कारण पाश्चात्य नाटक का प्रभाव है।

वंशानुसार नायक तीन तरह का होता है—दिव्य, अदिव्य, और दिव्यादिव्य अथवा अवतार। स्वभावानुसार नायक चार प्रकार का होता है; शांत, ललित, उदात्त, और उद्धत। चारों प्रकार के नायक में धीरता का गुण आवश्यक है, अधीरता स्त्री स्वभाव का लक्षण है। धनंजय के अनुसार नायक को विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियवद, शुचि, रक्तलोक, वाङ्मी, रूढ़वंश, स्थिर, युवा, बुद्धिमान, प्रज्ञावान्, स्मृतिसंपन्न, उत्साही, कलावान्, शास्त्रचक्षु, आत्मसम्मानी, शूर, दृढ़, तेजस्वी, और धार्मिक होना चहिये। नायक की प्रिया नायिका कहलाती है। उसमें नायक के गुण होने चाहिये। नायिका तीन प्रकार की मानी गई है, स्वकीया, परकीया, और सामान्या। स्वकीया पतिव्रता, चरित्रवती, और लज्जावती होती है। परकीया विवाहिता और कुमारी दो तरह की होती है। प्रधान रस में विवाहिता का वर्णन नहीं होना चाहिये। सामान्य को गणिका भी कहते हैं। उसका प्रेम झूठा होता है और गोकि वह कलाओं में निपुण होती है स्वभाव की धूर्त्ता होती है। सच्चे प्रेम के प्रदर्शन के लिये ही गणिका रूपकों में आनी चाहिये।

नाटक के कुछ और लक्षण ये हैं। नाटक का वृत्त इतिहाससिद्ध होना चाहिये, कल्पित नहीं। यहाँ पाश्चात्य मत भिन्न है। केवल भाव अथवा मुख्य विचार सच्चा होना चाहिये। उसे नाटक में विकसित करने के लिये घटना और पात्र कल्पित हो सकते हैं। यदि वृत्त ऐतिहासिक हो तो इतिहास को भी परिवर्तित किया जा सकता है। नाटक में विलास, समृद्धि आदि गुण और तरह-तरह के ऐश्वर्य का वर्णन होना चाहिये। सुख और दुःख की उत्पत्ति दिखाई जाय। कुछ बातों को केवल सूचना दी जाय। उन्हें रंग-मंच पर न दिखाया जाय; जैसे, दूर से बुलाना, वध, युद्ध, राज्यविप्लव, विवाह, भोजन, शाप, मलत्याग, मृत्यु, रमण, दंतक्षत, नखक्षत, शयन, नगरादि का घिराव, स्नान, चन्दनादि का लेपन, और लज्जाकारी कार्य। नाटक का प्रधान खण्ड अंक कहलाता है। नाटक में पाँच से लेकर दस अंक तक हो सकते हैं। अंक में एक दिन से अधिक दिनों की घटनाएँ नहीं होना चाहिये।

प्रत्येक अंक में शृंगार या वीर रस में कोई एक प्रधान रहना चाहिये और दूसरे रस गौण रह सकते हैं। अद्भुत रस अंक के अन्त में आना चाहिये। अंक इतना रसपूर्ण न हो कि व्यापार गति का बाधक हो जाय। दो अंकों के बीच में एक वर्ष तक का समय आ सकता है। रूपक के दो भेद दिये हैं; रूपक या नाटक और उपरूपक। रूपक दस हैं; नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, इहामृग, अंक, वीथी, और प्रहसन। उपरूपक अठारह माने गये हैं; नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थान, उल्लाप्य, काव्य, प्रेखण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लीश और भाणिका। रूपकों के भेद वस्तु, नायक, और रस के आधार पर किये गये हैं और यही तीनों रूपक के तत्त्व माने जाते हैं।

यह प्राच्य शास्त्रीयता है। साहित्य के रूपों के नियम निश्चित थे। साहित्यकार उन्हें मानते थे और साहित्यशास्त्री उन्हीं के अनुसार साहित्य-समीक्षा करते थे। महाकाव्यों की कथाएँ वाल्मीकीय 'रामायण', 'महाभारत', पुराण' और 'कथासरितसागर' से आती थीं। महाकाव्य काव्य के लेखकों ने प्रायः 'रामायण' का अनुकरण किया है। अश्वघोष, कालिदास, भारवि, माघ, हर्ष, विल्हण, और परिमल कालिदास सब ने महाकाव्य के नियमों का पालन किया है। नाटक भी शास्त्रीय नियमों का पालन करते रहे; जैसे, 'शकुन्तला', 'मृच्छकटिक', 'अनर्घराघव', 'मुद्राराक्षस', 'वेणीसंहार', 'नागानन्द', 'प्रसन्नराघव', 'प्रबोधचन्द्रोदय', और 'अमृतोदय',। जब तब लेखक नियमों का उल्लंघन भी करते रहे। क्षेमेन्द्र 'औचित्यविचारचरचा' में भवभूति की उपेक्षा करता है कि उसने अपने नायक राम की कमजोरियों का अपने ग्रन्थ में वर्णन किया। भवभूति ने कड़ी आलोचनाओं से दुःखित होकर कहा था "समय का अन्त नहीं और पृथ्वी भी बड़ी है। किसी न किसी समय और कहीं न कहीं मुझ जैसा उत्पन्न होगा जो मेरी कृति को समझेगा और उसका गुण गावेगा; मुझ जैसा ही आनन्द उठावेगा।" भवभूति की यह भविष्य वाणी अब ठीक पड़ रही है। उसके नाटकों का जो आज आदर है वह पहले नहीं था। और भी नाटककारों ने नियमों को तोड़ा; जैसे भास ने रंगमंच पर मृत्यु दिखाई और राजशेखर ने विवाह कृत्य दिखाया। जैसा हम पाश्चात्य शास्त्रीयता के विषय में ऊपर कह चुके हैं वैसा ही यहाँ भी कहा जा सकता है। शास्त्रीय आलोचक ये बातें भूल जाता है। पहले साहित्य एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें परिवर्तन और विभिन्नता की कोई हद नहीं। दूसरे आलोचना साहित्यिक उत्पादन के पीछे पीछे रहती है। जिस साहित्य के आधार पर शास्त्रीय नियम निर्धारित हुए थे उससे भिन्न शैली का साहित्य पीछे से आया। शास्त्रीय नियमों को लागू करने का अर्थ यह हो सकता है कि पीछे का साहित्य आगे के साहित्य को निर्धारित करे। साहित्य वृद्धि की चीज है। वृद्धि से मतलब वैज्ञानिक विकास का नहीं है, कि आजकल का साहित्य पुराने साहित्य से बढ़ा चढ़ा और ज्यादा सम्पूर्ण है। साहित्य में इस प्रकार विकास